प्रिय अभ्यर्थियों,

भारतीय संस्कृति का अध्ययन अत्यधिक रूचिकर हो सकता है, परन्तु इसके अध्ययन का तरीका उचित होना चाहिए। अभ्यर्थियों के द्वारा किया गया एक बहुत सामान्य प्रश्न है कि संस्कृति के अध्ययन के लिए किस एक पुस्तक को आधार बनाया जाए। परन्तु इस प्रकार की कोई एक पुस्तक बताए जाने पर अभ्यर्थियों को दो प्रकार की समस्याओं का सामना करना होगा। प्रथम, इस प्रकार की कोई पुस्तक, जो मुख्य परीक्षा एवं प्रारम्भिक परीक्षा में संस्कृति के दायरे में आने वाले प्रश्नों को समेट सके, उपलब्ध नहीं है। दूसरे, संबंधित पुस्तक के सहारे अभ्यर्थी साहित्य, स्थापत्य कला, मूर्ति कला, चित्र कला आदि पर प्रचुरता से तथ्यों का संकलन करना शुरू कर देंगे और चूंकि वे उन तथ्यों के बीच तारतम्यता नहीं स्थापित कर सकेंगे इसलिए जितनी शीघ्रता से वे तथ्य उनके स्मरण कोश में आएंगे उससे भी अधिक शीघ्रता से बाहर निकल जाएंगे। लगभग एक से दो सप्ताह तक यह बौद्धिक हठयोग चलता रहेगा, फिर वह पुस्तक बुक-सेल्फ के किसी भाग में सज जाएगी।

तैयारी की गंभीरता को समझने के लिए अभ्यर्थियों से मेरा एक सुझाव है कि वे तैयारी शुरू करने से पूर्व 2013 से 2023 तक के ग्यारह वर्षों के प्रारम्भिक परीक्षा एवं मुख्य परीक्षा दोनों प्रश्न पत्रों का अध्ययन अवश्य करें, फिर उन्हें प्रश्नों के दायरों का ज्ञान होगा। मुख्य परीक्षा के प्रश्नों की परिधि बहुत ही व्यापक है। प्रश्नों का विस्तार 'तांडव नृत्य' एवं 'चोल कला' से लेकर 'संगम साहित्य' तथा 'हड़प्पाई नगरीय संरचना', 'मध्यपाषाणकालीन कला' तथा 'भारत की सांस्कृतिक विविधता' तक रहा है। कुछ प्रश्नों का स्वरूप तो इतना जटिल एवं स्तरीय रहा है जहाँ पुस्तकीय ज्ञान अपर्याप्त रह जाता है, उदाहरण के लिए -

1. सांस्कृतिक विविधता के चार कारकों को निर्देशित कीजिए तथा राष्ट्र-निर्माण में उनके योगदान को दर्शाइए।
2. विशिष्ट भौगोलिक स्थिति के बाद भी तक्षशिला एक विश्वविद्यालय का दर्जा नहीं प्राप्त कर सका, जबकि नालंदा एक विश्वविद्यालय था। परीक्षण कीजिए।
3. मध्यपाषाणकालीन चित्रकला के सौंदर्य बोध को स्पष्ट कीजिए तथा आधुनिक मानव के सौंदर्य बोध से उसकी तुलना कीजिए।
4. बौद्ध स्तूप-कला, लोक-वर्ण्य विषयों एवं कथानकों को सफलतापूर्वक बौद्ध आदर्श में परिवर्तित करती है। विशदीकरण कीजिए।
5. धर्म-निरपेक्षता के नाम पर हमारी प्रथाओं के सामने क्या-क्या चुनौतियाँ हैं?
6. क्या हमारे राष्ट्र में सर्वत्र लघु भारत के सांस्कृतिक क्षेत्र हैं? उदाहरणों के साथ सविस्तार स्पष्ट कीजिए।

उपर्युक्त प्रश्नों का उत्तर बहुत ही विकसित दृष्टि की अपेक्षा रखता है। प्रथम प्रश्न में प्राचीन काल तथा मध्यकाल में सांस्कृतिक विविधता के चार कारकों को दर्शाते हुए यह बताना आवश्यक है कि कैसे वह विविधता में एकता के भाव को स्थापित करता है। उसी प्रकार, आगे के सभी प्रश्न उत्तर-लेखन में समग्र दृष्टिकोण की अपेक्षा रखते हैं।

प्रारम्भिक परीक्षा के प्रश्नों का दायरा तो और भी विस्तृत है। कुछ उदाहरणों के माध्यम से इस तथ्य को स्पष्ट किया जा सकता है-

1. भारत के धार्मिक इतिहास के संदर्भ में निम्नलिखित कथनों पर विचार कीजिए-
   1. बोधिसत्व हीनयान बौद्ध संप्रदाय की केन्द्रीय संकल्पना है।
   2. बोधिसत्व अपने प्रबोध के मार्ग पर बढ़ता हुआ करूणामय माना गया है।
   3. बोधिसत्व समस्त सचेतन प्राणियों को प्रबोध के मार्ग पर चलने में सहायता करने के लिए स्वयं की निर्वाण प्राप्ति विलम्बित करता है।

   उपर्युक्त कथनों में से कौन सा/से सही है/हैं?

   (a) केवल 1 (b) 2 और 3
   (c) केवल 2 (d) 1, 2 और 3
2. मध्यकालीन भारत के सांस्कृतिक इतिहास के संदर्भ में निम्नलिखित कथनों पर विचार कीजिए-
   1. तमिल क्षेत्र के सिद्ध (सित्तर) एकेश्वरवादी थे तथा मूर्ति पूजा की निंदा करते थे।
   2. कन्नड़ क्षेत्र के लिंगायत पुनर्जन्म के सिद्धांत पर प्रश्न चिह्न लगाते थे तथा जाति अधिक्रम को अस्वीकार करते थे।

   उपर्युक्त कथनों में से कौन सा/से सही है/हैं?

   (a) केवल 1 (b) केवल 2
   (c) 1 और 2 (d) न तो 1, न ही 2
3. कलमकारी चित्रकला निर्दिष्ट करती है-

   (a) दक्षिण भारत में सूती वस्त्र पर हाथ से की गई चित्रकारी।

(b) पूर्वी भारत में बाँस के हस्तशिल्प पर हाथ से किया गया चित्रांकन।

(c) भारत के पश्चिमी हिमालय क्षेत्र में ऊनी वस्त्र पर ठप्पे (ब्लॉक) से की गई चित्रकारी।

(d) पश्चिम भारत में सजावटी रेशम वस्त्र पर हाथ से की गई चित्रकारी।

4. भारत के सम्प्रतीक के नीचे उत्कीर्ण भारत की राष्ट्रीय आदर्शोक्ति 'सत्यमेव जयते' कहाँ से ली गई है?

(a) कठोपनिषद्

(b) छान्दोग्य उपनिषद्

(c) ऐतरेय उपनिषद्

(d) मुंडकोपनिषद्

उपर्युक्त प्रश्नों के अतिरिक्त साहित्य, संवत, जातीय तथा जनजातीय समूह से संबंधित भी प्रश्न होते हैं। प्रश्नों की विविधता तथा टॉपिक की व्यापकता को देखते हुए मात्र अक्षर ज्ञान ही पर्याप्त नहीं है, बल्कि 'संस्कृति' को विचार श्रृंखला का हिस्सा बनाना होगा। यह काम कठिन नहीं है, केवल इसके लिए वास्तविक युक्ति लगाने की जरूरत होगी। यह युक्ति सामान्य अध्ययन के अन्य खंडों पर भी लागू होगी। सामान्य अध्ययन के चार पत्रों में अभ्यर्थियों को लगभग 13 विषय खंडों (अगर हम समसामायिक मुद्दों को भी शामिल करते हैं) का अध्ययन करना पड़ता है। इतने बड़े बौद्धिक अधिभार को उसे अकेले वहन करना होता है - वह भी ऐसी स्थिति में जबकि उसे विश्वविद्यालयी शिक्षा पद्धति में उस प्रकार का बौद्धिक प्रशिक्षण नहीं मिला है। इसलिए उसे अध्ययन की व्यावहारिक युक्ति अपनानी आवश्यक है। इस युक्ति के तहत दो बातों पर बल देने की जरूरत है। प्रथम, प्रत्येक टॉपिक का अध्ययन दूसरे टॉपिक के अध्ययन को सहज बना दे तथा संपूर्ण विषय खंड के ज्ञान में अभिवृद्धि करे। दूसरे, एक विषय खंड को अध्ययन के क्रम में दूसरे विषय खंड से तारतम्यता स्थापित करने का प्रयास करे। इससे विषय-वस्तु में दिलचस्पी बढ़ेगी तथा तथ्यों को स्मरण रखना भी आसान हो जाएगा। हम अध्ययन की इस युक्ति का प्रयोग 'संस्कृति एवं विरासत' के अध्ययन से आरंभ करते हैं। अभ्यर्थी इसका प्रयोग अन्य विषय खंडों के अध्ययन में भी कर सकते हैं। संस्कृति एवं विरासत पर एक समग्र दृष्टिकोण विकसित करने के लिए निम्नलिखित पहलुओं का ज्ञान आवश्यक है-

1. **संस्कृति एवं विरासत का अर्थ-अन्वेषण करना** - इसके लिए संस्कृति एवं सभ्यता तथा संस्कृति एवं धर्म के संबंधों को समझना आवश्यक है। साथ ही यह भी जानना आवश्यक है कि संस्कृति में कौन-कौन से तत्व शामिल होंगे।
2. **संस्कृति एवं विरासत की व्यापक समझ को विकसित करने के लिए अध्ययन की विधि** - प्राचीन काल से आधुनिक काल के बीच संस्कृति के विभिन्न पहलुओं; यथा- धर्म, साहित्य, कला में परिवर्तनों को रेखांकित करना फिर हमें यह ज्ञात होगा कि भारतीय संस्कृति किस प्रकार विविधता में एकता का उदाहरण है।
3. **संस्कृति के अध्ययन; यथा- साहित्य एवं कला के अध्ययन का महत्व जानना** - यह जानना बहुत आवश्यक है, तभी संस्कृति की वास्तविक समझ विकसित होगी।
4. **संस्कृति के अध्ययन में अंतर्अनुशासनात्मक दृष्टिकोण के महत्व को समझना** - इसके तहत विदेश नीति, अर्थव्यवस्था, संविधान एवं राष्ट्र निर्माण पर इसके प्रभाव का आकलन करने की जरूरत है।

■ **संस्कृति एवं विरासत से तात्पर्यः-**

'संस्कृति एवं विरासत' खंड का अध्ययन, टॉपिक की मौलिक समझ के साथ आरंभ होना चाहिए। सामान्यतः 'संस्कृति' शब्द का प्रयोग दो अर्थों में होता है। परंपरागत अर्थ में संस्कृति से तात्पर्य है कलात्मक सृजन एवं बौद्धिक उपलब्धियाँ। इस अर्थ में संस्कृति किसी समुदाय के साहित्य, स्थापत्य कला, शास्त्रीय संगीत, शास्त्रीय नृत्य एवं चित्रकला के रूप में व्यक्त होती है। इस अर्थ में संस्कृति एवं विरासत दोनों एक-दूसरे के निकट हैं। दूसरे अर्थ में 'संस्कृति' शब्द का प्रयोग मानवशास्त्री करते हैं। मानवशास्त्री संस्कृति का अर्थ जनसामान्य की सोच, उनके रीति-रिवाज, उनकी मानसिकता तथा उनकी परंपरा के अध्ययन से लगाते हैं।

वस्तुतः मानवशास्त्रियों का ध्यान उच्च संस्कृति पर नहीं होता, अपितु वे उन लोगों की मानसिकता के अध्ययन पर, जो समाज के हाशिए पर होते हैं, बल देते हैं। वर्तमान में 'संस्कृति' शब्द को बहुचर्चित बनाने में मानवशास्त्रियों की बड़ी भूमिका है। मानवशास्त्रियों के प्रभाव में ही अध्ययन की एक पृथक शाखा 'कल्चरल स्टडीज' का विकास हुआ है। 'कल्चरल स्टडीज' का बल उन लोगों की मानसिकता के अध्ययन पर है जो समाज के हाशिए पर हैं। कल्चरल स्टडीज ने सामाजिक विज्ञान की प्रत्येक शाखा को प्रभावित किया है; यथा- इतिहास, भूगोल, राजनीति शास्त्र, अन्तर्राष्ट्रीय संबंध आदि।

जहाँ तक सिविल सेवा परीक्षा का सवाल है तो इसके पाठ्यक्रम में संस्कृति की परिधि में दोनों शामिल हो जाते हैं आभिजात्य संस्कृति तथा जनसामान्य से संबंधित संस्कृति। 'तांडव नृत्य', 'नालंदा एवं तक्षशिला विश्वविद्यालय', 'कृष्णदेव राय के काल की साहित्यिक उपलब्धियाँ' - ये सभी समाज

की आभिजात्य संस्कृति की ओर संकेत करते हैं, वहीं दूसरी तरफ 'मध्यपाषाण चित्रकला' जनसामान्य संस्कृति से संबद्ध है। अभ्यर्थी को यह ज्ञात हो कि बढ़ते हुए प्रजातंत्र के युग में अन्य मानविकी विषयों की तरह संस्कृति का भी जनवादीकरण हुआ। स्वाभाविक रूप में 'क्लासिकल' की जगह 'लोक' का महत्व बढ़ने लगा। यथा- लोक संगीत, लोक नृत्य, टेराकोटा फिगर्स आदि।

■ **संस्कृति एवं सभ्यता में क्या संबध है?**

सभ्यता एवं संस्कृति के बीच के संबंध को निर्धारित करना अपने आप में एक जटिल प्रश्न है क्योंकि इन दोनों को कई रूपों में परिभाषित किया जाता रहा है। प्रथम, प्राचीन समुदाय के परिप्रेक्ष्य में संस्कृति का अर्थ है एक प्रकार की जीवन शैली जो एक विशिष्ट क्षेत्र में प्रचलित रही थी, किन्तु जब यह जीवन शैली एक विस्तृत क्षेत्र में फैल गई तथा एक मानदंड के रूप स्थापित हो गई, तो उसे 'सभ्यता' कहा गया। उदाहरण के लिए, हड़प्पा सभ्यता से पूर्व कई क्षेत्रीय संस्कृतियाँ कायम थीं। उनमें से किसी एक ने अपने क्षेत्र से आगे बढ़कर एक बड़े क्षेत्र में मानक जीवन शैली का निर्माण कर दिया, तो फिर वह सभ्यता कही जाने लगी। दूसरे अर्थ में सभ्यता को संस्कृति की उच्चतम स्थिति माना जाता है। कुछ विद्वान प्राचीन सभ्यता के विकास को नगरीकरण एवं लेखन कला के ज्ञान से भी जोड़ने का प्रयास करते हैं। इस अर्थ में सभ्यता उच्च श्रेणी के भौतिक जीवन का प्रतीक बन जाती है, किन्तु जैसाकि आबिद हुसैन मानते हैं कि उच्च स्तर के भौतिक जीवन में संस्कृति का अंश तभी आता है, जब वह भौतिक जीवन, भौतिक सुख के साथ उच्च नैतिक मूल्यों को प्राप्त करने का साधन बने। किन्तु जब ऐसा जीवन नैतिक मूल्यों में कुछ को तिलांजलि देता है, तब फिर वह संस्कृति का विरोधी बन जाता है।

फिर एक अन्य अर्थ में सभ्यता एवं संस्कृति को बाह्य आवरण तथा आंतरिक गुण से जोड़ने का प्रयास किया गया है। दूसरे शब्दों में, अगर सभ्यता बाह्य आवरण है, तो संस्कृति आंतरिक गुण। एक फूल के उदाहरण से इसे स्पष्ट किया जा सकता है। फूल का बाह्य सौंदर्य, उसकी पंखुड़ियां सभ्यता है तो उससे निकलने वाली सुंगध संस्कृति। बाह्य आवरण की तुलना में आंतरिक गुण अधिक महत्वपूर्ण होता है। कई बार बाह्य आवरण पर अधिक बल दिए जाने के कारण आन्तरिक गुण से ध्यान हट जाता है। अत: कई विद्वान दोनों के विकास को परस्पर विरोधी के रूप में भी देखने लगते हैं। उदाहरण के लिए, एक जर्मन विद्वान स्पेंगलर कहते हैं कि जब सभ्यता का विकास होता है, तो संस्कृति का पतन हो जाता है।

■ **वर्तमान में हम सभ्यता की चर्चा बहुत कम सुनते हैं, किंतु संस्कृति की चर्चा बहुत अधिक हो रही है। इसका क्या कारण है?**

जैसाकि हम जानते हैं कि जब सभ्यता का प्रसार होता है, तो उसके अंदर कई अन्य संस्कृतियां दब जाती हैं। वस्तुत: कोई एक संस्कृति जब उच्च स्तर पर पहुँच जाती है तो वह सभ्यता का रूप ले लेती है तथा अपने अन्दर वह कई अन्य संस्कृतियों को दबा लेती है। इस प्रकार सभ्यता में एक प्रकार का अभिजात्यपन आ जाता है अर्थात् वह समाज के प्रभावी वर्ग से जुड़ जाती है। जबकि समाज के दलित और पिछड़े वर्ग उस स्तर पर नहीं पहुँच पाते।

किंतु आगे जैसे-जैसे जनतांत्रीकरण होता गया, वैसे-वैसे दलित और पिछड़े वर्ग का उत्थान आरंभ हुआ। इसी क्रम में विद्वानों और बुद्धजीवियों का ध्यान उन भूली-बिसरी संस्कृतियों की ओर गया तथा फिर उनका पुनर्अन्वेषण आरंभ हो गया। यही वजह है कि वर्तमान में सभ्यता की तुलना में संस्कृति पर ज्यादा बल दिया जाता है।

■ **क्लासिकल आर्ट से क्या तात्पर्य है? किस स्थिति में कला क्लासिकल मानदंड ग्रहण करती है?**

जब कला और साहित्य विकास के उस स्तर पर पहुँच जाती है कि वह आने वाले युगों की कला एवं साहित्य को प्रभावित करने लगती है अर्थात् वे एक मानदंड के रूप में स्थापित हो चुके हैं और यही मानदंड शास्त्रीय अथवा क्लासिकल कहलाते हैं। भारतीय इतिहास में कुछ काल ऐसे हुए, जब कला ने क्लासिकल मानदंड ग्रहण किए। उदाहरण के लिए, कला विकसित होती हुई गुप्तकाल तक आ गयी और फिर गुप्तकाल में इसने क्लासिकल मानदण्ड ग्रहण कर लिए। उसी प्रकार पल्लव कला ने चोल काल तक क्लासिकल मानदंड ग्रहण किए। अंत में सल्तनत कालीन स्थापत्य ने मुगल काल तक क्लासिकल मानदंड प्राप्त कर लिए।

■ **संस्कृति एवं धर्म में क्या संबंध होता है?**

संस्कृति के कई पहलू होते हैं; यथा- साहित्य, कला, जीवन, दृष्टिकोण, खान-पान, रहन-सहन तथा धर्म। जैसाकि हम देखते हैं कि धर्म भी इसका एक पहलू होता है, परन्तु धर्म के दो पक्ष होते हैं- तत्व चिन्तन एवं कर्मकाण्ड। चाहे कोई भी धार्मिक पंथ हो, परन्तु उसका तत्व चिन्तन मानव कल्याण से जुड़ा होता है। इस रूप में सभी धार्मिक पंथ अपने मौलिक चिन्तन में एक-दूसरे के निकट होते हैं, परन्तु कालान्तर में धार्मिक पंथ कर्मकाण्ड की एक ऐसी पद्धति विकसित कर लेते हैं जो मूलभूत मानवीय मूल्यों से टकराने लगते हैं तथा एक धार्मिक पंथ की दूसरे धार्मिक पंथ से टकराने की संभावना काफी बढ़ जाती है। तब फिर धर्म, संस्कृति का विरोधी बन जाता है। इसी तरह की स्थिति में भारत की समन्वित संस्कृति के विरोध में काम करते हुए धर्म ने हिन्दुस्तान एवं पाकिस्तान के रूप मे सरहदें खींच दीं।

■ क्या संस्कृति में भी प्रतिगामी तत्व हो सकता है जिसमें बदलाव लाने की जरूरत होती है?

कालांतर में चलकर संस्कृति के अंतर्गत दो प्रकार की खामियाँ सतह पर आने लगती हैं। प्रथम, 'संस्कृति' शब्द अपने आप में जटिल है, अत: धीरे-धीरे इसमें कुछ ऐसी रीति-रिवाज एवं परंपराएँ शामिल की जाने लगती हैं। उदाहरण के लिए, कुछ लोगों ने धर्म के नाम पर बाल विवाह तथा सती प्रथा जैसी सामाजिक बुराई को चलाने का प्रयास किया तथा धर्म को संस्कृति का एक हिस्सा माना गया। तब फिर 19वीं सदी के भारत में राजा राममोहन राय से लेकर स्वामी विवेकानंद तक विभिन्न बुद्धिजीवी एवं सुधारक इसके विरोध में खड़े हुए तथा इन बुराईयों को धर्म एवं संस्कृति से पृथक करने में कामयाबी पाई।

दूसरे, मूल्य (Value) समाज सापेक्ष होता है। जैसे-जैसे मानव समाज विकसित होता जाता है तो समय के साथ कुछ मानव व्यवहार एवं आचरण, जिन्हें संस्कृति का एक हिस्सा माना जाता रहा है, असंबद्ध हो जाते हैं और फिर उनमें बदलाव लाने की जरूरत पड़ती है।

■ क्या संस्कृति का दुरूपयोग भी किया जा सकता है?

इतिहास की तरह संस्कृति का दुरूपयोग भी संभव है। समाज के निहित स्वार्थ, धर्म एवं संस्कृति की रक्षा के नाम पर सामाजिक-धार्मिक बुराईयों को पनाह देते हैं। उदाहरण के लिए, जब राजा राममोहन राय सती प्रथा के विरूद्ध संघर्ष कर रहे थे तब राधाकान्त देव जैसे परंपरावादी इसे धर्म एवं संस्कृति पर हमला करार दे रहे थे। उसी प्रकार वर्तमान में जब 'तीन तलाक' एवं 'निकाह-हलाला' जैसी पद्धति को समाप्त करने की माँग की जाती है तो मुस्लिम रूढ़िवादी तत्व धर्म एवं इस्लामी संस्कृति का हवाला देकर उसे सुरक्षित रखने का प्रयत्न करते हैं। इसलिए भारत को एक सम्यक् सांस्कृतिक नीति बनाने की जरूरत है। जिस प्रकार राष्ट्र के विकास के लिए विज्ञान नीति, रक्षा नीति, विदेश नीति आदि आवश्यक है, उसी प्रकार सांस्कृतिक नीति भी आवश्यक है।

■ हम कला और साहित्य का अध्ययन क्यों करते हैं?

कला और साहित्य में किसी भी समुदाय का जीवन-दृष्टिकोण, सोच एवं सौंदर्याभिरूचि (Aesthetic sense) व्यक्त होती है। पिछले सैकड़ों, हजारों वर्षों से हमारे पूर्वजों की सोच और सौंदर्याभिरूचि व्यक्त होती रही है। जब हम इनका अध्ययन करते हैं, तो स्वाभाविक रूप में हमें अपने पूर्वजों की सोच और सौन्दर्याभिरूचि के क्रमिक विकास को समझने का अवसर मिलता है। फिर हम यह मूल्यांकन कर पाते हैं कि हम बौद्धिक-कलात्मक और नैतिक विकास की दृष्टि से कहाँ ठहरते हैं। जिस प्रकार हम इतिहास के माध्यम से राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक ढाँचे के क्रमिक विकास को समझने का प्रयास करते हैं, उसी प्रकार हम कला और साहित्य के माध्यम से जीवन-रूचि और सौन्दर्याभिरूचि के विकास को समझने का प्रयास करते हैं।

■ भारतीय संस्कृति को बहुलवादी संस्कृति (Polyphonic Culture) का उदाहरण क्यों माना जाता है?

भारतीय संस्कृति का विकास कुछ इस तरह हुआ कि इसका स्वर बहुलवादी हो गया। प्राचीन काल में आर्य संस्कृति तथा गैर-आर्य संस्कृति के बीच सामंजस्य देखा जा सकता है। उसी प्रकार, उत्तर एवं दक्षिण की संस्कृति के बीच सामंजस्य देखा गया। आर्य संस्कृति में यज्ञ की प्रधानता थी, जबकि गैर-आर्य संस्कृति में भक्ति, अवतारवाद एवं मूर्ति पूजा की प्रवृत्ति प्रबल रही। आगे आर्य एवं गैर-आर्य तत्वों के मिश्रण से हिन्दू धर्म अथवा हिन्दू संस्कृति का विकास हुआ। उसी प्रकार उत्तर भारत में ब्राह्मण, बौद्ध एवं जैन जिस किसी भी धार्मिक पंथ का उद्भव हुआ, उसने दक्षिण की ओर अवश्य प्रस्थान किया। उत्तर में विकसित उपनिषद् का अद्वैत चिंतन दक्षिण में शंकराचार्य के अंतर्गत परिष्कृत एवं विकसित हुआ। अशोक के अंतर्गत विकसित गुफा वास्तुकला ने पल्लवकालीन गुफा मंदिर के रूप में पूर्णता प्राप्त की।

मध्यकाल में भक्ति एवं सूफी आन्दोलन गांगी-यमुनी संस्कृति के रूप में व्यक्त हुआ। उसी प्रकार, सल्तनत काल एवं मुगल काल में स्थापत्य के क्षेत्र में इस्लामी एवं भारतीय तत्वों के (मेहराबी एवं शहतीरी शैली) के बीच सामंजस्य के परिणामस्वरूप नई शैली का विकास हुआ। यही सामंजस्य चित्रकला एवं संगीत कला आदि क्षेत्रों में भी देखने को मिलता है। इन्हीं करणों से भारतीय संस्कृति का स्वरूप बहुलवादी है।

■ संस्कृति एवं विरासत की समझ अन्य विषयों के अध्ययन में कैसे उपयोगी हो सकती है?

अभ्यर्थियों को संस्कृति का अध्ययन करते हुए अंतर्अनुशासनात्मक दृष्टिकोण अपनाने की जरूरत है। इससे संस्कृति के साथ अन्य विषयों की समझ भी विकसित होगी। विभिन्न सामाजिक विज्ञानों के साथ इसके संबंधों को निम्नलिखित रूप में समझा जा सकता है-

विदेश नीति के संचालन में संस्कृति एक महत्वपूर्ण घटक बनकर उभरी है। किसी भी राष्ट्र की सॉफ्ट पावर की वृद्धि में संस्कृति महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। वर्तमान में कल्चरल डिप्लोमेसी (Cultural diplomacy) विदेश नीति का महत्वपूर्ण घटक बन गयी। इस आधार पर भारत अपने पड़ोसी क्षेत्र का विस्तार कर दक्षिण-पूर्व एशिया के देशों तक

पहुँचने के लिए आतुर है। उसी प्रकार पश्चिम एशिया तथा अफ्रीका के तटीय क्षेत्रों के साथ संपर्क में प्रोजेक्ट मौसम (Project Mausam), जो कल्चरल मिनिस्ट्री की पहल पर शुरू किया गया है, महत्वपूर्ण भूमिका अदा करने वाला है।

राष्ट्र निर्माण में संस्कृति की समझ कितनी उपयोगी हो सकती है इसका सबसे बड़ा उदाहरण है एक राष्ट्र के रूप में भारत की सफलता और इसका कारण रहा है हमारे संविधान निर्माताओं के द्वारा भारत के विविधतामूलक चरित्र को समझना तथा उन्हीं के अनुकूल भाषायी तथा धार्मिक अल्पसंख्यकों को उचित सुरक्षा प्रदान करना। अगर हम दक्षिण एशिया के अन्य पड़ोसी; यथा- पाकिस्तान, नेपाल तथा श्रीलंका के राष्ट्रीय-राज्य की विफलता से भारत की तुलना करते हैं तो अंतर स्पष्ट हो जाता है।

आर्थिक सफलता में भी एक उचित सांस्कृतिक नीति की महत्वपूर्ण भूमिका हो सकती है। रघुराम राजन ने बहुत पहले स्पष्ट कर दिया था कि धार्मिक रूढ़िवादिता तथा आर्थिक विकास साथ-साथ नहीं चल सकता। अंत में, संस्कृति आन्तरिक सुरक्षा में भी एक महत्वपूर्ण कारक की भूमिका निभाती है। वर्तमान में आंतरिक सुरक्षा के लिए एक बड़ा खतरा है धार्मिक कट्टरता। इसने आतंकवाद का रूप ले लिया है। एक उचित सांस्कृतिक नीति के माध्यम से ही इस पर नियंत्रण लगाया जा सकता, न कि केवल पुलिस एवं सैन्य बल के माध्यम से। इस संबंध में भारत का नज़रिया व्यावहारिक रहा है। इसने बहुत हद तक अपने विविधतामूलक चरित्र का सम्मान किया है।

कला एवं संस्कृति खंड से विगत वर्षों में पूछे गए प्रश्न

प्रश्न: "भारत की प्राचीन सभ्यता, मिस्र, मेसोपोटामिया तथा ग्रीस की सभ्यताओं से इस बात में भिन्न है कि भारतीय उपमहाद्वीप की परंपराएँ आज तक भंग हुए बिना परिरक्षित की गई हैं।" टिप्पणी कीजिये।(2015)

प्रश्न: "भारत की मध्यपाषाण शिला-कला न केवल उस काल के सांस्कृतिक जीवन को बल्कि आधुनिक चित्रकला से तुलनीय परिष्कृत सौंदर्य-बोध को भी प्रतिबिंबित करती है।" इस टिप्पणी का समालोचनात्मक मूल्यांकन कीजिये।(2015)

प्रश्न: क्या हमारे राष्ट्र में सर्वत्र लघु भारत के सांस्कृतिक क्षेत्र हैं? उदाहरणों के साथ सविस्तार स्पष्ट कीजिये। (250 शब्दों में उत्तर दीजिये)(2019)

प्रश्न : शैलकृत स्थापत्य प्रारंभिक भारतीय कला एवं इतिहास के ज्ञान के अति महत्वपूर्ण स्रोतों में से एक प्रतिनिधित्व करता है। विवेचना कीजिये। (150 शब्दों में उत्तर दीजिये)(2020)

प्रश्न: भारत में बौद्ध धर्म के इतिहास में पाल काल अति महत्त्वपूर्ण चरण है। विश्लेषण कीजिये। (150 शब्दों में उत्तर दीजिये)(2020)

प्रश्न: क्या आप सहमत हैं कि भारत में क्षेत्रीयता बढ़ती हुई सांस्कृतिक मुखरता का परिणाम प्रतीत होती है? तर्क कीजिये। (150 शब्दों में उत्तर दीजिए) (2020)

प्रश्न: भारतीय दर्शन एवं परंपरा ने भारतीय स्मारकों की कल्पना और आकार देने एवं उनकी कला में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। विवेचना कीजिये। (250 शब्दों में उत्तर दीजिये)(2020)

प्रश्न: मध्यकालीन भारत के फारसी साहित्यिक स्रोत उस काल के युगबोध का प्रतिबिंब हैं। टिप्पणी कीजिये। (250 शब्दों में उत्तर दीजिए)(2020)

प्रश्न: भक्ति साहित्य की प्रकृति का मूल्यांकन करते हुए भारतीय संस्कृति में इसके योगदान का निर्धारण कीजिये। (150 शब्दों में उत्तर दीजिए)(2021)

प्रश्न: स्पष्ट करें कि मध्यकालीन भारतीय मंदिरों की मूर्तिकला उस दौर के सामाजिक जीवन का प्रतिनिधित्व करती है। (150 शब्दों में उत्तर दीजिये)(2022)

प्रश्न: भारतीय परंपरा और संस्कृति में गुप्त-काल और चोल-काल के योगदान पर चर्चा करें। (250 शब्दों में उत्तर दीजिये)(2022)

प्रश्न: भारतीय मिथक, कला और वास्तुकला में सिंह एवं वृषभ की आकृतियों के महत्त्व पर विचार करें। (250 शब्दों में उत्तर दीजिये)(2022)

******

■ पूर्व ऐतिहासिक काल एवं आद्य ऐतिहासिक काल (Pre-Historic Period and Proto-Historic Period)

पूर्व ऐतिहासिक काल उसे कहा जाता है जिस काल के अध्ययन में केवल पुरातात्विक सामग्री ही उपलब्ध हो, परन्तु साहित्यिक साक्ष्य उपलब्ध नहीं हो। जिस काल के अध्ययन के लिए पुरातात्विक और साहित्यिक दोनों प्रकार की सामग्रियाँ उपलब्ध हों, परन्तु साहित्यिक साक्ष्य का उपयोग नहीं हो पा रहा हो, तो हम उसे आद्य-ऐतिहासिक काल कह सकते हैं। इस आधार पर हड़प्पा सभ्यता एवं वैदिक सभ्यता को भी आद्य-ऐतिहासिक काल में रख दिया जाता है क्योंकि पहले के पास एक लिपि तो है, परन्तु उस लिपि को पढ़ा नहीं जा सका है, जबकि दूसरे के पास भाषा है, किन्तु लिपि नहीं है।

परन्तु विभाजन का एक दूसरा आधार भी है। इसके अनुसार जिस काल में कृषि की शुरूआत नहीं हुई हो उसे पूर्व-ऐतिहासिक काल कहते हैं। दूसरे शब्दों में, पूर्व ऐतिहासिक काल के क्रम में हम उन आदिमानवों का अध्ययन करते हैं जो पत्थर के उपकरणों का प्रयोग करते थे तथा शिकार एवं खाद्य संग्रह पर निर्भर थे। उदाहरण के लिए, पुरापाषाण काल एवं मध्यपाषाण काल। वहीं दूसरी तरफ, जिस काल में कृषि कार्य आरम्भ हुआ उसे आद्य-ऐतिहासिक काल करार दिया गया अर्थात् आद्य ऐतिहासिक काल में उन समुदायों का अध्ययन किया जाता है जो खाद्य संग्रह से खाद्य उत्पादन की अवस्था में पहुँच चुके थे। इस आधार पर नवपाषाण काल और ताम्रपाषाण काल को भी आद्य-ऐतिहासिक काल के अन्तर्गत रख दिया जाता है।

- **पुरापाषाण काल (लाखों वर्ष पूर्व से लेकर 10,000 ई.पू. तक)**- भारत में आरम्भिक मानव के विकास को प्रस्तर युग से जोड़कर देखा जा सकता है। भारतीय उपमहाद्वीप में पुरापाषाण काल से मानव गतिविधियाँ देखने को मिलती हैं। इस काल में मानव शिकारी एवं खाद्य संग्राहक था।
- **मध्यपाषाण काल (10,000 ई.पू. से 6000 ई.पू.)**- पुरापाषाण काल एवं नवपाषाण काल के बीच एक अवस्था की परिकल्पना की गयी, इसे मध्यपाषाण काल के नाम से जाना गया। इस काल में भी मानव शिकारी एवं खाद्य संग्राहक ही था, परन्तु शिकार एवं खाद्य संग्रह पद्धति में परिवर्तन आ चुका था।
- **नवपाषाण काल (6000 ई.पू. के बाद)**- इस काल में मानव खाद्य संग्राहक से खाद्य उत्पादक की अवस्था में पहुँच गया तथा स्थायी जीवन जीने लगा। इस कारण आगे के परिवर्तनों का मार्ग तैयार हुआ। आरम्भ में भारत में प्राचीनतम् नवपाषाण कालिक स्थल बलूचिस्तान में मेहरगढ़ को माना जाता था, परन्तु अब यह स्थान उत्तरप्रदेश में लहुरदेव को दिया जाता है।
- **ताम्रपाषाण काल (3500 ई.पू. के पश्चात्)**- मानव ने धातु के रूप में पहले ताँबे का प्रचलन आरंभ किया। ताँबे के उपकरणों के प्रचलन से कृषि अर्थव्यवस्था और भी मजबूत हुई। सबसे आरंभिक ताम्रपाषाण कालिक स्थल उत्तर-पश्चिम भारत में मिले हैं।
- **हड़प्पा सभ्यता (2600 ई.पू.-1900 ई.पू.)**- बेहतर कृषि उत्पादन एवं उन्नत व्यापार के कारण उत्तर-पश्चिम भारत का एक भाग नगरीकरण की दिशा में आगे बढ़ गया।

■ परिवर्तन का अध्ययन-

- जलवायु संबंधी कारक → तकनीकी परिवर्तन → जीविकोपार्जन में परिवर्तन → सामाजिक संबंधों में परिवर्तन → सांस्कृतिक दृष्टिकोण में परिवर्तन।

■ जलवायु संबंधी कारकः

अगर हम जलवायु संबंधी कारक पर नजर डालते हैं तो हमें ज्ञात होता है कि पुरापाषाण काल 'प्लीस्टोसीन युग' की उत्तर अवस्था से जुड़ा हुआ था। तब वातावरण में अधिक ठंडक थी और कृषि के लिए स्थिति अधिक अनुकूल नहीं हुई थी। परन्तु लगभग 10,000 ई.पू. में 'होलोसीन युग' का आरंभ हुआ, जब वातावरण शुष्क हुआ। इससे कृषि के लिए अनुकूल परिस्थिति उत्पन्न हुई। इस प्रकार, नवपाषाण काल से कृषि आरंभ हुई और आगे के काल में उसकी प्रगति होती रही।

■ तकनीकी विकासः

पुरापाषाण काल में लोग पत्थर और सम्भवतः हड्डियों के उपकरणों का प्रयोग करते थे। इस काल में क्रोड उपकरणों का महत्व बना हुआ था। क्रोड (core) उपकरण से तात्पर्य भारी स्फटिक पत्थर से निर्मित उपकरण से है। इनमें हस्तकुठार, चॉपर (काटने वाला औजार) एवं विदारिणी (cleaver) जैसे उपकरण मिले हैं। उदाहरण के लिए, पंजाब में सोहन नदी घाटी से चॉपर जैसे उपकरण का साक्ष्य मिला है, तो दक्षिण में मद्रास के आस-पास कई स्थलों से हस्तकुठार जैसे उपकरण। परन्तु क्रोड उपकरणों के साथ-साथ शल्क उपकरण (Flake) का भी प्रयोग होता रहा। शल्क उपकरण पत्थर के छोटे-छोटे टुकड़ों से बनाये जाते थे तथा ये धारदार होने के साथ-साथ हल्के भी होते

थे। इसकी श्रेणी में हम तक्षिणी, खुरचनी (Scraper) जैसे उपकरणों को रख सकते हैं।

मध्यपाषाण काल तक आकर 'माइक्रोलिथ' जैसे उपकरणों का विकास देखने को मिलता है। यह 1 सेमी. से 5 सेमी. के बीच के छोटे पाषाण उपकरण होते थे, जिनका प्रयोग लकड़ी अथवा हड्डी से जोड़कर किया जाता था। इसके परिणामस्वरूप तीर और कमान का विकास हुआ। आगे नवपाषाण काल में तकनीकी विकास के रूप में पॉलिशदार उपकरणों का प्रयोग देखने को मिलता है। दूसरे शब्दों में, जहाँ पहले पत्थर से पत्थर को तोड़कर उपकरण बनाए जाते थे, जो खुरदरे होते थे, परन्तु अब पत्थर से पत्थर को घिसकर उपकरण बनाए जाने लगे, जो अधिक चिकने होते थे और इनके माध्यम से खेती करना आसान हो गया।

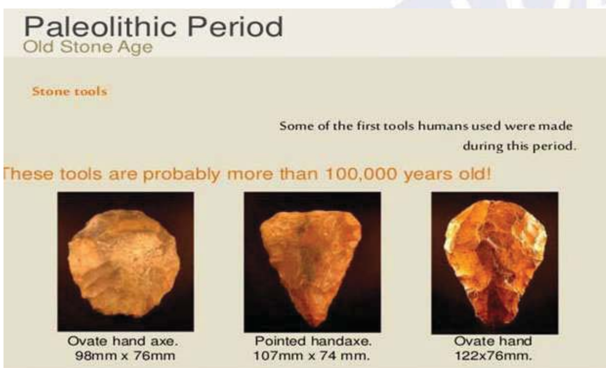

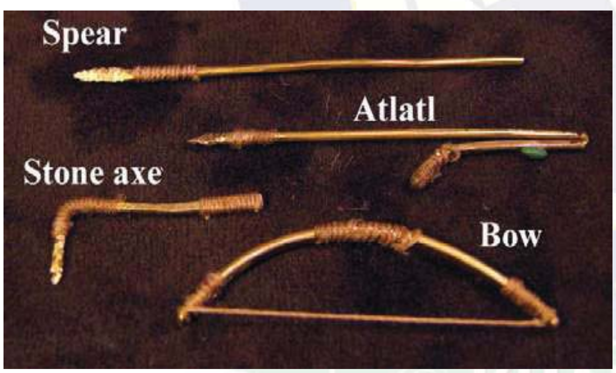

■ **जीविकोपार्जन में परिवर्तनः**

पुरापाषाण काल में मानव मुख्यतः शिकारी एवं खाद्य संग्राहक था। शिकार की तुलना में खाद्य संग्रह निश्चय ही ज्यादा महत्वपूर्ण रहा होगा क्योंकि जो संग्रह किया हुआ खाद्य था, उसे सुरक्षित रखना अधिक आसान था।

यद्यपि मध्यपाषाण काल में भी लोग मुख्यतः शिकारी और खाद्य संग्राहक ही बने रहे, परन्तु शिकार एवं खाद्य संग्रह की तकनीकी में परिवर्तन आ गया था। तीर और कमान के प्रयोग से अब बड़े पशुओं के साथ-साथ छोटे पशु एवं पक्षियों का शिकार करना भी संभव हुआ। साथ ही, मछली पकड़ने की कला भी विकसित हुई। इस कारण खाद्यान्न की उपलब्धता बढ़ गई। फिर इस काल में हमें पशुपालन का आरम्भिक साक्ष्य मध्यप्रदेश के आदमगढ़ एवं राजस्थान के बागोर से मिलता है। यद्यपि इस काल में खेती की शुरूआत नहीं हुई थी, परन्तु जंगली किस्म के अनाजों का प्रयोग आरम्भ हो गया था।

नवपाषाण काल में आकर जीविकोपार्जन के क्षेत्र में प्रमुख परिवर्तन आया। अब मानव, शिकारी और खाद्य संग्राहक से खाद्य उत्पादक की अवस्था में पहुँच गया और फिर इतिहास में महत्वपूर्ण परिवर्तन शुरू हुए। इस काल में नियमित रूप में पशुपालन एवं कृषि कार्य आरम्भ हुआ। वैसे तो मृदभांडों के प्रयोग का साक्ष्य मध्यपाषाण काल से ही मिलने लगता है, किन्तु नियमित रूप में इनका प्रयोग नवपाषाण काल में आरम्भ हुआ। नवपाषाण काल को 'नवपाषाण क्रांति' का नाम दिया जाता है क्योंकि जब कृषि कार्य आरम्भ हुआ, तो फिर आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्र में महत्वपूर्ण परिवर्तनों को प्रोत्साहन मिला।

आगे प्रथम धातु के रूप में ताँबे का प्रचलन आरम्भ हो गया, इसे 'ताम्रपाषाण काल' के नाम से जाना जाता है। चूँकि ताँबे के उपकरण पत्थर के उपकरण से कहीं अधिक बेहतर थे, इसलिए ताम्रपाषाण काल में आकर कृषि अर्थव्यवस्था और भी मजबूत हुई।

■ **सामाजिक परिवर्तन-**

पुरापाषाण काल में समाज समतामूलक समाज का उदाहरण है। इसे 'बैंड सोसायटी' का नाम दिया जाता है। लोग शिकार और खाद्य संग्रह से उतना ही अर्जन करते थे, जितना खपत हो जाता था और अतिरिक्त उत्पादन की गुंजाइश नहीं थी। अब जहाँ तक पुरुष-महिला संबंध का सवाल है तो इस संबंध में मानवशास्त्रियों की सामान्य धारणा है कि महिलाओं की स्थिति का निर्धारण उत्पादन में उसकी भागीदारी के आधार पर किया जा सकता है। चूँकि महिलाएँ मुख्यतः खाद्य संग्रह से जुड़ी हुई थीं और शिकार की तुलना में खाद्य संग्रह को अधिक महत्व प्राप्त था, इसलिए सामान्यतः महिलाओं की स्थिति समाज में अधिक बेहतर रही होगी।

मध्यपाषाण काल में भी समाज समतामूलक था। इसे भी बैंड सोसायटी का नाम दिया जा सकता है। पहली बार इसी काल में परिवार की परिकल्पना का विकास हुआ अर्थात् अब बूढ़े व्यक्ति को बच्चों की देखभाल के लिए घर पर छोड़ा जाने लगा। फिर इस काल में मृतक व्यक्ति के शवाधान (Burial) का विकास मृतक संस्कार के रूप में शुरू हुआ।

नवपाषाण काल तथा ताम्रपाषाण काल तक आकर लोग आवश्यकता से अधिक उत्पादन करने लगे थे। अतः समाज में विभाजन की प्रक्रिया भी शुरू हो गई। इसलिए इस काल में मुखिया तंत्र का विकास हुआ। बैंड सोसायटी का स्थान मुखिया तंत्र ने ले लिया। घरों की बनावट और धान्य कोठारों की उपस्थिति (granaries) एक मुखिया तंत्र की ओर संकेत करती है।

■ **सांस्कृतिक परिवर्तनः**

आरम्भिक मानव का अधिकांश समय जीविकोपार्जन में चला जाता था, परन्तु फिर धीरे-धीरे वह अपने परिवेश के साथ साहचर्य (आदान-प्रदान) स्थापित करने लगा। इसके परिणामस्वरूप धर्म एवं कला का विकास हुआ।

वैसे कला के रूप में हमें हड्डी एवं प्रस्तर की मूर्तियाँ मिलती हैं, परन्तु कला का मुख्य रूप हमें चित्रकला के रूप में देखने को मिलता है।

चित्रकला का विकास- वैश्विक सन्दर्भ में चित्रकला का विकास पुरापाषाण काल से ही माना जाता है। यूरोप, ऑस्ट्रेलिया और अफ्रीका आदि महाद्वीपों से हमें ये चित्र मिले हैं। भारत के संदर्भ में एक दृष्टिकोण यह कहता है कि मध्य प्रदेश में भीमबेटका के कुछ चित्र पुरापाषाण काल की उत्तर अवस्था से जुड़े हुए हैं, परन्तु सामान्य धारणा यह है कि भारत में चित्रकला का स्पष्ट साक्ष्य मध्यपाषाण काल में आकर मिलता है।

■ **मध्यपाषाण काल में कैसे चित्र बनाए गए?**

इसमें प्रायः दो प्रकार से चित्र बनते थे- एक, गुफा की दीवार अथवा प्रस्तर को खुरचकर, इसे 'पेट्रोग्लिफ' कहा जाता है तथा दूसरे, रंगों का उपयोग कर। सामान्यतः 16 प्रकार के रंगों का विवरण मिलता है। ये चित्र या तो गुफाओं के अन्दर बनाए जाते थे या गुफा से बाहर चट्टानों पर।

■ **मध्यपाषाण कालीन चित्रकला के विषयः**

- शिकार के दृश्य, सामूहिक नृत्य एवं संगीत के चित्र, महिलाओं के द्वारा खाद्य संग्रह के चित्र, गर्भवती महिलाओं के चित्र, महिलाओं के द्वारा अपने शिशुओं को पालने का चित्र आदि।

■ **मध्यपाषाण कालीन चित्रों से तात्पर्यः**

- संभव है लिपि की अनुपस्थिति में मध्यपाषाण कालीन मानव इन चित्रों के माध्यम से अपने भाव को अभिव्यक्त करने का प्रयास कर रहे थे। लिपि के अभाव में ये चित्र ही बोलते प्रतीत होते हैं।
- यह भी संभव है कि शिकार पर जाने से पहले वे इन चित्रों के माध्यम से किसी अनुष्ठान को पूरा करते, ताकि उन्हें बेहतर रूप में शिकार मिल सके। इसका अर्थ है कि इन चित्रों का आनुष्ठानिक महत्व भी था।

■ **मध्यपाषाण कालीन चित्रों का महत्वः**

- लिपि की अनुपस्थिति में चित्र बोलते प्रतीत होते हैं।
- शिकार वाले दृश्य से ऐसा प्रतीत होता है कि लोगों के मन में करुणा का भाव जग रहा था। प्रायः शिकार के दृश्य में शिकारियों को सशरीर न दर्शाकर सांकेतिक रूप में दर्शाया गया है। इसका अर्थ है कि शिकार के मध्य जो पशु हत्या होती थी उससे उन्हें पीड़ा होती थी, इसलिए वे अपने आपको उससे सीधे तौर पर नहीं जोड़ना चाहते थे। उसी प्रकार, अकेला शिकार का चित्र न होना भी इस बात को दर्शाता है कि मानव अपने आप को हिंसा से प्रत्यक्ष रूप से नहीं जोड़ना चाहता था।
- सामूहिक दावत एवं समारोह के चित्र ये दर्शाते हैं कि उनके जीवन में अब सामूहिकता की भावना प्रबल हो रही थी, अर्थात् अब समुदाय की भावना मजबूत होने लगी थी।
- इन चित्रों में जो नृत्य एवं संगीत के दृश्य हैं, वे दर्शाते हैं कि लोगों के जीवन में 'लय' की तलाश आरंभ हो गयी थी।

- **मध्यपाषाण कालीन चित्रकला में सौन्दर्य-बोध:**
  - मानव में उभर रहा करुणा का भाव
    - माता के द्वारा शिशु के पालने का दृश्य।
    - शिकार वाले दृश्य
  - लय की तलाश
- **मध्यपाषाण कालीन चित्रकला का सौन्दर्य-बोध आधुनिक चित्रकला से कहाँ तक तुलनीय है?**

- मध्यपाषाण कालीन चित्रकला का उद्देश्य भी लय को तलाशना था और वर्तमान चित्रकला का उद्देश्य भी लय की तलाश है।
- मध्यपाषाण कालीन चित्रकला में भी प्रतीकात्मकता थी तथा वर्तमान चित्रकला में भी प्रतीकात्मकता है।
- मध्यपाषाण कालीन चित्रकला आदिमानव के सरल भावों की अभिव्यक्ति है, वहीं आधुनिक चित्रकला आधुनिक मानव के जटिल भावों की अभिव्यक्ति है।

प्रश्न:- भारत की मध्यपाषाण शिला-कला न केवल उस काल के सांस्कृतिक जीवन को, बल्कि आधुनिक चित्रकला से तुलनीय परिष्कृत सौन्दर्य-बोध को भी प्रतिबिम्बित करती है। इस टिप्पणी का समालोचनात्मक मूल्यांकन कीजिए। (UPSC-2015)

उत्तर:- मध्यपाषाण काल मानव जीवन की उस अवस्था को दर्शाता है, जब मानव, शिकारी एवं खाद्य संग्राहक था। वह पाषाण उपकरणों की सहायता से जीवन-यापन करता था। परंतु उस काल में भी मानव ने परिवेश के संबंध में अपनी समझ को दुर्लभ गुफा चित्रों में अभिव्यक्त किया।

मध्यपाषाण काल के चित्र मध्य प्रदेश में भोपाल के निकट भीमबेटका, मिर्जापुर में सुहागीघाट की गुफा, उड़ीसा के सुंदरगढ़ एवं संभलपुर आदि स्थानों पर मिले हैं जो विभिन्न कालों से संबद्ध हैं। दक्षिण भारत में भी आंध्र प्रदेश, कर्नाटक तथा तमिलनाडु के कई स्थानों से ये चित्र मिले हैं। इन चित्रों में शिकार के दृश्य, सामूहिक नृत्य, संगीत, उपकरण, माता-बच्चे, गर्भवती स्त्री, मनुष्यों द्वारा मृत जानवरों को उठाते हुए आदि दृश्य शामिल हैं। इस प्रकार इन चित्रों में विविधता दिखती है। एक दिलचस्प तथ्य यह है कि इन गुफा चित्रों में पुरूषों को रेखीय रूप में चित्रित किया गया। इसका कारण संभवत: पुरूषों का शिकार गतिविधियों से जुड़ा होना था। शिकार के मध्य पशुओं को घायल करना तथा मारना होता था। इस प्रकार की गतिविधियाँ एक प्रकार का भावनात्मक तनाव पैदा करती थी। संभवत: इसलिए ऐसे दृश्यों में स्पष्ट प्रतिनिधित्व न देकर सांकेतिक प्रतिनिधित्व दिया जाता था। इस प्रकार मध्यपाषाणकालीन चित्रों में आदिमानव के मनोभाव अभिव्यक्त हुए हैं। लिपि की अनुपस्थिति में चित्र भी बोलने का प्रयास करते नजर आते हैं।

सांकेतिकता तथा विविधता में यह कला कहीं-कहीं आधुनिक चित्रकला के निकट प्रतीत होती है, यद्यपि दोनों के स्वरूप में अंतर है। मध्य पाषाणकालीन चित्रकला आदिमानव के सरल भावों की अभिव्यक्ति है। आदिमानव अपने परिवेश को समझने का प्रयास कर रहे हैं तथा उन्होंने अपनी इस समझ को चित्रकला के रूप में व्यक्त किया। दूसरी तरफ आधुनिक जीवन पाषाणकालीन जीवन की तुलना में बहुत अधिक जटिल है। आधुनिक मानव का बोध भी बहुआयामी है। अत: आधुनिक जीवन अपनी संपूर्ण जटिलता के साथ आधुनिक चित्रकला में अभिव्यक्त हुआ है।

- **हम मध्यपाषाण कला का अध्ययन क्यों करते हैं?**

- इन कलाओं के माध्यम से हम हजारों वर्ष पीछे जाकर आरम्भिक मानव की सोच, दृष्टिकोण तथा सौन्दर्य-बोध को समझने का प्रयास करते हैं क्योंकि वे मानव सभ्यता की विरासत हैं, इसलिए इनका आज भी महत्व है।

भारत की प्रथम नगरीय सभ्यता: हड़प्पा सभ्यता (2600 ई.पू. से 1900 ई.पू.)

- **हड़प्पा सभ्यता जैसी एक असाधारण सभ्यता की जड़ कहाँ है?**

हड़प्पा सभ्यता जैसी उन्नत सभ्यता का अध्ययन इतिहासकारों के लिए हमेशा दिलचस्पी एवं चुनौती का विषय रहा है। मुख्य प्रश्न यह है कि जब भारतीय उपमहाद्वीप के अन्य क्षेत्र विकास के निम्न स्तर पर थे, तो कुछ खास क्षेत्र नगरीकरण की अवस्था में कैसे पहुँच गए?

कुछ ब्रिटिश विद्वानों ने प्राचीन भारतीयों की भूमिका को कम करने के लिए मेसोपोटामिया से इसकी उत्पत्ति को दर्शाने का प्रयास किया, परन्तु हड़प्पा सभ्यता मेसोपोटामिया की सभ्यता की तुलना में कहीं अधिक उन्नत थी। इसकी नगर निर्माण योजना अद्वितीय थी तथा इसकी लिपि एवं मुहरें भी अलग थीं। इसलिए हड़प्पा सभ्यता को मेसोपोटामियाई उत्पत्ति कहना बिल्कुल ही उचित नहीं है।

बाद के काल के शोधों से लगभग इसकी देशी उत्पत्ति सिद्ध हो चुकी है। उत्तर-पश्चिम की नदी घाटी में बाढ़ से लायी गई जलोढ़ मिट्टी काफी ऊपजाऊ सिद्ध हुई। इस कारण लोग आवश्यकता से अधिक अनाजों का उत्पादन करने लगे। फिर कृषि अधिशेष ने शिल्पों और उद्योगों के विकास को प्रोत्साहन दिया। उसी समय एक शासक वर्ग एवं पुरोहित वर्ग का उद्भव हुआ। उसके द्वारा अधिशेष उत्पादन को कर एवं धर्म के माध्यम से एक खास केन्द्र पर एकत्रित किया गया।

फिर वही समय है कि जब धान्य कोठारों का विकास हुआ, ताँबे से काँसे का विकास हुआ। इसने उत्पादन में अधिक बेहतर भूमिका निभाई। फिर स्थल एवं जल परिवहन के रूप में क्रमशः गाड़ी एवं नाव का प्रचलन शुरू हो गया। फिर यही काल है जब लेखन कला का भी विकास हो गया था। उपर्युक्त विकास का परिणाम था लगभग 2600 ई.पू. में एक उन्नत नगरीय सभ्यता का विकास।

■ **इसे एक विलक्षण सभ्यता क्यों माना जाता है?**

कई कारकों ने इसे एक विलक्षण सभ्यता के रूप में स्थापित किया और निश्चय ही इनमें सबसे महत्वपूर्ण कारक है हड़प्पा सभ्यता की उन्नत नगर निर्माण योजना। इन कारकों को निम्नलिखित रूप में समझा जा सकता है-

■ **उन्नत नगर-निर्माण योजनाएँ:**

हड़प्पा सभ्यता के समानान्तर पश्चिम एशिया में मेसोपोटामिया की सभ्यता और उत्तरी-पूर्वी अफ्रीका में मिस्र की सभ्यताएँ थीं। ये सभी समकालीन व नगरीय सभ्यताएँ थीं, परन्तु हड़प्पा सभ्यता की नगर-निर्माण योजना सबसे विलक्षण थी।

सामान्यतः हड़प्पाई नगर दो भागों में विभाजित होता था- पश्चिमी भाग में दुर्ग क्षेत्र होता था तथा पूर्वी भाग में निचला शहर। दुर्ग क्षेत्र में शासक वर्ग के लोग रहते थे, जबकि निचले क्षेत्र में जनसामान्य लोग। हड़प्पाई नगरों की योजना ग्रिड प्रणाली पर आधारित थी। मुख्य सड़क की चौड़ाई लगभग 10 मीटर होती थी और दो सड़कें एक-दूसरे को समकोण पर काटती थीं। सड़कों के किनारे मकान निर्मित किए जाते थे। ये पक्की ईंटों से निर्मित होते थे। सामान्यतः मकान एक मंजिला होता था, परन्तु बहुमंजिले मकान के भी उदाहरण मिलते हैं। मकान के प्रांगण में कुआँ होता था तथा ऊपर की मंजिल पर जाने के लिए सीढ़ियाँ होती थीं।

उनकी जल निकास प्रणाली समकालीन विश्व में दुर्लभ थी। ऊपर की मंजिल से जल निकासी के लिए निकास पाइप होता था। वह पीछे गली की नाली से मिलता था और गली की नाली मुख्य सड़क की नाली से जुड़ी होती थी। मुख्य सड़क की नाली की सफाई के लिए नरमोखे (Manhole) भी बने होते थे।

उनके द्वारा अपनाई गई जल संरक्षण की नीति भी अद्वितीय है। इसका ज्वलंत उदाहरण है- गुजरात का धौलावीरा।

हड़प्पाई नगरों में बेहतर गवर्नेंस देखने को मिलता है क्योंकि नगर-निर्माण के नियमों में कहीं भी उल्लंघन नहीं मिलता है।

हड़प्पाई दुर्ग

• **जनसामान्य की स्थितिः**

अगर हम अन्य समकालीन सभ्यताओं से हड़प्पा सभ्यता के शासक वर्ग की तुलना करते हैं तो अंतर स्पष्ट हो जाता है। हड़प्पाई शासक वर्ग के लोगों की दृष्टि अपेक्षाकृत समतामूलक थी। जहाँ मेसोपोटामिया एवं मिस्र के शासक वर्ग ने अत्यधिक संसाधन का उपयोग क्रमशः जिग्गुरत (मंदिर) तथा पिरामिड (स्मारक) के निर्माण पर खर्च किया था, जबकि जनसामान्य झोपड़ी अथवा कच्ची ईंटों के मकान में रहते थे, वहीं हड़प्पाई शासक वर्ग ने सार्वजनिक भवनों के निर्माण पर कम खर्च किया जबकि जनसामान्य के जीवन स्तर को ऊँचा उठाया। जनसामान्य पक्की ईंटों के मकान में रहते थे। हड़प्पा सभ्यता के अन्तर्गत लोगों ने दुर्लभ नागरिक सुविधाओं का उपभोग किया।

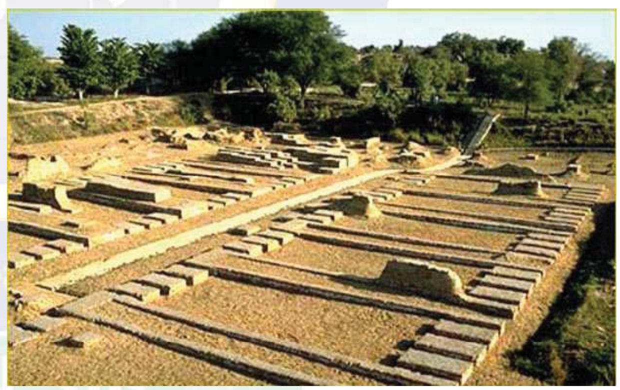

मोहनजोदड़ो का अन्नागार

लोथल का गोदीवाड़ा

धौलावीरा का स्टेडियम

प्रश्नः सिंधु घाटी सभ्यता की नगरीय आयोजना और संस्कृति ने किस सीमा तक वर्तमान युगीन नगरीकरण को निवेश (Input) प्रदान किये हैं? चर्चा कीजिए। (UPSC-2014)

उत्तरः सिंधु घाटी की सभ्यता ने, जो भारतीय उपमहाद्वीप में पहली नगरीय क्रांति का प्रतिनिधित्व करती थी, भारत के भावी नगरीकरण पर भी अपना प्रभाव छोड़ा। इसकी नगर निर्माण योजना तथा नगरीय जीवन पद्धति का कुछ हद तक बाद में भी अनुकरण किया जाता रहा।

नगर निर्माण में हड़प्पाई लोगों ने आयोजना (Planning) को विशेष महत्व दिया था। प्रत्येक महत्वपूर्ण नगर दो खंडों में विभाजित था- दुर्ग एवं निचला शहर। वर्तमान नगरों में भी सरकारी संस्थानों को रिहायसी इलाके से पृथक रखने की पद्धति प्रचलित है। हड़प्पा सभ्यता के अंतर्गत सड़क, गली एवं जल प्रबंधन अनुकरणीय था। वर्तमान नगरों में भी मुख्य सड़क के निर्माण पर विशेष बल दिया जाता है। उसी प्रकार, गली एवं जल निकासी की प्रणाली भी नगर निर्माण की आदर्श योजना में शामिल होती है। फिर हड़प्पाई लोगों ने बड़ी संख्या में पकाई गई ईंटों का प्रयोग किया था वर्तमान में भी निर्माण कार्य में ईंटों का महत्व बना हुआ है। इसके अतिरिक्त हड़प्पाई नगरों की ही तरह वर्तमान भारतीय नगरों का भी बहु- सांस्कृतिक चरित्र है।

किंतु कुछ बातों में हम हड़प्पाई नगरीकरण से सीख नहीं ले पाए हैं। उदाहरण के लिए, हड़प्पाई लोगों का गवर्नेंस कहीं बेहतर प्रतीत होता है तथा उनका क्रियान्वयन पक्ष भी चुस्त रहा है। अंत में वर्तमान नगर निर्माण की रूपरेखा तैयार करते हुए हमें हमें इस बात के प्रति सावधान रहने की की जरूरत है कि आखिर क्यों अपनी तमाम विलक्षणताओं के बावजूद भी हड़प्पाई नगर धारणीय (Sustainable) नहीं हो सके थे।

■ **हडप्पाई संस्कृति (धर्म एवं कला):**

धर्म के दो रूप होते हैं- अनुष्ठानिक (कर्मकांड) एवं तत्व चिंतन (दार्शनिक पक्ष)। साहित्यिक साक्ष्य के अभाव में हमें हड़प्पाई धर्म का दार्शनिक पक्ष तो ज्ञात नहीं हो पाता, परन्तु पुरातत्व के आधार पर हम हड़प्पाई धर्म के कर्मकांड वाले पक्ष को जान सके हैं, जो इस प्रकार है-

- इस सभ्यता में लोग **उत्पादक शक्ति की पूजा** करते थे अर्थात् मातृ देवी की पूजा, पृथ्वी की पूजा, अग्नि की पूजा अथवा यज्ञ, इन सभी का संबंध उत्पादक शक्ति से रहा था।
- हड़प्पाई धर्म का स्वरूप **बहुदेववादी** था अर्थात् एक से अधिक देवताओं की पूजा होती थी, यथा- पाशुपत शिव की पूजा, मातृ देवी की पूजा, पृथ्वी पूजा, पशु पूजा, नाग पूजा, अग्नि पूजा, जल पूजा आदि।
- हड़प्पाई लोगों में संभवतः **मूर्ति पूजा** का प्रचलन था क्योंकि बड़ी संख्या में प्रस्तर, ताँबे एवं कांस्य तथा पकाई गयी मिट्टी की मूर्तियाँ मिली हैं, परन्तु उस काल में मंदिर का साक्ष्य नहीं मिलता। फिर मूर्ति पूजा का संबंध **भक्ति-भाव** से जोड़ा जाता है।
- धर्म के क्षेत्र में **स्त्री तत्व की प्रधानता** दिखती है।
- बच्चे के गले में पड़ी ताबीज़ जीववाद की ओर संकेत करती है।

■ **भारतीय धार्मिक परम्परा में हड़प्पाई धर्म की विरासतः**

यद्यपि हड़प्पाई नगरों का पतन हो गया, परन्तु हड़प्पाई धर्म के तत्व भारतीय धार्मिक परम्परा में घुल-मिल गए। जिसे हम वर्तमान में हिन्दू धर्म के नाम से जानते हैं, उस पर केवल वैदिक धर्म का ही नहीं, बल्कि हड़प्पाई धर्म का भी प्रभाव है। हड़प्पाई धर्म की कुछ प्रमुख विशेषताएँ, यथा- मातृ देवी की पूजा, पाशुपत शिव की पूजा, अग्नि पूजा, जल पूजा, पशु पूजा, सर्प पूजा, मूर्ति पूजा, भक्ति की अवधारणा, सभी वर्तमान हिन्दू धर्म में दिखलाई पड़ती हैं।

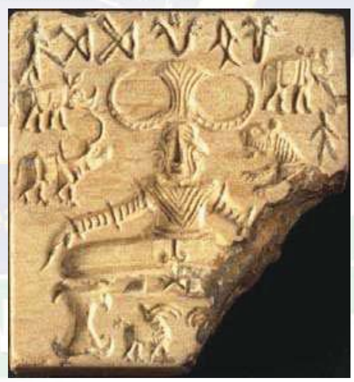

पशुपति मुहर एवं मातृदेवी की मूर्ति

■ **हड़प्पाई कला की विशेषताएँ:**

हड़प्पाई लोगों की सौन्दर्य अभिरुचि उनकी कला के माध्यम से व्यक्त होती है। हड़प्पाई लोगों ने बड़ी संख्या में कलात्मक उत्पाद दिए; ये कलाकृतियाँ मुहर, मनके, कांस्य कला, प्रस्तर कला तथा मृण्मूर्तियों के रूप में मिलती है।

हडप्पाई लोगों की मुहरें सामान्यतः सेलखड़ी से निर्मित होती थीं। मुहरें वर्गाकार अथवा आयताकार होती थीं तथा उन पर पशु की आकृति एवं लिपि उत्कीर्ण की जाती थी। इनका उपयोग व्यापारिक वस्तुओं की पहचान के लिए होता था। उसी प्रकार, दूसरे तरह की कलाकृतियाँ मनके थीं। अधिकांश मनके

सेलखड़ी (Steatite) से निर्मित होते थे। हालांकि अर्द्ध बहुमूल्य पत्थर तथा सोने एवं चाँदी से निर्मित मनके के भी साक्ष्य मिलते हैं। उनका उपयोग गले में पहनने वाले आभूषण की तरह होता था।

धातुकला में हड़प्पाई लोग काफी आगे थे। हमें ताँबे और काँसे से निर्मित मानव तथा पशु मूर्तियाँ मिलती हैं। इनमें एक बेहतरीन मूर्ति है चन्हुदड़ो से प्राप्त नर्तकी की कांस्य मूर्ति। यह कला का उत्कृष्ट उदाहरण है। इसके निर्माण में द्रवी मोम विधि का प्रयोग दिखता है।

हड़प्पा सभ्यता में हमें **प्रस्तर कला** का भी उदाहरण मिलता है। अधिकांश प्रस्तर मूर्तियाँ खण्डित अवस्था में मिली हैं। इनमें बेहतरीन मूर्ति है मोहनजोदड़ो से प्राप्त दाढ़ी वाले साधु की मूर्ति, जिसने तिपतिया चादर ओढ़ रखी है।

मोहनजोदड़ो से प्राप्त पुरोहित एवं नर्तकी की मूर्ति

हड़प्पा सभ्यता के अन्तर्गत बड़ी संख्या में मृण्मूर्तियाँ मिली हैं। इनमें मानव, पशु, पक्षी सभी की मूर्तियाँ मिली हैं। सामान्यतः पुरुषों की तुलना में महिलाओं की मूर्तियों की संख्या अधिक है। ये मिट्टी की पकाई गई मूर्तियाँ होती थीं। इनका उपयोग या तो पूजा के लिए होता था या फिर इनका उपयोग बच्चों के खिलौने के रूप में होता था। किन्तु हाल में एक धारणा उभरकर आई है कि प्रायः नगरीय जीवन में मृण्मूर्तियों का उपयोग घरों को सजाने के लिए होता है।

हड़प्पाई मुहर एव मनके

- **भारतीय सभ्यता में हड़प्पाई सभ्यता की विरासतः**

हड़प्पा सभ्यता एक उन्नत नगरीय चरण को दर्शाती है। लगभग 1900 ई.पू. में इस सभ्यता का पतन हुआ। आरम्भ में सभ्यता के पतन का अर्थ सभ्यता की समाप्ति से लगाया गया था, परन्तु हाल के दशकों में यह धारणा बदल चुकी है। अब सभ्यता के पतन का अर्थ लगाया जाता है सभ्यता के **रूप परिवर्तन** से अर्थात् यह नगरीय चरण से ग्रामीण चरण में पहुँच गई, किन्तु समाप्त नहीं हुई।

अगर हम गहराई से परीक्षण करते हैं तो पाते हैं कि इस सभ्यता की विरासत आज भी हमारी संस्कृति में मौजूद है। इसे निम्नलिखित रूप में समझा जा सकता है-

1. अगर हम कृषि के क्षेत्र में देखते हैं, तो हल का प्रयोग, फसलों के प्रकार तथा खेती करने का तरीका सभी पर हड़प्पाई प्रभाव दिखता है।
2. शिल्प एवं कारीगरी के क्षेत्र में मिट्टी के बर्तन के निर्माण से लेकर ताँबे और काँसे को गलाने की पद्धति हड़प्पा सभ्यता से आज तक चली आ रही है।
3. नगरीय स्थल के आयोजन; यथा- सड़कों, नालियों, गलियों और घरों के निर्माण पर भी हड़प्पाई प्रभाव दिखता है।
4. लोगों के खान-पान, रहन-सहन, सौन्दर्य प्रसाधन सभी पर हड़प्पाई प्रभाव देखा जा सकता है। उदाहरण के लिए, कागज, सिन्दूर आदि का प्रयोग।
5. धर्म के क्षेत्र में हड़प्पाई धर्म को हिन्दू धर्म का पूर्वगामी माना जाता है। इसमें पाशुपत शिव की पूजा से लेकर, मातृ देवी की पूजा आदि सभी विशेषताएँ मौजूद थीं।
6. कला के क्षेत्र में भी हड़प्पाई प्रभाव को कम करके नहीं देखा जा सकता। उदाहरण के लिए, ताम्र और कांस्य मूर्तियाँ, प्रस्तर से निर्मित मूर्तियाँ और मृण्मूर्तियाँ सभी हड़प्पाई परम्परा से लेकर वर्तमान काल तक चलती रही हैं।

- **हड़प्पाई लोगों का वैज्ञानिक दृष्टिकोणः**

- हड़प्पाई लोगों को अंकमाला का ज्ञान था।
- वे गणना के लिए 16 गुणकों का प्रयोग करते थे।
- हड़प्पाई लोग गणना में दशमलव पद्धति एवं द्विभाजन प्रणाली का प्रयोग करते थे।
- माप के लिए फिट एवं क्यूबिक का उपयोग किया जाता था।
- उन्हें ग्रह एवं नक्षत्रों का भी ज्ञान था।
- हड़प्पाई लोगों को ताँबे एवं टिन को गलाकर कांस्य बनाने की पद्धति का ज्ञान था।

प्रश्नः मिस्र, मेसोपोटामिया और यूनान की सभ्यता के विपरीत भारत की प्राचीन संस्कृति अविच्छिन्न रूप में चलती रही। टिप्पणी कीजिए।

उत्तरः अन्य समकालीन संस्कृतियों की तुलना में भारत की प्राचीन संस्कृति की स्थिति निश्चय ही भिन्न रही। जहाँ मिस्र, मेसोपोटामिया और यूनान की प्राचीन संस्कृतियाँ एक बार

विस्मृत होकर फिर दुबारा प्रकट हुई थीं, वहीं भारत की प्राचीन संस्कृति कुछ व्यवधानों के बावजूद निरन्तर चलती रही।

मिस्र एवं मेसोपोटामिया में एशिया की प्राचीनतम सभ्यताएँ विकसित हुई थीं, परन्तु इस्लाम ने उन क्षेत्रों को जीतकर उनका तीव्र इस्लामीकरण कर दिया। पुरानी सभ्यताएँ दब गयीं और आधुनिक काल में आकर ही लोग उन सभ्यताओं से परिचित हो सके। उसी प्रकार, यूनान और रोम की क्लासिकल सभ्यता यूरोप में ईसाई धर्म के प्रसार के साथ दब गयी थी। फिर आगे 16वीं सदी में यूरोपीय पुनर्जागरण के पश्चात् ही लोग उस क्लासिकल सभ्यता की धरोहर को समझ सके।

इसके विपरीत भारत की प्राचीन संस्कृति कभी भी विस्तृत नहीं हुई। आरम्भ में जो भी बाह्य आक्रमणकारी आए, वे भारतीय संस्कृति में ही घुल मिल गये। फिर 1000 ई. के पश्चात् इस्लाम एक आक्रामक धार्मिकता लेकर आया, परन्तु वह भारत में बड़े पैमाने पर कोई धर्मान्तरण नहीं करा सका। इसलिए भारत में मुस्लिम अल्पसंख्यक बने रहे और भारत की प्राचीन संस्कृति का इस्लामीकरण नहीं हो सका। मस्जिद के साथ मंदिर का सह-अस्तित्व बना और 5000 वर्ष पुराने वैदिक मंत्र हिन्दुओं के घरों में पढ़े जाते रहे।

इस प्रकार, हम पाते हैं कि भारत की प्राचीन संस्कृति विलक्षण एवं विशिष्ट बनी रही।

मॉडल प्रश्नः

1. *'वैसे तो लगभग 1900 ई.पू. तक हड़प्पा सभ्यता का पतन हो गया, परन्तु हड़प्पा सभ्यता की विरासत भारतीय संस्कृति में बाद में भी विद्यमान रही।' इस कथन का परीक्षण कीजिए।*

हड़प्पा सभ्यता के पश्चात् की अवस्था

ताँबे का युग
- ताम्रपाषााण कालीन संस्कृतियाँ (1900 ई.पू. से 1100 ई.पू.)
- परवर्ती हड़प्पा संस्कृतियाँ (1900 ई.पू. से 1300 ई.पू.)
- चित्रित धूसर मृदभांड (PGW) की आरंभिक अवस्था
- महापाषााण कालीन संस्कृति की आरंभिक अवस्था

लौह युग (1100 ई.पू. के पश्चात्)
- चित्रित धूसर मृदभांड (PGW) का दूसरा चरण
- दक्षिण भारत की महापाषााण कालीन संस्कृति
- NBPW संस्कृति

हड़प्पा सभ्यता के पतन के पश्चात् भारतीय उपमहाद्वीप में विभिन्न संस्कृतियों की निम्नलिखित स्थिति रही। जैसाकि हम जानते हैं ताँबे का चलन लगभग 1100 ई.पू अथवा 1000 ई.पू. तक रहा था, उसके बाद लोहे का प्रचलन आरम्भ हुआ। अतः विभिन्न संस्कृतियों को ताँबे के चरण एवं लौह चरण में बाँटकर देख सकते हैं।

■ **ताम्रयुगः**- इसके अन्तर्गत हम निम्नलिखित संस्कृतियों की चर्चा कर सकते हैं-

- **ताम्रपाषाण कालीन संस्कृतियाँ**- हड़प्पा सभ्यता के पतन के पश्चात् हड़प्पाई शिल्पी विभिन्न क्षेत्रों में फैल गए। इससे ताँबे के ज्ञान का और अधिक प्रसार हुआ। यह एक प्रमुख कारण था कि हड़प्पा सभ्यता के पतन के पश्चात् ताम्रपाषाण कालीन बस्तियों और संस्कृतियों का और भी अधिक प्रसार देखा गया। उदाहरण के लिए, मध्य भारत में कायथा संस्कृति एवं मालवा संस्कृति, दक्षिणी-पूर्वी राजस्थान में अहार अथवा बनास संस्कृति तथा महाराष्ट्र में जोर्वे संस्कृति।
- **परवर्ती हड़प्पा संस्कृति**- ये संस्कृतियाँ भी अपने स्वरूप में ताम्रपाषाण कालीन थीं, परन्तु चूँकि इनका विकास हड़प्पा सभ्यता वाले क्षेत्र में हुआ था और ये हड़प्पा सभ्यता की विरासत को लेकर चल रही थीं, इसलिए इन्हें परवर्ती हड़प्पा संस्कृति का नाम दिया जाता है। इन संस्कृतियों में हम पंजाब, हरियाणा एवं बहावलपुर में कब्रगाह H-संस्कृति, चन्हुदड़ो में झूकर संस्कृति, गुजरात में लाल चमकीले मृद्भाण्ड संस्कृति का विवरण दे सकते हैं।
- **चित्रित धूसर मृदभांड (पी.जी.डब्ल्यू) संस्कृति की आरंभिक अवस्था**- इसका संबंध वैदिक आर्यों से जोड़ा जाता है। यह संस्कृति दो चरणों में विकसित हुई- पहला चरण ताम्र चरण है, जबकि दूसरा चरण लौह चरण। चित्रित धूसर मृदभांड स्थल ऊपरी दोआब के अतिरिक्त गंगा-सिंधु विभाजक तथा सतलज नदी के किनारे तक फैले हुए थे। अब तक इससे संबंधित लगभग 750 स्थल प्रकाश में आये हैं। इनमें से चार स्थल ऐसे हैं जहाँ से चित्रित धूसर मृद्भांड के साक्ष्य तो मिलते हैं, परन्तु लोहे के उपकरण प्राप्त नहीं होते हैं, जैसे-भगवानपुरा, दधेरी, नागर तथा कटपालन। अतः इन स्थलों को परवर्ती हड़प्पा सभ्यता का विस्तार माना गया है।
- **महापाषाण कालीन संस्कृति की आरम्भिक अवस्था**- महापाषाण कालीन संस्कृति के लोग सम्पूर्ण भारतीय उपमहाद्वीप में फैले हुए थे। महापाषाण कालीन संस्कृति ऐसे समुदाय से जुड़ी हुई थी, जो मृत्यु के बाद शानदार कब्र भी बनाते थे। इस संस्कृति का आरंभिक चरण भी ताम्र चरण से जुड़ा हुआ है। मेगालिथिक लोगों से पूर्व, नवपाषाणिक तथा ताम्रपाषाणिक काल के लोगों ने घर के अंदर ही

शवाधान की पद्धति जारी रखी थी, किंतु मेगालिथिक संस्कृति से जुड़े हुए लोगों ने अपनी कब्र रिहायशी इलाके से बाहर स्थापित की।

- भारतीय उपमहाद्वीप में मेगालिथिक स्थल की सघन अभिव्यक्ति दक्षिण भारत में हुई है, किन्तु भारतीय उपमहाद्वीप के अन्य क्षेत्रों में भी मेगालिथिक स्थल प्राप्त हुए हैं। उदाहरण के लिए, विन्ध्य क्षेत्र में इलाहाबाद, बाँदा, मिर्जापुर और वाराणसी, पूर्वोत्तर भारत में मणिपुर से मेगालिथिक स्थल के अनेक साक्ष्य मिले हैं। इसी प्रकार जयपुर के निकट देवासा तथा फतेहपुर सीकरी के निकट खेड़ा से भी मेगालिथिक स्थल प्राप्त हुए हैं।

■ **लौह युग (1100 ई.पू. के पश्चात्)**

- **पी.जी.डब्ल्यू संस्कृति का दूसरा चरण**– इस संस्कृति का पहला चरण ताम्र चरण से जुड़ा हुआ था तथा दूसरा चरण लौह युग से। इस संस्कृति का आरंभिक साक्ष्य अहिच्छत्र से प्राप्त हुआ है। जखेरा से खेती के उपकरण; जैसे– हँसिया तथा कुदाल की प्राप्ति हुई है। हस्तिनापुर से चावल तथा अतरंजीखेड़ा से जौ एवं गेहूँ प्राप्त हुआ है।
- **दक्षिण भारत की महापाषाण कालीन संस्कृति**– यह संस्कृति आवश्यक रूप में लौह चरण से जुड़ी हुई थी, उदाहरण के लिए, मास्की, ब्रह्मगिरी, नागार्जुनकोंडा, इसके अतिरिक्त महाराष्ट्र में जूनापानी, माहुरझारी आदि।
- **एन.बी.पी.डब्ल्यू संस्कृति**– लगभग 800 ई.पू. में उत्तरी काले पॉलिशदार मृदभांड संस्कृति (NBPW) का विकास हुआ। यह बुद्ध काल से संबंधित थी तथा यह सीधे लौह चरण में आरम्भ हुई थी। इससे संबंधित स्थलों का मुख्य जमाव पूर्वी उत्तर प्रदेश तथा उत्तरी बिहार में देखा जा सकता है, किन्तु इन मृदभांडों का विस्तार पश्चिम में तक्षशिला तथा दक्षिण में अमरावती तक भी देखा जा सकता है। कालांतर में यह संस्कृति द्वितीय नगरीकरण, पक्की ईटों एवं आहत मुद्रा से जुड़ जाती है।

■■■

भारतीय संस्कृति एवं विरासत

खंड-2
(Part-II)

- वैदिक काल (1500 ई.पू.-600 ई.पू.)
- बुद्ध काल (600 ई.पू.-400 ई.पू.)
- मौर्य काल (400 ई.पू.-200 ई.पू.)
- मौर्योत्तर काल (200 ई.पू.-300 ई.)
- गुप्त काल (300 ई.-600 ई.)
- गुप्तोत्तर काल (600 ई.-750 ई.)
- पूर्व मध्यकाल (750 ई.-1200 ई.)

■ **परिवर्तन को रेखांकित करना-**

- **राजनीतिक:** 1. राज्य, साम्राज्य, राजवंश एवं शासक
  2. प्रशासनिक संरचना
- **आर्थिक:** शिल्प एवं उद्योग, व्यापार, मौद्रिक लेनदेन तथा नगरीकरण।
- **सामाजिक:** वर्ण एवं जाति, महिलाओं, शूद्रों एवं अछूतों की दशा।
- **सांस्कृतिक:** धर्म एवं दर्शन, भाषा एवं साहित्य, कला- स्थापत्य कला, मूर्तिकला, चित्रकला, संगीत एवं नृत्य कला, विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी।

खंड-2
उपखंड-1

वैदिक काल से पूर्व मध्यकाल तक राजनीतिक दशा एवं दिशा
(Political scenario from Vedic perod to Pre Medieval Period)

■ वैदिक काल (1500 ई.पू. से 600 ई.पू.): राज्य, साम्राज्य, राजवंश एवं शासक

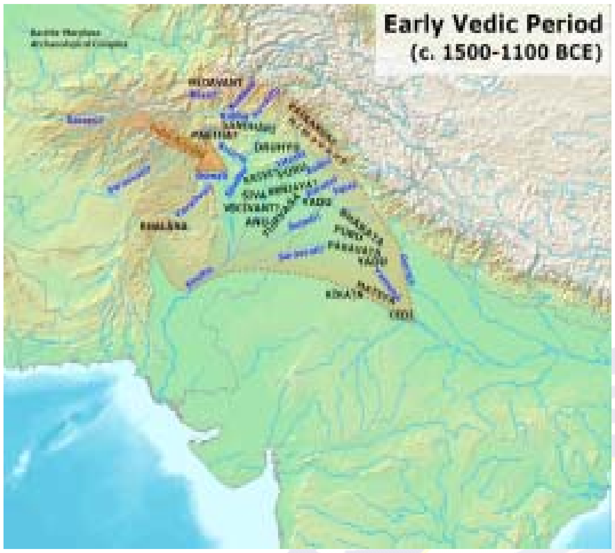

'आर्य' शब्द नस्लीय समूह की जगह भाषाई समूह का व्यंजक है। वैदिक आर्यों का आगमन बाहर से हुआ था। माना जाता है कि लगभग 1500 ई.पू. में वैदिक आर्यों का आगमन मध्य एशिया से होते हुए पश्चिम एशिया, ईरान, इराक से होते हुए भारत की ओर हुआ। 1400 ई.पू. के मितन्नी अभिलेख अथवा बोगजकोई अभिलेख से आर्यों के आगमन की सूचना मिलती है। इस अभिलेख में इन्द्र, मित्र, वरुण एवं नासत्य नामक देवता का जिक्र किया गया है।

आरम्भ में आर्यों के आगमन की व्याख्या आर्य आक्रमण के संदर्भ में करने का प्रयास किया गया था, परन्तु वह धारणा खण्डित हो चुकी है। अब उसकी जगह आर्यों के आप्रवर्जन (migration) का सिद्धान्त दिया गया है। इसका अर्थ है कि आर्य अलग-अलग समय में और छोटे-छोटे कबीले में बँटकर आए थे। पाँच कबीलों के समूह को 'पंचजन' कहा जाता था। इनमें यदु, द्रुहु, अनु, पुरु एवं तुर्वस थे। इनसे पृथक 'भरत' कबीला था, जो सबसे महत्वपूर्ण और शक्तिशाली था। इसका संबंध अग्नि पूजा से जोड़ा जाता है।

ऋग्वैदिक आर्य अर्द्ध-घुमक्कड़ जीवन जीते थे और वे निम्नलिखित क्षेत्रों में फैले हुए थे- पूर्वी अफगानिस्तान, पंजाब, हरियाणा, कश्मीर, राजस्थान एवं पश्चिमी उत्तर प्रदेश। ऋग्वेद में वर्णित नदियों के नाम से हमें ऋग्वैदिक आर्यों के प्रसार की सूचना मिलती है। ऋग्वेद में ही मूजवंत पर्वत की चर्चा है, जिसकी पहचान हिमालय से की गई है। सम्भवत: यमुना नदी ऋग्वैदिक आर्यों की पूर्वी सीमा थी क्योंकि ऋग्वेद में यमुना की चर्चा तीन बार, जबकि गंगा की चर्चा एक ही बार हुई है। ऋग्वेद में सतलज नदी एवं यमुना नदी के बीच के भू-भाग को 'ब्रह्मवर्त' का नाम दिया गया है।

■ उत्तर वैदिक काल (1000 ई.पू.-600 ई.पू.):

उत्तर वैदिक काल में आकर वैदिक आर्यों का विस्तार गंगा-यमुना ऊपरी दोआब में हुआ। ऊपरी दोआब के उत्तरी भाग में कुरु राज्य की स्थापना हुई। इस वंश के शासक के रूप में राजा परीक्षित और जन्मेजय का जिक्र मिलता है। कहा जाता है कि जन्मेजय ने दो सर्प सत्र यज्ञ कराए थे। ऊपरी दोआब के मध्य भाग में पांचाल राज्य की स्थापना हुई। प्रवाहण जैवालि नामक शासक पांचाल राज्य से ही संबद्ध था। उत्तर वैदिक काल के अन्त में सभ्यता का प्रसार मध्य गंगा घाटी में हुआ। इस क्रम में सरयू नदी के किनारे कौशल राज्य, वरणवती नदी के किनारे काशी राज्य और सदानीरा नदी (गंडक) के किनारे विदेह माधव ने विदेह राज्य की स्थापना की। इसकी सूचना हमें शतपथ ब्राह्मण ग्रंथ से मिलती है।

■ बुद्ध काल अथवा महाजनपद काल (600 ई.पू.-500 ई.पू.)

छठी सदी ई०पू० का काल गंगा घाटी में महान परिवर्तनों का काल था। यह वह काल था जब कबाइली समाज राजव्यवस्था के अंतर्गत संगठित होने लगा। इस काल तक आकर बड़े-बड़े राज्यों की स्थापना हुई। इन्हें महाजनपद का नाम दिया जाता है। एक बौद्ध ग्रंथ अंगुत्तर निकाय में 16 महाजनपदों का जिक्र हुआ है, जिनमें 14 राजतंत्र थे, जबकि दो गणतंत्र थे। ये निम्नलिखित हैं-

A - अवन्ति, अंग, अश्मक

C - चेदि (यमुना नदी के पास)

G - गांधार

K - काशी, कौशल, कुरू, कंबोज

M - मगध, मल्ल, मत्स्य

P - पांचाल

S - शूरसेन

V - वज्जि संघ, वत्स

इन महाजनपदों में मगध, अवंति, वत्स और कौशल सर्वाधिक शक्तिशाली थे। अगर प्रसार की दृष्टि से देखें, तो उत्तर-पश्चिम में कम्बोज एवं गांधार, पूर्व में अंग तथा दक्षिण में अश्मक (गोदावरी नदी के निकट) महाजनपद स्थित थे। लेकिन, आगे मगध महाजनपद ने अपने विस्तार के क्रम में 14 महाजनपदों को अपने में समाहित कर लिया, जिसके परिणामस्वरूप आगे चलकर भारत का प्रथम साम्राज्य, मगध साम्राज्य स्थापित हुआ।

- **मगध साम्राज्य का विस्तार** -

मगध साम्राज्य उत्तर-पश्चिम में व्यास नदी से लेकर दक्षिण में गोदावरी नदी तक फैला हुआ था। मगध साम्राज्य के विस्तार में भौतिक कारक और शासकों की भूमिका, दोनों का योगदान रहा था। भौतिक कारक में हम लौह भण्डार की उपलब्धता, गज सेना, मगध क्षेत्र की आर्थिक समृद्धि आदि की भूमिका को मान सकते हैं। वहीं शासकों की भूमिका को निम्नलिखित रूप में समझ सकते हैं-

- **बिम्बिसार**- बिम्बिसार के काल से ही राजवंश की ऐतिहासिकता स्पष्ट होती है। यह हर्यक वंश से जुड़ा हुआ था। यह लगभग छठी सदी ई.पू. के मध्य में आया था। इसने सैनिक प्रसार पर बल दिया तथा अंग महाजनपद को जीतकर तथा कोशल राज्य से दहेज के रूप में काशी को प्राप्त कर, मगध क्षेत्र का विस्तार किया था।
- **अजातशत्रु**- बिम्बिसार के उत्तराधिकारी अजातशत्रु ने मगध साम्राज्यवाद की परम्परा को आगे बढ़ाया। सर्वप्रथम उसने 16 वर्षों के निरन्तर प्रयत्नों के पश्चात् वज्जि संघ को जीतकर मगध साम्राज्य में मिला लिया। फिर, आगे कोशल महाजनपद के विरूद्ध भी उसे सफलता मिली तथा उसने कोशल को भी मगध साम्राज्य में मिला लिया।
- **उदयिन**- उसके उत्तराधिकारी उदयिन ने पाटलिपुत्र की स्थापना की।
- **शिशुनाग**- इसके अन्तर्गत मगध साम्राज्य का व्यापक प्रसार हुआ। शिशुनाग को एक शक्तिशाली महाजनपद अवंति के विरूद्ध सफलता प्राप्त हुई और उसने 100 वर्षों की प्रतिस्पर्द्धा का अंत करते हुए अवन्ति को मगध साम्राज्य में मिला लिया।
- **महापद्मनंद**- नंद वंश की स्थापना के साथ मगध साम्राज्य को और भी प्रगति मिली। महापद्मनंद एक महत्वपूर्ण शासक के रूप में स्थापित हुआ। उसने पूरब में कलिंग की ओर विस्तार किया तथा कलिंग को जीतकर मगध साम्राज्य में मिला लिया।

इस प्रकार, मगध महाजनपद कालीन भारत का पहला साम्राज्य बना जो उत्तर-पश्चिम में व्यास नदी से पूरब में बंगाल की सीमा तक और दक्षिण में गोदावरी नदी तक फैल गया।

- **उत्तर-पश्चिम में होने वाली राजनीतिक उथल-पुथल तथा ईरानी एवं यूनानी आक्रमण:**

लगभग 516 ई.पू. में अखमिनी सम्राट डेरियस प्रथम ने उत्तर-पश्चिम भारत पर हमला कर उत्तर-पश्चिमी भारत के भू-भाग को जीत लिया। एक यूनानी विद्वान हेरोडोटस हमें सूचना देता है कि भारतीय क्षेत्र से उसे 307 टैलेंट सोना प्रति वर्ष राजस्व के रूप में प्राप्त होता था।

ईरानी साम्राज्य के पतन के पश्चात् सिकन्दर का उद्भव हुआ और सिकन्दर ने भी उत्तर-पश्चिम भारत पर हमला किया। उसने सिंधु नदी को पार किया। सिन्धु एवं झेलम के बीच तक्षशिला (गांधार) के शासक राजा आम्भी ने समर्पण कर दिया। फिर आगे उसने झेलम एवं चेनाब के बीच राजा पोरस को पराजित किया। उस समय उत्तर-पश्चिम में राजतंत्र एवं गणतंत्र दोनों प्रकार के राज्य उपस्थित थे। गणतंत्र में कठ, सौभूति, अम्बष्ठ, मालव, क्षुद्रक आदि की चर्चा कर सकते हैं। सिकन्दर

पूरब की तरफ बढ़ते हुए व्यास नदी तक पहुँच गया। उसके आगे मगध साम्राज्य था। अत: उसकी सेना ने आगे बढ़ने से इनकार कर दिया तथा उसे वापस लौटना पड़ा। भारत से लौटने से पूर्व उसने निम्नलिखित प्रशासनिक प्रबंधन किया-

- सिंधु नदी के पश्चिम का भाग गवर्नर फिलिप को, सिंधु एवं झेलम नदी के बीच का भू-भाग आम्भी को तथा झेलम एवं व्यास नदी के बीच का भू-भाग पोरस को सौंप दिया। उसने पर्याप्त संख्या में यूनानी सैनिकों को इन नगरों की सुरक्षा के लिए नियुक्त कर दिया। भारत से वापस लौटते समय रास्ते में सिकन्दर की मृत्यु हो गई।

■ मौर्य काल (400 ई.पू.-200 ई.पू.)

- **चन्द्रगुप्त मौर्य (323 ई.पू.-298 ई.पू.)-**

मौर्य वंश का संस्थापक चन्द्रगुप्त मौर्य को माना जाता है। उसने एक वृहद् मौर्य साम्राज्य की स्थापना की और यह कार्य उसने कई चरणों में पूरा किया-

1. प्रथम चरण में सिकन्दर की अनुपस्थिति का लाभ उठाकर उसने उत्तर-पश्चिम में सिन्धु नदी और व्यास नदी के बीच के भू-भाग को जीता। इसमें उसे अपने गुरू चाणक्य की सहायता मिली। इसकी सूचना हमें विशाखदत्त की कृति 'मुद्राराक्षस' से मिलती है।
2. दूसरे चरण में उसने लगभग 321 ई.पू. में मगध के शासक धनानंद का तख्ता पलटकर मगध साम्राज्य पर कब्जा कर लिया। इससे उसकी भौगोलिक सीमा दक्षिण में गोदावरी नदी तक पहुँच गई।
3. तीसरे चरण में उसने सेल्युकस निकेटर को लगभग 305 ई.पू. में सिन्धु नदी के किनारे पराजित किया। इसके एवज में उसे एरियाना का क्षेत्र मिला, जिसमें काबुल, कांधार, हेरात एवं बलूचिस्तान के भू-भाग शामिल थे। अत: अब उत्तर-पश्चिम में मौर्यों की सीमा हिन्दूकुश क्षेत्र तक पहुँच गई। सेल्युकस के साथ उसके राजनयिक संबंध स्थापित हुए तथा सेल्युकस ने राजदूत के रूप में पाटलिपुत्र दरबार में मेगस्थनीज को भेजा।
4. इस चरण में चन्द्रगुप्त मौर्य ने गोदावरी नदी से दक्षिण में कर्नाटक के ब्रह्मगिरी तक के क्षेत्र को जीता।

- **बिन्दुसार (298 ई.पू.-273 ई.पू.)**

चन्द्रगुप्त के उत्तराधिकारी बिंदुसार ने भी पश्चिमी पड़ोसियों के साथ संपर्क बनाये रखा। ऐसा माना जाता है कि सीरिया के समकालीन शासक एंटियोकस प्रथम से उसने तीन वस्तुओं की माँग की थी- अंजीर, मदिरा एवं दार्शनिक। बताया जाता है कि दो वस्तुएं तो उसे मिल गयीं, किंतु सीरियाई शासक ने दार्शनिक भेजने से इंकार कर दिया क्योंकि उसका यह कदम अपने देश की विधि व्यवस्था के विपरीत जाता। बिंदुसार के दरबार में एक सीरियाई राजदूत डायमेकस रहा था। बिंदुसार के संबंध मिस्र के शासक टॉलेमी से भी रहे थे क्योंकि उसके दरबार में टॉलेमी का राजदूत डायोनिसियस भी रहा था। दक्षिण के पड़ोसियों से उसके क्या सम्बंध थे, यह स्पष्ट नहीं है। यद्यपि कुछ विद्वान प्रायद्वीपीय भारत को जीतने का श्रेय बिंदुसार को ही देते हैं।

- **अशोक (269 ई.पू.-232 ई.पू.)**

अशोक ने कलिंग क्षेत्र के महत्व को देखते हुए अपने शासन के 9वें वर्ष में कलिंग को जीत लिया। फिर उसने अपने साम्राज्यवाद की प्राथमिकता बदल डाली। उसने नए क्षेत्र की विजय के बदले जीते गए क्षेत्रों के संगठन पर अधिक बल दिया। इस प्रकार, मौर्यों के अधीन एक विशाल साम्राज्य की स्थापना हुई, जो उत्तर-पश्चिम में हिन्दुकुश क्षेत्र से लेकर पूरब में बंगाल एवं दक्षिण में ब्रह्मगिरी तक पहुँच गया था। यह आगे आने वाले युगों के लिए एक आदर्श मॉडल बन गया।

■ मौर्योत्तर काल (200 ई.पू.-300 ई.)

इस काल में बहुराज्यीय व्यवस्था कायम हुई अर्थात् एक मौर्य साम्राज्य की जगह अनेक राज्य अस्तित्व में आए। इन्हें हम तीन श्रेणियों में बाँटकर देख सकते हैं; यथा- मौर्यों के उत्तराधिकारी राज्य, विदेशी आक्रमण से स्थापित राज्य तथा राज्य निर्माण के माध्यम से स्थापित राज्य।

- **मौर्यों के उत्तराधिकारी राज्य–**

1. **शुंग राज्य (185 ई.पू.–75 ई.पू.)–** इसका संस्थापक मौर्यों का ब्राह्मण सेनापति पुष्यमित्र शुंग था जिसने मौर्य शासक बृहद्रथ की हत्या कर शुंग वंश की स्थापना की। उसके दस उत्तराधिकारी हुए, तात्कालिक उत्तराधिकारी अग्निमित्र था, जिसके सम्मान में कालिदास ने 'मालविकाग्निमित्रम्' नामक रचना लिखी थी। इस वंश के एक शासक भागभद्र के दरबार में एक यूनानी शासक ने अपने राजदूत हेलियोडोरस को भेजा था, जिसने विदिशा नामक स्थान पर वासुदेव कृष्ण के सम्मान में एक 'गरुड़ ध्वज' की स्थापना की थी। इस वंश का अन्तिम शासक देवभूति था, जिसकी हत्या कर उसके ब्राह्मण मंत्री वासुदेव ने गद्दी पर कब्जा कर लिया।

2. **कण्व राज्य–** इस वंश का संस्थापक वासुदेव था। इस वंश के शासकों ने सिर्फ 45 वर्षों तक शासन किया (30 ई. पू. तक)। इसी अवधि में चार शासक हुए जो नाममात्र के थे। इनके नाम हैं– वसुदेव, भूमिमित्र (भूमित्र), नारायण और सुशर्मन। फिर सातवाहनों ने इसे उखाड़ फेंका।

- **विदेशी आक्रमणों के द्वारा स्थापित राज्य–**

मध्य एशियाई जनजातियों का उत्तर–पश्चिम एवं उत्तर भारत पर निरन्तर आक्रमण होता रहा था और इन आक्रमणकारियों के द्वारा नए–नए राज्य स्थापित किए जाते रहे–

- **इंडोग्रीक–** इंडोग्रीक के दो राजवंशों ने भारत में समानान्तर रूप में शासन किया– डेमेट्रियस एवं यूक्रेटाइड्स। इन्होंने अपनी राजधानी क्रमशः शाकल एवं तक्षशिला को बनाया। इन राजवंशों के विषय में हमें सूचना इनके सिक्कों के माध्यम से मिलती है क्योंकि पहली बार इन्हीं राजवंशों के द्वारा शासकों के नाम से सिक्के जारी किए गए थे। डेमेट्रियस के वंश का ही एक शासक मिनाण्डर था जिसका वाद–विवाद एक भारतीय संत नागसेन के साथ हुआ था और फिर उसका संग्रह हमें 'मिलिन्दपन्हो' नामक बौद्ध ग्रंथ में मिलता है। मिनाण्डर का साम्राज्य झेलम से मथुरा तक विस्तृत प्रतीत होता है। उसकी राजधानी स्यालकोट थी।

- **शक राज्य–** वैसे तो भारत में शकों की कई शाखाएँ शासन करती रही थीं, परन्तु सबसे महत्वपूर्ण शाखा थी पश्चिमी शाखा। इस शाखा से संबंद्ध सबसे महत्वपूर्ण शासक था रूद्रदमन। इसने सुदर्शन झील की मरम्मत कराई थी और संस्कृत का पहला बड़ा अभिलेख, जूनागढ़ अभिलेख के रूप में जारी किया था। जूनागढ़ अभिलेख में उसे 'भ्रष्ट–राज–प्रतिष्ठापक' कहा गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि गुप्त सम्राट समुद्रगुप्त के समान उसने भी पराजित राजाओं के राज्य पुनः वापस कर दिये थे।

- **पार्थियन राज्य–** भारत में इस वंश का शासक गंडोफर्निस था। इसके काल में प्रथम ईसाई संत, सेंट टॉमस, का आगमन हुआ था।

- **कुषाण राज्य–** कुषाण युची जनजाति से सम्बद्ध थे। इन्हें संगठित करने का काम प्रथम सदी में कुजुल कडफिसस (40 ई.) एवं विम कडफिसस ने किया था। विम कडफिसस एक शैव था, उसके सिक्कों पर शिव, त्रिशूल एवं नंदी का चित्र है। इस वंश का प्रमुख शासक कनिष्क हुआ। 78 ई. में उसके सिंहासनारोहण के साथ शक संवत् का प्रारम्भ माना जाता है। कनिष्क की दो राजधानियाँ थीं– पुरुषपुर (पेशावर) एवं मथुरा। उसके काल में ही कश्मीर के कुण्डलवन में चौथी बौद्ध संगीति हुई। फिर उसी सम्मेलन में महायान बौद्ध पंथ एक पृथक शाखा के रूप में विकसित हुआ, फिर पश्चिम एशिया और मध्य एशिया में महायान बौद्ध पंथ को फैलाने का श्रेय कनिष्क को दिया जा सकता है।

उसने एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की थी, जो मध्य एशिया में खुरासान से उत्तर भारत में बनारस तक फैला हुआ था। प्रसिद्ध रेशम मार्ग के भी एक भाग पर उसका नियंत्रण था अर्थात् वह रोमन साम्राज्य और चीनी साम्राज्य के समानान्तर रेशम मार्ग के संचालन में रुचि लेता था।

- **राज्य–निर्माण के माध्यम से स्थापित राज्य–**

- **सातवाहन राज्य–** सातवाहन शक्ति का संस्थापक सिमुक था, परन्तु इस वंश का सबसे महत्वपूर्ण शासक गौतमीपुत्र शातकर्णी को माना जाता है। इसने दूसरी सदी में शासन किया था। इसके विषय में हमें सूचना इसकी माता गौतमी

बलश्री के नासिक अभिलेख से मिलती है। इस वंश का अन्तिम महान शासक यज्ञश्री शातकर्णी हुआ। इस वंश की स्थापना महाराष्ट्र क्षेत्र में हुई थी और फिर इसका प्रसार आंध्र एवं कर्नाटक क्षेत्र में देखने को मिलता है। तीसरी सदी में इस वंश का पतन हो गया। फिर इसके पश्चात् महाराष्ट्र क्षेत्र में वाकाटक राज्य और आंध्र क्षेत्र में इक्ष्वाकु राज्य की स्थापना हुई। **वाकाटक राज्य** का संस्थापक विंध्यशक्ति था। उसका पुत्र प्रवरसेन भी एक शक्तिशाली शासक था तथा उसने 'सम्राट' की उपाधि ग्रहण की थी। इसके समय वाकाटकों का साम्राज्य उत्तर के मध्य प्रांत तथा बुंदेलखंड से लेकर दक्षिण में उत्तरी हैदराबाद तक फैल गया। प्रवरसेन के पश्चात् उसका साम्राज्य दो भागों में विभक्त हो गया। एक भाग उसके पुत्र गौतमीपुत्र की अध्यक्षता में नागपुर में स्थापित हुआ, तो दूसरा सर्वसेन एवं उसके उत्तराधिकारियों के अधीन बरार के वत्सगुल्मा में। नागपुर केन्द्र के एक शासक रूद्रसेन द्वितीय का ही विवाह गुप्त सम्राट चन्द्रगुप्त द्वितीय की पुत्री प्रभावती गुप्त से हुआ था।

- **कलिंग राज्य**– कलिंग के शासक खारवेल का अभिलेख हाथीगुम्फा से मिला है। यह उदयगिरी की पहाड़ियों में स्थित है जो भुवनेश्वर के निकट है। खारवेल को कलिंग का महान शासक माना जाता है तथा उसकी अनेक सैन्य एवं सांस्कृतिक उपलब्धियाँ बताई जाती हैं, परन्तु इन्हें जानने का एक मात्र स्रोत हाथीगुम्फा अभिलेख है। इसी से हमें ज्ञात होता है कि चेदि वंश का संस्थापक महामेघवाहन नामक व्यक्ति था तथा खारवेल इस वंश का महानतम शासक था, 24 वर्ष की आयु में तथा 24 ई.पू. में वह सिंहासन पर बैठा।
- **चोल, चेर, पांड्य राज्य**– सुदूर दक्षिण में, इस काल में चोल, चेर और पांड्य राज्यों की सूचना मिलती है। इनके विषय में हमें आरंभिक सूचना अशोक के अभिलेख से मिलती है, जहाँ चोल, चेर और केरलपुत्र का जिक्र है, परन्तु वास्तविक रूप में राज्य निर्माण की प्रक्रिया प्रथम सदी अथवा दूसरी सदी में सम्भव हुई। चूंकि इनके विषय में हमें सूचना आरम्भिक तमिल साहित्य से मिलती है, जिसे संगम साहित्य का नाम दिया जाता है, इसलिए इन्हें संगम राज्य भी कहा जाता है।

■ गुप्त काल (300 ई.– 600 ई.)

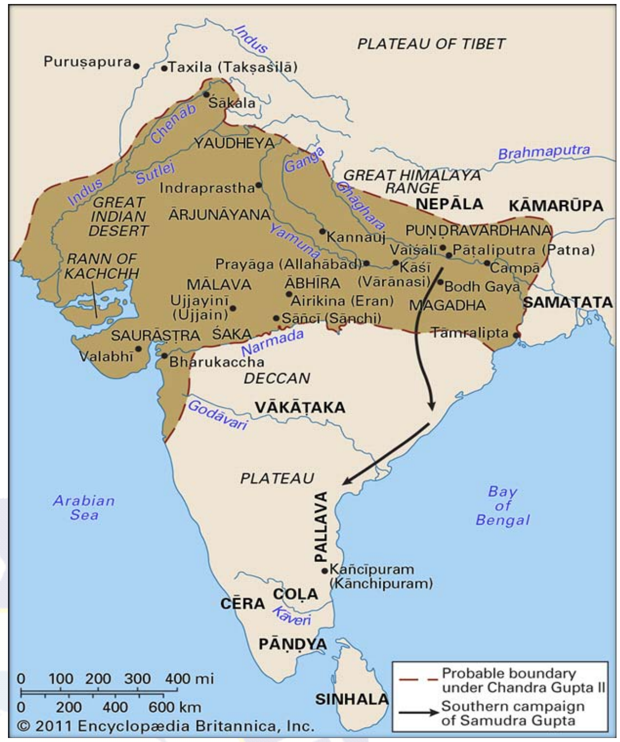

- **चन्द्रगुप्त प्रथम**– गुप्त शक्ति का वास्तविक संस्थापक चन्द्रगुप्त प्रथम था, जिसने प्रयाग क्षेत्र से उत्तर भारत में गुप्त राज्य का विस्तार किया। उसने अपनी विजय के उपलक्ष्य में 319–20 ई. में गुप्त संवत् की भी शुरूआत की। उसने लिच्छिवी राजकुमारी कुमारदेवी के साथ विवाह कर उत्तर भारत के एक महत्वपूर्ण राज्य–लिच्छिवी राज्य का समर्थन प्राप्त कर लिया। लिच्छिवियों के साथ अपने वैवाहिक संबंधों को गुप्त शासकों ने इतना अधिक महत्त्व दिया कि न केवल चन्द्रगुप्त प्रथम ने अपने सिक्के पर कुमारदेवी का नाम खुदवाया, वरन् समुद्रगुप्त ने भी लिच्छिवी दौहित्र की उपाधि ग्रहण की।
- **समुद्रगुप्त (335 ई.–380 ई.)**– समुद्रगुप्त ने एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की, जो उत्तर में हिमालय से लेकर दक्षिण में विंध्य पर्वत तक तथा पूर्व में बंगाल की खाड़ी से लेकर पश्चिम में पूर्वी मालवा तक विस्तृत था। इसके विषय में हमें सूचना प्रयाग प्रशस्ति से मिलती है, जो उसके दरबारी लेखक हरिषेण के द्वारा लिखी गई। इलाहाबाद के प्रयाग–प्रशस्ति अभिलेख से ज्ञात होता है कि उसने पाँच चरणों में अपना विजय अभियान पूरा किया। प्रथम चरण में उन्होंने गंगा–दोआब के नौ राज्यों का समूल नाश किया तथा प्रत्यक्ष रूप से अपने साम्राज्य में मिला लिया। द्वितीय चरण में उसने पंजाब के गणतंत्र तथा कुछ सीमावर्ती राज्यों को जीता। तृतीय चरण में उसने विंध्य क्षेत्र में आटविक राज्यों पर विजय प्राप्त की। फिर चौथे चरण में उसने पल्लव राज्य समेत दक्षिण के बारह राज्यों को जीता तथा अंतिम एवं

पाँचवें चरण में उत्तर-पश्चिम में कुछ विदेशी राज्यों को पराजित किया। वी. ए. स्मिथ ने उसे भारत के नेपोलियन की संज्ञा दी है।

- **चन्द्रगुप्त द्वितीय या चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य (380 ई. – 412 ई.)**– इसने शक शासक रुद्रसिंह तृतीय को पराजित कर गुजरात को जीता और गुजरात विजय के उपलक्ष्य में पहली बार चाँदी के सिक्के चलाए। दिल्ली में मेहरौली स्थित एक लौह स्तंभ पर 'चन्द्र' नामक शासक की विजय का विवरण है। इस 'चन्द्र' नामक शासक की पहचान चन्द्रगुप्त द्वितीय से ही की गई है। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने भी वैवाहिक संबंधों का उपयोग अपनी स्थिति को सुदृढ़ करने के लिये किया। उसने स्वयं नागवंश की राजकुमारी के साथ विवाह किया। माना जाता है कि प्रभावती गुप्त इसी विवाह की संतान थी। दूसरी तरफ उसने अपनी पुत्री का विवाह वाकाटक शासक रूद्रसेन द्वितीय से किया। जब वाकाटक शासक की मृत्यु हुई, तो सैद्धान्तिक रूप में सत्ता का संचालन तो उसकी पुत्री प्रभावती के पास रहा, परंतु व्यावहारिक रूप से वाकाटक राज्य का विलय गुप्त साम्राज्य में हो गया।
- **कुमारगुप्त प्रथम (412 ई.–454 ई.)**– कुमारगुप्त प्रथम चन्द्रगुप्त की पत्नी ध्रुवदेवी से उत्पन्न उसका सबसे बड़ा पुत्र था। विभिन्न स्रोतों से पता चलता है कि यद्यपि उसने कोई विजय नहीं की, तथापि उसके शासन काल का महत्व इस बात में है कि उसने अपने पिता के विशाल साम्राज्य को अक्षुण्ण बनाये रखा। मन्दसौर अभिलेख में उसके सुव्यवस्थित शासन का वर्णन मिलता है। यह नालंदा विश्वविद्यालय का संस्थापक था।
- **स्कन्दगुप्त (454 ई.–467 ई.)**– इसके काल में हूणों का पहला आक्रमण हुआ और इसने हूणों को पराजित किया था। इसकी सूचना हमें इसके जूनागढ़ अभिलेख से मिलती है। अपने पूर्वजों की तरह वह भी बहुमुखी प्रतिभा से युक्त सम्राट था। उसने जनता के कल्याण के लिये मौर्य सम्राट द्वारा निर्मित सुदर्शन झील की मरम्मत करायी, जिससे सौराष्ट्र प्रांत की जनता को पानी की समस्या का सामना न करना पड़े।

छठी सदी ई. के मध्य में गुप्त साम्राज्य का विघटन हो गया और इसकी कब्र पर कई राज्य स्थापित हुए; यथा– स्थानेश्वर में पुष्यभूति, कन्नौज में मौखरि, वल्लभी में मैत्रक, बिहार में उत्तरगुप्त आदि।

■ गुप्तोत्तर काल (600 ई.–750ई.)

इस काल में उत्तर भारत में हर्षवर्द्धन के अधीन एक बड़े साम्राज्य की स्थापना हुई, वहीं दक्षिण भारत में चालुक्य शक्ति एवं पल्लव शक्ति स्थापित हुई।

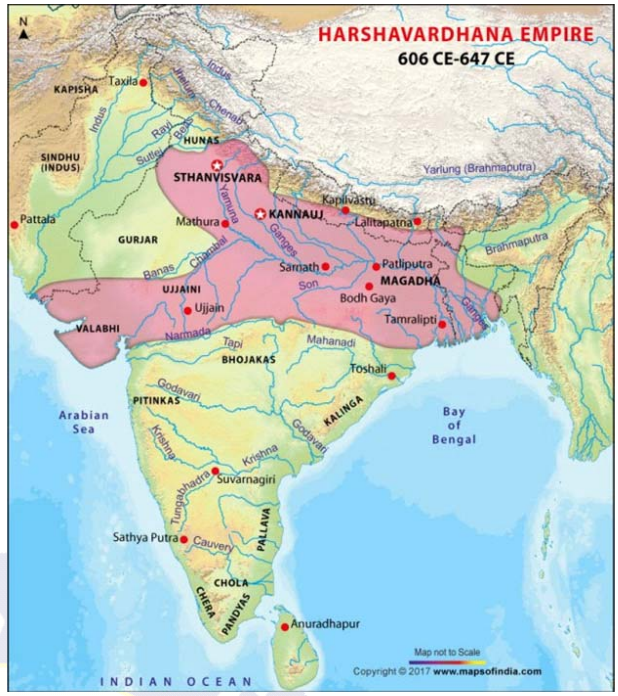

- **उत्तर भारत**– उत्तर भारत में पुष्यभूति वंश के शासक के रूप में अपने भाई राज्यवर्द्धन की मृत्यु के पश्चात् हर्षवर्द्धन (606 ई.–647 ई.) का उद्‌भव हुआ। अपने बहनोई की मृत्यु के पश्चात् वह कन्नौज का भी शासक बन बैठा। इस कारण उसकी शक्ति काफी बढ़ गई और उसने उत्तर भारत में एक बड़े साम्राज्य की स्थापना की। आरम्भ में उसकी बंगाल में गौड़ प्रदेश के शासक शशांक के साथ प्रतिस्पर्द्धा हुई। शशांक की मृत्यु के पश्चात् ही वह गौड़ क्षेत्र पर कब्जा कर सका, परन्तु वह दक्षिण भारत की ओर नहीं जा सका क्योंकि वह चालुक्य शासक पुलकेशिन द्वितीय के हाथों पराजित हो गया।
- **दक्षिण भारत**– दक्षिण भारत में महाराष्ट्र क्षेत्र में चालुक्य शक्ति तथा दक्षिणी आंध्र एवं उत्तरी तमिलनाडु में पल्लव शक्ति की स्थापना हुई। चालुक्य वंश का संस्थापक पुलकेशिन प्रथम था, परन्तु इस वंश का महान शासक पुलकेशिन द्वितीय रहा था। वहीं पल्लव शक्ति का संस्थापक सिंहविष्णु था और इस वंश के महान शासक महेन्द्रवर्मन प्रथम, नरसिंहवर्मन प्रथम तथा नरसिंहवर्मन द्वितीय अथवा राजसिंह थे। नरसिंहवर्मन प्रथम ने पुलकेशिन द्वितीय को हराने के पश्चात् उसकी राजधानी बादामी पर कब्जा कर लिया तथा इसके उपलक्ष्य में उसने 'वातापीकोण्ड' की उपाधि धारण की।
- चूँकि दक्षिण में उपजाऊ क्षेत्र कम था, इसलिए कृष्णा–तुंगभद्रा दोआब क्षेत्र पर नियंत्रण के लिए दो राज्यों के बीच निरन्तर संघर्ष होता रहा। इसी क्रम में पुलकेशिन द्वितीय ने पल्लव शासक महेन्द्रवर्मन को पराजित कर उससे वेंगी का क्षेत्र छीन लिया था, परन्तु पल्लव शासक नरसिंह वर्मन प्रथम

ने इसका बदला लेते हुए पुलकेशिन द्वितीय को पराजित कर मार डाला और उसकी राजधानी पर कब्जा कर लिया। फिर उसने 'महामल्ल' की उपाधि ली। इसी के नाम पर महाबलिपुरम् नाम पड़ा है। अंत में संघर्ष करते हुए दोनों राजवंशों का पतन हो गया।

■ पूर्व मध्यकाल (750 ई.–1200 ई.)

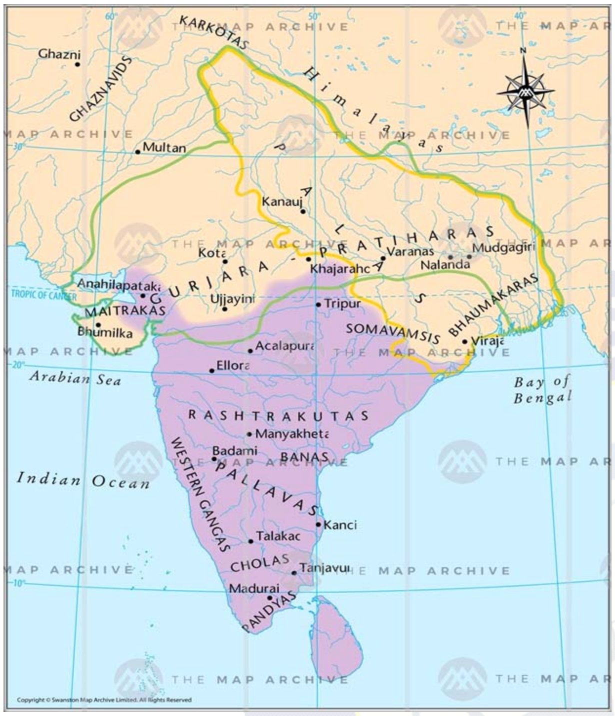

उत्तर भारत:-

- **पाल शक्ति-** हर्षवर्द्धन की मृत्यु के पश्चात् उत्तर भारत में थोड़े काल के लिए उथल-पुथल की स्थिति रही, फिर पूरब में पाल शक्ति की स्थापना हुई। इस शक्ति का संस्थापक गोपाल था और इस वंश के महत्वपूर्ण शासक धर्मपाल एवं देवपाल हुए थे। इस वंश के द्वारा बौद्ध धर्म को संरक्षण दिया गया तथा धर्मपाल के अधीन ओदन्तपुरी, विक्रमशिला तथा सोमपुरा जैसे महत्वपूर्ण विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई। पाल शासकों ने कन्नौज पर कब्जा करने के लिए प्रतिहार एवं राष्ट्रकूटों के साथ भी संघर्ष किया।
- **प्रतिहार शक्ति-** प्रतिहार शक्ति का संस्थापक नागभट्ट प्रथम था। फिर इस वंश का महत्वपूर्ण शासक वत्सराज, नागभट्ट द्वितीय और मिहिर भोज था। यह एक शक्तिशाली राजवंश था। इसने पालों और राष्ट्रकूटों के साथ संघर्ष कर कन्नौज पर अपना नियंत्रण बनाए रखा।
- **राजपूत राज्य-** निरंतर संघर्ष के कारण पाल और प्रतिहार, दोनों शक्तियों का पतन हो गया और उनकी कब्र पर छोटे-छोटे राज्य स्थापित हुए। इन्हें राजपूत राज्य का नाम दिया जाता है और इस काल को राजपूत काल कहा जाता है। ये राज्य इस प्रकार थे-
- **उत्तर-पश्चिम में पेशावर के पास हिन्दूशाही वंश-** इस वंश के महत्वपूर्ण शासक जयपाल एवं आनन्दपाल हुए। इस वंश ने उत्तर-पश्चिम की सुरक्षा के लिए महमूद गजनी से लंबा संघर्ष किया। इस वंश का अन्तिम शासक भीम था।
- **दिल्ली में तोमर वंश-** तोमर वंश के शासक अनंगपाल तोमर को दिल्ली अथवा ढिल्लिका को स्थापित करने का श्रेय दिया जाता है। आगे दिल्ली पर चौहानों का नियंत्रण हुआ।
- **चौहान वंश-** ये शाकम्भरी से जुड़े रहे थे। आगे अजमेर एवं दिल्ली पर इन्होंने शासन किया। एक महत्वपूर्ण शासक विग्रहराज द्वितीय के समय दिल्ली चौहानों के नियंत्रण में आयी थी। पृथ्वीराज चौहान (पृथ्वीराज तृतीय) इस वंश का महान शासक हुआ।
- **गुजरात के अंहिलवाड़ा में सोलंकी वंश-** इस वंश के शासक भीम द्वितीय ने मोहम्मद गोरी को पराजित किया था।
- **चंदेल राज्य-** मध्य भारत में महोबा, खजुराहो और कालिंजर में चंदेल वंश की स्थापना हुई। इस वंश के महत्वपूर्ण शासकों में गंड, धंग एवं विद्याधर थे। इस वंश के शासकों ने महमूद गजनी के विरुद्ध राजपूत राज्यों के गठबंधन का नेतृत्व किया था।
- **गहड़वाल वंश-** प्रतिहार शक्ति के पतन के पश्चात् कन्नौज में गहड़वाल स्थापित हुए। गहड़वाल शासकों में चन्द्रदेव, मदनपाल, जयचंद आदि महत्वपूर्ण थे। इस वंश का संस्थापक गोविन्दचन्द था।
- **परमार वंश-** इस वंश का संस्थापक सीयक द्वितीय था। इस वंश का एक महान शासक भोज परमार था, जो साहित्य एवं कला का बड़ा संरक्षक था।

दक्षिण भारत

- **महाराष्ट्र क्षेत्र-** इस क्षेत्र में 8वीं सदी के मध्य में राष्ट्रकूट शक्ति की स्थापना हुई। इस वंश का संस्थापक दन्तिदुर्ग था। उसने अन्तिम चालुक्य शासक कीर्तिवर्मन द्वितीय को निष्कासित कर अपने को स्थापित किया। उसका उत्तराधिकारी उसका चाचा कृष्ण प्रथम था, जिसने एलोरा के प्रसिद्ध कैलाश मंदिर का निर्माण करवाया। इस वंश में अनेक शक्तिशाली शासक हुए, जैसे- ध्रुव, गोविन्द द्वितीय, इन्द्र तृतीय, कृष्ण तृतीय। इन शासकों ने दक्षिण में भी विस्तार किया और उत्तर में कन्नौज पर हमला कर पाल और प्रतिहार राज्यों के साथ त्रिदलीय संघर्ष में शामिल हुए।

- इस वंश के अन्तिम शासक करक द्वितीय को गद्दी से हटाकर उसके सेनापति तैलप द्वितीय ने अपने राजवंश की स्थापना कर दी। चूंकि ये अपनी वंश परम्परा पुराने चालुक्यों से जोड़ते थे, इसलिए ये उत्तरवर्ती चालुक्य कहलाए। जहाँ पुराने चालुक्यों की राजधानी बादामी रही थी, वहीं इनकी राजधानी कल्याणी हो गई। इस वंश के महत्वपूर्ण शासकों में सोमेश्वर, सत्याश्रय, विक्रमादित्य पंचम आदि थे।

सुदूर दक्षिण

- **चोल**- चोल शक्ति का संस्थापक विजयालय (850 ई. -875 ई.) था। इसका उत्तराधिकारी आदित्य प्रथम हुआ, जिसने अन्तिम पल्लव शासक अपराजित को गद्दी से निष्कासित कर अपने राज्य का विस्तार किया। उसका उत्तराधिकारी परान्तक प्रथम हुआ। यद्यपि इसने पांड्य शासक को पराजित किया था, परन्तु स्वयं राष्ट्रकूट शासक कृष्ण तृतीय के हाथों तक्कोलम के युद्ध में हार गया और अपना आधा भू-भाग गँवा बैठा।
- चोल शक्ति एक बार फिर राजाराज प्रथम (985 ई.-1014 ई.) के अन्तर्गत पुनर्जीवित हुई। राजाराज ने अपने सभी पड़ोसियों को पराजित किया तथा उत्तरी श्रीलंका को भी जीत लिया। उसने उत्तरी श्रीलंका का नाम मुम्माडिचोलपुरम रखा क्योंकि उसकी उपाधि थी 'मुम्माडिचोल'। उसके उत्तराधिकारी राजेन्द्र प्रथम ने उसके विस्तार की नीति को जारी रखा। उसने अपने सभी पड़ोसियों को पराजित किया, फिर उसने सम्पूर्ण श्रीलंका को जीत लिया। उसने उत्तर का अभियान कर बंगाल की विजय की तथा अपनी विजय के उपलक्ष्य में गंगईकोंडचोलपुरम् नामक मंदिर का निर्माण करवाया।
- फिर उसने दक्षिण-पूर्व एशिया के एक शक्तिशाली साम्राज्य श्री विजय अथवा शैलेन्द्र साम्राज्य के विरुद्ध सफलतापूर्वक नौसैनिक अभियान किया। चोलों के अधीन नौसेना ने हिन्द महासागर से बंगाल की खाड़ी तक अपनी धाक जमा दी।
- परन्तु 13वीं सदी के मध्य तक उत्तरवर्ती चालुक्य साम्राज्य और चोल साम्राज्य दोनों विघटित हो गए और उनकी कब्र पर निम्नलिखित राज्य स्थापित हुए-

1. देवगिरी में यादव राज्य
2. वारंगल में काकतीय राज्य
3. द्वारसमुद्र में होयसल राज्य
4. मदुरई में पांड्य राज्य

वैदिक काल से पूर्व मध्यकाल तक प्रशासन के क्षेत्र में परिवर्तन

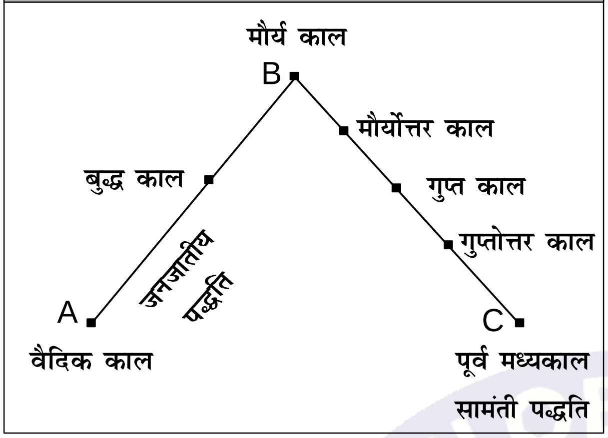

उपर्युक्त डायग्राम यह दर्शाता है कि वैदिक काल से मौर्यकाल तक आते हुए प्रशासनिक केन्द्रीयकरण में वृद्धि हुई क्योंकि धीरे-धीरे अर्थव्यवस्था का विस्तार हुआ, राज्य के संसाधनों में वृद्धि हुई तथा कर प्रणाली स्थापित हुई। इसके परिणामस्वरूप शक्तिशाली सेना एवं सक्षम नौकरशाही का गठन हुआ।

परन्तु मौर्य काल से पूर्व मध्यकाल तक आते हुए भूमि अनुदान के कारण प्रशासनिक केन्द्रीयकरण में ह्रास होता गया, अधिकारियों कि संख्या कम होती गई, मध्यस्थ और बिचौलिये कम होते गए तथा राजा का सैन्य आधार भी कमजोर हुआ। इन परिवर्तनों की पहचान भारतीय सामंतवाद के उद्भव के रूप में की जाती है। इन परिवर्तनों को निम्नलिखित कालों में बाँटकर देखा जा सकता है-

- **ऋग्वैदिक काल:**

ऋग्वैदिक काल में राज्य जन आधारित था तथा राजा की स्थिति स्पष्ट नहीं थी। राजा को 'जनस्य गोप' कहा जाता था अर्थात् राजा को कबीले के मुखिया के रूप में देखा जाता था। इस काल में कर प्रणाली स्थापित नहीं थी। कर के रूप में बलि की चर्चा मिलती है, परंतु बलि एक स्वैच्छिक भेंट थी, कोई अनिवार्य कर नहीं। इसीलिए युद्ध में प्राप्त लूट का एक भाग राजकीय आमदनी का मुख्य स्रोत था।

ऋग्वैदिक काल में स्थाई सेना एवं स्वतंत्र नौकरशाही का विकास नहीं हुआ था। कबीले के लोगों से सैनिक सेवा ली जाती थी। उसी प्रकार, अधिकारी भी उसी समूह से लिए जाते थे तथा अधिकारियों की संख्या भी अपेक्षाकृत सीमित थी। ये अधिकारी थे- युवराज, पुरोहित, सेनानी, ग्रामिणी, विशपति आदि।

ऋग्वैदिक काल में राजपद पर अंकुश लगाने वाली कुछ जनजातीय संस्थाएँ मौजूद थीं। उदाहरण के लिए सभा, समिति, विदथ एवं गण। सभा वरिष्ठ जनों की संस्था थी तथा यह न्यायिक कार्य से जुड़ी हुई थी। समिति शैक्षणिक कार्य से संबंधित थी, साथ ही इसके द्वारा राजा का निर्वाचन किए जाने का विवरण भी प्राप्त होता है। विदथ संभवत: सैनिक कार्यों से जुड़ी हुई संस्था थी, वहीं गण एक सामान्य गणतंत्रात्मक संस्था का बोध कराती है।

प्रशासन की सबसे छोटी इकाई गृह अथवा कुल थी, उसके ऊपर ग्राम, फिर विश और सबसे ऊपर जन था। चूँकि लोग स्थायी जीवन नहीं जीते थे, इसलिए 'जनपद' शब्द का प्रयोग नहीं मिलता है।

- **उत्तर वैदिक काल:**

उत्तर वैदिक काल तक कृषि व्यवस्था स्थापित होने के कारण राज्य के संसाधनों में थोड़ी वृद्धि हुई, इसलिए राजा की स्थिति भी पहले से बेहतर हुई। फिर राजा के पद के साथ यज्ञ भी जुड़ गया, इस कारण भी राजा की प्रतिष्ठा में वृद्धि हुई। इस काल में कर प्रणाली तुलनात्मक रूप में स्थापित हो गई। बलि स्वैच्छिक कर से अनिवार्य कर हो चुका था। इसके अतिरिक्त, इस काल में भाग एवं शुल्क नामक कर का भी विवरण प्राप्त होता है। भाग भू-राजस्व का 16वाँ भाग था, वहीं शुल्क वस्तुओं पर चुंगी थी।

उत्तर वैदिक काल में भी स्थायी सेना एवं रक्त संबंध से पृथक नौकरशाही का विकास नहीं हो सका, परंतु अधिकारियों की संख्या में निश्चय ही वृद्धि हुई। उदाहरण के लिए, उत्तर वैदिक ग्रंथ से 12 रत्निनों का जिक्र मिलता है।

प्रशासन की सबसे बड़ी इकाई के रूप में जनपद स्थापित हुआ। इस काल तक अकार जनजातीय संस्थाओं की शक्ति को धक्का लगा। विदथ एवं गण लुप्त हो गईं, जबकि सभा एवं समिति ने अपने पहले की शक्ति तथा महत्व को खो दिया।

- **बुद्ध काल:**

इस काल में कृषि अर्थव्यवस्था के प्रसार एवं द्वितीय नगरीकरण के आरम्भ होने के कारण राज्य के संसाधनों में वृद्धि हुई। अत: कर प्रणाली पूरी तरह स्थापित हुई। इस काल में हमें रज्जुग्राहक नामक अधिकारी का जिक्र मिलता है, जो दर्शाता है कि अब भूमि माप के पश्चात् भूराजस्व का निर्धारण होने लगा था।

इस काल में पहली बार स्थाई सेना और स्वतंत्र नौकरशाही का विकास हुआ। मगध के शासक बिंबिसार को श्रेणिक बिंबिसार कहा गया अर्थात् सेना का बिंबिसार। साथ ही, लेखन कला के विकास के परिणामस्वरूप राजकीय दस्तावेज अस्तित्व में आया और उससे जुड़ा हुआ अधिकारी 'अक्षपटलाधिकृत' कहा जाता था। इस काल में प्रशासन की सबसे छोटी इकाई के रूप में पहली बार ग्राम स्थापित हुआ।

■ मौर्य काल:

प्रशासन के शीर्ष पर राजा था। मौर्य शासकों ने देवानामपिय्य की उपाधि ग्रहण की। मौर्यों के अन्तर्गत राज्य के पास अपार संसाधन तथा एक अखिल भारतीय साम्राज्य का विकास हुआ। इसके परिणामस्वरूप इस काल में अधिकारियों की संख्या में वृद्धि हुई। एक मजबूत सैन्य व्यवस्था स्थापित हुई तथा प्रशासनिक केन्द्रीयकरण को प्रोत्साहन मिला। इस काल में राज्य का एक लोककल्याणकारी रूप भी उभरता है।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र, मेगस्थनीज की इण्डिका एवं अशोक के अभिलेखों से मौर्यकालीन प्रशासन का जिक्र मिलता है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में केन्द्रीय प्रशासन में 18 तीर्थ अथवा महामात्र एवं 27 अध्यक्षों का जिक्र किया गया है। ये अध्यक्ष विभिन्न विभागों के प्रधान होते थे।

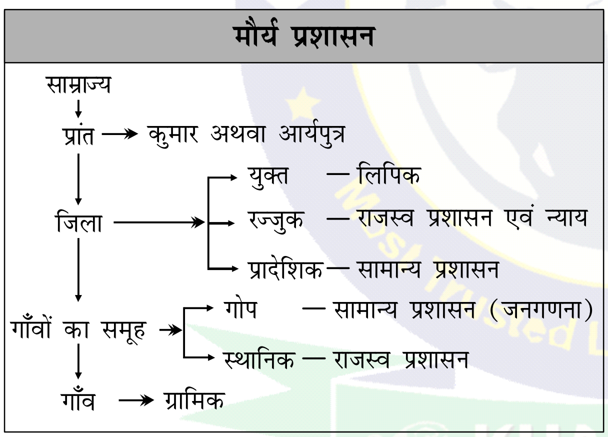

साम्राज्य का विभाजन प्रान्तों में होता था। इस काल में चार प्रान्तों की सूचना मिलती है। प्रांत का प्रधान 'कुमार' अथवा 'आर्यपुत्र' नामक अधिकारी होता था। नाम से ज्ञात होता है कि सम्भवत: वे राजकीय परिवार से संबद्ध थे। उनके कार्यों में सहायता एवं मंत्रणा के लिए एक मंत्रिपरिषद् होती थी। परंतु इस मंत्रिपरिषद् को अधिक विवेकाधीन शक्तियाँ प्राप्त थीं। उदाहरण के लिए, वह कुछ महत्वपूर्ण बातों की सूचना कुमार को दिए बिना सीधे राजा तक प्रेषित कर सकती थी।

प्रान्त का विभाजन जिलों में होता था। जिलाधिकारी के रूप में हमें युक्त, रज्जुक एवं प्रादेशिक नामक अधिकारियों की सूचना प्राप्त होती है। इन अधिकारियों की नियुक्ति केन्द्र द्वारा होती थी। प्रादेशिक शीर्षस्थ अधिकारी होता था तथा सामान्य प्रशासन से संबंधित होता था। प्रादेशिक का काम अपने जिले में गाँवों तथा नगरों में होने वाली आय की देख-रेख करना तथा कानून व्यवस्था का निरीक्षण भी था। रज्जुक नामक अधिकारी विशेष रूप से न्यायिक कार्यों से जुड़ा था तथा राजस्व प्रशासन का कार्य भी करता था। युक्त, सचिव और लिपिक का कार्य करता था तथा वे राजकीय कर को वसूलने वाले विभाग से संबद्ध थे तथा रज्जुक के अधीन कार्य करते थे।

जिले से नीचे प्रशासन की एक इकाई के रूप में गाँवों का एक समूह स्थापित था। इस पर गोप एवं स्थानिक नामक अधिकारियों की नियुक्ति की जाती थी। गोप नामक अधिकारी सामान्य प्रशासन के साथ-साथ जनगणना से भी संबद्ध था, वहीं स्थानिक का मुख्य कार्य करों (भू-राजस्व) की वसूली था। प्रशासन की सबसे छोटी इकाई ग्राम थी तथा गाँव का मुखिया ग्रामिक कहलाता था।

मेगस्थनीज की इण्डिका में नगर-प्रशासन की चर्चा की गई है, जिसमें एग्रोनोमई नामक अधिकारी को मार्ग-निर्माण से संबंधित तथा नगर कमिश्नर को एरिस्टोनोमई कहा गया है।

■ मौर्योत्तर काल (200 ई.पू.-300 ई.)

विशेषताएँ:

1. शक, कुषाण एवं सातवाहन शासकों ने भारतीय राज्यों को पराजित किया, परन्तु उन्हें विस्थापित न करके उन्हें अधीनस्थ शासक के रूप में बने रहने दिया। इस तरह राज्य के अधीन राज्य की स्थिति उत्पन्न हुई। इसका निम्नलिखित परिणाम सामने आया-

i. राजकीय उपाधि में अन्तर आ गया और अधीनस्थ शासकों से अपने आप को पृथक् करने के लिए बड़े शासकों ने भारी भरकम उपाधियाँ लेनी प्रारम्भ कर दीं। कुषाण शासकों द्वारा धारण की जाने वाली प्रभावशाली उपाधियाँ जैसे- महेश्वर, सर्वलोकेश्वर, शाहानुशाही आदि इस तथ्य को प्रकट करती हैं कि उसके अधीन कई छोटे राजा थे जो उन्हें सैनिक सेवा प्रदान करते थे।

ii. उपर्युक्त व्यवस्था की वजह से राज्य के अधीन ही अनेक स्वायत्तता प्राप्त इकाईयों का उदय हुआ, जो प्रकारांतर से सामंती व्यवस्था का आधार बन गया।

iii. कौटिल्य के अर्थशास्त्र में इस प्रकार की विजय को धर्म विजय का नाम दिया गया है।

2. मौर्योत्तर काल में विकेन्द्रीकरण की प्रवृत्तियों पर नियंत्रण रखने के लिये राजतंत्र में दैवीय तत्वों को समाविष्ट करने की प्रवृत्ति अपनाई गई। अब राजाओं की तुलना देवताओं से की जाने लगी। उदाहरण के लिए, सातवाहन शासकों ने अपनी तुलना

देवताओं से की तथा कुषाणों ने 'देवपुत्र' की उपाधि धारण की। इसके साथ कुषाण शासकों ने मंदिर में भी अपनी मूर्ति स्थापित की। उदाहरण के लिए, मथुरा के माट नामक स्थान पर निर्मित मंदिर।

3. सातवाहन शासकों ने पहली बार प्रथम सदी में भूमि अनुदान आरम्भ किया, परन्तु ये अनुदान धार्मिक अनुदान थे जो ब्राह्मण अथवा बौद्ध भिक्षुओं को दिए जाते थे। उन्हें केवल राजस्व का अधिकार था, प्रशासन का अधिकार नहीं। भूमि अनुदान को प्रेरित करने वाले कई कारक थे। प्रथम, भूमि अनुदान के माध्यम से दूरस्थ क्षेत्र में कृषि का प्रसार संभव था क्योंकि अनुदान में दी गई भूमि का एक भाग गैर आबाद भूमि का होता था। फिर भूमि अनुदान के माध्यम से राजा ने अपनी शक्ति एवं प्रभाव का विस्तार करना चाहा। इसके माध्यम से जनजातीय क्षेत्र में आर्य संस्कृति का भी प्रसार संभव हुआ।

■ गुप्त काल (300 ई.-600 ई.)

गुप्तकालीन प्रशासन एक संक्रमण की अवस्था को दर्शाता है। यह मौर्यकालीन प्रशासन एवं मध्यकालीन प्रशासन के बीच एक कड़ी है। इस काल में एक तरफ राजा की उपाधियों में वृद्धि होने लगी, किन्तु दूसरी तरफ उसकी वास्तविक शक्ति में ह्रास हुआ तथा इसका कारण था- मध्यस्थ एवं बिचौलियों की उपस्थिति। फिर भूमि अनुदान के माध्यम से राज्य अपने दायित्व को सीमित कर रहा था। गुप्तकालीन प्रशासन में स्थानीय तत्वों की भागीदारी बढ़ गई।

विशेषताएँ:

1. प्रशासन के शीर्ष पर राजा था। राजा के द्वारा 'परम्भट्टारक' एवं 'महाराजाधिराज' जैसी भारी-भरकम उपाधियाँ ली गईं, किन्तु ये राजा की बढ़ती हुई शक्ति को नहीं दर्शातीं, वरन् ये अधीनस्थ शासक एवं सामंतों की उपस्थिति की ओर संकेत करती हैं।
2. इसके अतिरिक्त 'दैवीय राजत्व' को प्रोत्साहन मिला तथा राजा अपनी तुलना देवताओं से करने लगे। 'प्रयाग-प्रशस्ति' में समुद्रगुप्त ने अपनी तुलना चार महत्वपूर्ण देवताओं; यथा- इन्द्र, वरूण, अन्तका (यम) तथा धनदा (कुबेर) से की है।
3. केन्द्रीय प्रशासन में कुछ महत्वपूर्ण अधिकारियों का जिक्र हुआ है, यथा- कुमारामात्य, संधिविग्रहक (विदेश मंत्री), दंडनायक एवं महादंडनायक (न्याय का कार्य), बलाधिकृत एवं महाबलाधिकृत (सैन्य विभाग), विनयस्थितिस्थापक (धार्मिक कार्य), प्रतिहार एवं महाप्रतिहार (राजमहल की सुरक्षा) आदि। 'कुमारामात्य' वरिष्ठ अधिकारियों के एक वर्ग की ओर संकेत करता है।
4. इस काल में अधिकारियों के पद वंशानुगत होने लगे थे तथा एक अधिकारी को एक से अधिक पद दिये जाने लगे थे। उदाहरण के लिए, हरिषेण एक ही साथ महादण्डनायक, संधिविग्रहक एवं कुमारामात्य के पद को सुशोभित कर रहा था।
5. साम्राज्य का विभाजन प्रांतों में था। प्रांतों को 'भुक्ति' कहते थे। भुक्ति पर 'उपरिक' अथवा 'उपरिक महाराज' नामक अधिकारी की नियुक्ति की जाती थी। दामोदरपुर अभिलेख एवं एरण अभिलेख दोनों में उपरिक नामक अधिकारी के साथ 'महाराज' शब्द के प्रयोग से ऐसा प्रतीत होता है कि पूर्वकाल की तुलना में इस काल में प्रांतीय अधिकारी अधिक शक्ति का उपभोग करते थे।
6. प्रांतों का विभाजन जिलों अथवा 'विषयों' में था। जिला प्रशासन में 'विषयपति' अथवा 'कुमारामात्य' नामक अधिकारी की नियुक्ति की जाती थी। अधिकतर स्थिति में जिला अधिकारी की नियुक्ति 'उपरिक' अथवा 'उपरिक महाराज' के द्वारा की जाती थी।
7. जिला का विभाजन गाँवों के समूह में होता था। उसे 'वीथी' अथवा 'पेठ' कहा जाता था। इस पर 'वीथी महात्मया' नामक अधिकारी की नियुक्ति की जाती थी। प्रशासन की सबसे छोटी इकाई 'ग्राम' थी, जो 'महत्तर' के अधीन होता था।
8. गुप्तकालीन प्रशासन की एक महत्वपूर्ण विशेषता थी- स्थानीय प्रशासन में क्षेत्रीय तत्वों की भागीदारी। जिला स्तर पर एक जिला परिषद् होती थी, इसे 'विषय-अधिकरण' कहा जाता था। वीथी के स्तर पर वीथी परिषद् और नगर में नगर परिषद् अथवा अधिस्थानाधिकरण नामक संस्था का गठन होता था। इसके सदस्य के रूप में निम्नलिखित की चर्चा की गई है, यथा- नगरश्रेष्ठी (वित्त प्रबंधक), सार्थवाह (व्यापारियों का प्रधान), प्रथम कुलिक (शिल्पियों का प्रधान), प्रथम कायस्थ (लिपिकों का प्रधान)। उसी प्रकार वीथी के स्तर पर कुटुम्बिन (किसान), महत्तर (मुखिया) का विवरण मिलता है।

■ गुप्तोत्तर काल (600 ई.-750 ई.)

विशेषताएँ:

1. इस काल में भी राजत्व का दैवीकरण जारी रहा तथा शासकों के द्वारा भारी-भरकम उपाधियाँ ली जाती रहीं।
2. इस काल में राजकीय अधिकारियों को भी भूमि अनुदान में वेतन मिलने लगा क्योंकि व्यापार के पतन के कारण मुद्राओं की कमी पड़ गई थी। उदाहरण के लिए, हर्ष के

शासन में मंत्रियों और अधिकारियों को भूमि अनुदान के रूप में वेतन मिलता था, न कि नकद में।

4. इस काल में नौकरशाही का सामंतीकरण हुआ क्योंकि सामतों को भी महत्वपूर्ण प्रशासनिक पद दिए जाने लगे।

- **पूर्व मध्यकाल (750 ई.-1200 ई.)**

विशेषताएँ:

1. राजत्व का दैवीकरण।
2. राजा के द्वारा भारी-भरकम उपाधियाँ लिया जाना।
3. कुछ महत्वपूर्ण सामंतों को अधिकारी का पद मिला, वहीं अधिकारियों को भी सामंतों की उपाधि प्राप्त होने लगी।
4. इस काल में मंदिरों एवं मठों को भी बड़ी संख्या में भूमि अनुदान दिए गए।
5. इस काल में सैनिक अनुदानों की संख्या में वृद्धि हुई। उदाहरण के लिए, पाल, प्रतिहार और राजपूत शासकों ने बड़ी संख्या में सामंतों को भूमि अनुदान दिए तथा सामंतों के द्वारा बदले में उन्हें सैनिक सेवा प्रदान की जाती थी। इस प्रकार, पूर्व मध्यकाल तक आकर भारतीय सामंतवाद के सभी लक्षण प्रकट होने लगे।
6. इस काल में दक्षिण भारत में चोलों के अधीन स्थानीय स्वायत्त शासन की स्थापना हुई। इसके अन्तर्गत स्थानीय प्रशासन में स्थानीय तत्वों को भागीदारी दी गई। इसकी सूचना हमें उत्तरमेरूर अभिलेख से मिलती है। इसके तहत नाडु के स्तर पर नट्टार नामक संस्था का गठन किया जाता था, जबकि गाँव के स्तर पर उर एवं सभा का गठन किया जाता था।

■■■

KHAN GLOBAL STUDIES
Most Trusted Learning Platform
KHAN SIR

वैदिक काल से पूर्व मध्यकाल तक आर्थिक दशा
(Economic Condition from Vedic period to Pre Medieval Period)

■ वैदिक काल (1500 ई.पू.-1000 ई.पू.)

ऋग्वैदिक आर्यों की संस्कृति मूलत: ग्रामीण थी। उसकी अर्थव्यवस्था एक प्रकार की निर्वाह मूलक अर्थव्यवस्था थी। अर्थव्यवस्था का आधार मुख्यत: पशुचारण था, कृषि की भूमिका अपेक्षाकृत द्वितीयक थी। इस काल में पशुचारण को इतना महत्त्व दिया जाता था कि जीवन से जुड़ी हुई महत्त्वपूर्ण गतिविधियों को गाय से जोड़ दिया गया था। उदाहरण के लिये, राजा के लिए 'गोप', समय की माप के लिये 'गोधूलि' इत्यादि। ऋग्वैदिक अर्थव्यवस्था में कृषि को विशेष महत्व प्राप्त नहीं होने की वजह से सीमित कृषि अधिशेष की स्थिति थी। इस वजह से अर्थव्यवस्था में शिल्प एवं व्यापार की भूमिका भी सीमित थी। शिल्प के रूप में ताँबे अथवा काँसे का प्रयोग होता था, जिसे 'अयस' कहा जाता था। व्यापारी के रूप में एक 'पणि' नामक व्यापारी की चर्चा मिलती है जो गैर-आर्य थे। इस काल में नियमित मुद्रा का प्रचलन नहीं हुआ था और मुद्रा के रूप में हमें निष्क एवं शतमान का विवरण मिलता है। निष्क सम्भवत: आभूषण होता था और शतमान 100 गायों की संख्या बताता था। ऋग्वैदिक अर्थव्यवस्था ग्रामीण अर्थव्यवस्था थी क्योंकि ऋग्वेद में 'नगर' शब्द की चर्चा नहीं मिलती।

■ उत्तर वैदिक काल (1000 ई.पू.-600 ई.पू.)

उत्तर वैदिक काल की अर्थव्यवस्था में कृषि का महत्व बढ़ गया था। जहाँ ऋग्वेद में फसल के रूप में केवल यव (जौ) का विवरण मिलता है, वहीं उत्तर वैदिक काल में गोधूम (गेहूँ) एवं ब्रीही (चावल) का भी विवरण प्राप्त होता है। उत्तर वैदिक काल में भी शिल्प एवं व्यापार का सीमित विकास देखा गया। इस काल के ग्रंथों में व्यापारियों की अनेक श्रेणियों का उल्लेख मिलता है। 'श्रेष्ठिन' श्रेणी का प्रधान व्यापारी होता था। व्यापार में ब्याज पर धन देने (कुसीदिन) का भी प्रचलन था। फिर भी अभी नियमित सिक्के का प्रचलन आरम्भ नहीं हुआ था, यद्यपि मुद्रा के रूप में एक नई मुद्रा 'कृष्णल' का विवरण मिलता है, जो निष्क और शतमान के अतिरिक्त है। उत्तर वैदिक अर्थव्यवस्था भी ग्रामीण अर्थव्यवस्था ही बनी रही, यद्यपि तैत्तरीय आरण्यक नामक ग्रंथ में 'नगर' शब्द की चर्चा मिलती है। इस प्रकार उत्तर वैदिक अर्थव्यवस्था में वैदिक काल की तुलना में ठोस परिवर्तन देखने को मिलता है।

■ बुद्ध काल (600 ई.पू.-400 ई.पू.)

इस काल में कृषि अर्थव्यवस्था में व्यापक परिवर्तन देखा गया। मध्य दोआब क्षेत्र में जंगलों की सफाई हुई तथा कृषि का प्रसार हुआ। गेहूँ की तुलना में चावल की उपज अधिक थी। फिर इस काल में लोहे के उपकरणों का प्रयोग कृषि में होने लगा था। वैसे तो उत्तर वैदिक काल में भी लोहे का प्रचलन शुरू हो गया था और उसे 'श्याम आयस' अथवा 'कृष्ण अयस' कहा जाता था, परन्तु उसका उपयोग मुख्यत: युद्ध उपकरण के रूप में हुआ था। कृषि अधिशेष ने शिल्प एवं कारीगरी के विकास को प्रोत्साहन दिया। इससे व्यापार के विकास को भी प्रोत्साहन मिला। पहली बार इस काल में नियमित मुद्रा के रूप में आहत सिक्कों (पंच मार्क्ड सिक्कों) का प्रचलन आरम्भ हुआ। आहत मुद्राएं अधिकतर चाँदी की होती थीं, किंतु चाँदी, ताँबे, मिश्रित मुद्राएँ और केवल ताँबे की मुद्राएँ भी मिली हैं। सबसे बढ़कर, इस काल में द्वितीय नगरीकरण का आरम्भ हुआ। जहाँ प्रथम नगरीकरण का आधार सिंधु घाटी ने तैयार किया, वहीं द्वितीय नगरीकरण का आधार मध्य गंगा घाटी ने। बौद्ध ग्रंथों में उत्तर भारत में 60 नगरों का जिक्र मिलता है, इनमें 6 महानगर थे।

■ मौर्य काल (400 ई.पू.-200 ई.पू.)

इस काल में अर्थव्यवस्था को और भी अधिक प्रोत्साहन मिला क्योंकि कृषि, शिल्प एवं व्यापार, सभी क्षेत्रों में राज्य की भागीदारी हुई।

• **कृषि**- कृषि के क्षेत्र में राज्य की भागीदारी थी। राज्य की भूमि 'सीता भूमि' कहलाती थी, जिसमें खेती का कार्य सीताध्यक्ष नामक अधिकारी के अन्तर्गत होता था। इसमें दासों, युद्धबंदियों तथा शूद्रों को लगाया जाता था। फसलों के रूप में हमें गेहूँ, जौ, चावल, विभिन्न प्रकार की दालें तथा कपास एवं गन्ना की सूचना मिलती है। राज्य की ओर से सिंचाई के विकास के लिए कदम उठाये जाते थे। चंद्रगुप्त के एक अधिकारी पुष्यगुप्त ने सुदर्शन झील का निर्माण किया था।

उसी प्रकार, कुछ शिल्प एवं कारीगरी पर राज्य का एकाधिकार होता था, उदाहरण के लिए, लौह उपकरण, जहाजों का निर्माण, खनन उद्योग आदि। इस काल में वस्त्र निर्माण एक महत्वपूर्ण उद्योग था।

• **व्यापार**– इस काल में वाणिज्य-व्यापार में भी राज्य की भागीदारी थी। राजकीय वस्तु 'राजपण्य' कहलाती थी। व्यापारिक गतिविधियाँ पण्याध्यक्ष नामक अधिकारी के निरीक्षण में रखी गई थीं। राज्य के द्वारा वस्तुओं पर सीमा शुल्क एवं व्यापारिक कर लगाये जाते थे। मौर्यकाल में व्यापारिक मार्ग के रूप में उत्तरापथ का प्रचलन था। उत्तरापथ पूरब में ताम्रलिप्ति बंदरगाह को पश्चिम में भड़ौच से तथा उत्तर-पश्चिम में तक्षशिला से जोड़ता था। इसके अतिरिक्त कौटिल्य के अर्थशास्त्र में दक्षिणापथ

की भी चर्चा हुई है।

- **मुद्रा अर्थव्यवस्था तथा नगरीकरण**– इस काल में आहत मुद्राओं की प्रचुरता विकसित मुद्रा अर्थव्यवस्था को दर्शाती है। किंतु ये आहत मुद्राएं राज्य के द्वारा नहीं, वरन् निगमों के द्वारा जारी की जाती थीं। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में 'पण' नामक सिक्कों का जिक्र मिलता है, जो चाँदी का सिक्का होता था। फिर इस काल में विकसित वाणिज्य-व्यापार तथा बेहतर प्रशासनिक गतिविधियों ने नगरीकरण की प्रक्रिया को बल प्रदान किया। अशोक के अभिलेखों में पाटलिपुत्र के अतिरिक्त सात नगरों का जिक्र हुआ है।

■ मौर्योत्तर काल

मौर्योत्तर काल आर्थिक क्षेत्र में चतुर्दिक विकास का काल था। यह वही काल है जहाँ एक तरफ कृषि अर्थव्यवस्था का प्रसार हुआ, वहीं दूसरी तरफ शिल्प, वाणिज्य-व्यापार एवं नगरीकरण की प्रक्रिया को गति मिली। इस काल में द्वितीय नगरीकरण का चरमोत्कर्ष देखने को मिलता है।

- **कृषि :** भूमि अनुदान के माध्यम से दूरवर्ती क्षेत्रों में कृषि का प्रसार हुआ। फिर इस काल में कृषि के प्रसार में निजी व्यक्ति की भूमिका पर भी विशेष बल दिया गया। उदाहरण के लिए, मनु कहता है कि भूमि उसकी होती है जो उसके घास-भूसे को साफ कर आबाद करता है। स्वयं राज्य की ओर से भी सिंचाई के प्रोत्साहन के लिए कदम उठाया जाता था। उदाहरण के लिए, रूद्रदामन ने सुदर्शन झील की मरम्मत कराई।

- **शिल्प अथवा उद्योगः** इस काल में शिल्प एवं उद्योगों में व्यापक विस्तार देखा गया। इस काल के एक ग्रंथ 'मिलिन्दपन्हो' में 75 प्रकार के व्यवसाय की सूचना मिलती है, जिनमें 60 स्पष्ट रूप में शिल्पों से जुड़े हुए हैं। फिर इस काल में अलग-अलग क्षेत्र में अलग-अलग प्रकार के उत्पादों का जिक्र मिलता है। उदाहरण के लिए, उज्जैन मनका बनाने के कार्य हेतु प्रसिद्ध था, मथुरा एक विशेष प्रकार के वस्त्र 'शाटक' के उत्पादन के लिए प्रसिद्ध था। उसी प्रकार, दक्षिण में अरिकामेडु और उरैयुर वस्त्रों की रंगाई के काम के लिए जाना जाता था।

- **व्यापारः** इस काल में आन्तरिक एवं बाह्य व्यापार में व्यापक विस्तार देखा गया। बाह्य व्यापार में रेशम मार्ग की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही। इसका संचालन चीन का हान साम्राज्य, भारत का कुषाण साम्राज्य तथा यूरोप का रोमन साम्राज्य करता था। इस व्यापार से भारत को बहुत लाभ था।

भारत से रोम की ओर निर्यात की प्रमुख मदें थीं- मसाले, विशेषकर काली मिर्च (यवनप्रिय), रेशम, लोहे के उपकरण, कीमती पत्थर, औषधि की वस्तुएँ। वहीं रोम से आयात होने वाली सामग्रियाँ थीं कीमती धातु (सोने व चाँदी), शराब एवं शीशे से निर्मित जाम, सीसा, अरेटाइन मृद्‌भांड। व्यापार संतुलन निश्चय ही भारत के पक्ष में था क्योंकि रोमन लेखक प्लिनी ने रोम से भारत की ओर धन की निकासी की बात कही है।

इस काल में कई महत्वपूर्ण बन्दरगाहों का विकास हुआ। उदाहरण के लिए, उत्तर में दो महत्वपूर्ण बन्दरगाह, बारबरीकम सिन्धु नदी के मुहाने पर तथा बेरीगाजा (भड़ौच) गुजरात तट पर स्थित थे। पूरब में ताम्रलिप्ति भी एक महत्वपूर्ण बन्दरगाह था। इसके अतिरिक्त कुछ बन्दरगाह, यथा- टिण्डिस, मुजिरिस, नेलसिण्डा आदि मालाबार तट पर तथा अरिकामेडु, कावेरीपट्टनम एवं कोरकई आदि कोरोमंडल तट पर स्थित थे।

- **मुद्रा व्यवस्थाः** प्राचीन काल में सबसे अधिक मुद्राएँ मौर्योत्तर काल में ही जारी की गईं। इस काल में सोने, चाँदी, ताँबे, टिन एवं सीसे के सिक्के भी चलाए गए। रोम के दीनार पैटर्न पर सबसे विशुद्ध सिक्के कुषाणों ने चलाए। सातवाहनों ने सीसे के सिक्के भी चलाए।

- **नगरीकरणः** इस काल में नगरीकरण अपनी चरम अवस्था में पहुँच गया। इस काल में कुषाण शासकों के अन्तर्गत मथुरा, बनारस आदि नगरों का विकास हुआ, वहीं शकों के अन्तर्गत उज्जैन एक प्रमुख नगर के रूप में विकसित हुआ। यह काल प्रायद्वीपीय भारत में प्रथम नगरीकरण का काल था। सातवाहनों के अधीन तगर, पैठान, अमरावती, नागार्जुनकोंड ये सभी नए नगर के रूप में विकसित हुए। सुदूर दक्षिण में भी नगरों का विकास हुआ। उदाहरण के लिए, मुजिरिस, अरिकामेडु, कावेरीपट्टनम ये सभी बंदरगाह नगर के रूप में विकसित हो गए थे।

■ गुप्त काल

गुप्त काल को आर्थिक क्षेत्र में समृद्धि का काल माना गया है।

- **कृषि अर्थव्यवस्थाः** भूमि अनुदान के कारण कृषि अर्थव्यवस्था का प्रसार हो रहा था। फसलों की संख्या में भी वृद्धि हो रही थी। इस काल में बागवानी फसलों की खेती को प्रोत्साहन मिला। वराहमिहिर की 'वृहत्संहिता' में फलों के पौधों के लिए कलम बाँधने की प्रथा का जिक्र है। फिर इस काल में सिंचाई के लिए राज्य की ओर से किये गए प्रयासों के उदाहरण भी मिलते हैं। जैसे- स्कन्दगुप्त के काल में 'सुदर्शन झील' की मरम्मत। फिर सिंचाई के लिए कुँए से पानी निकाला जाता था, इसे 'अरघट्ट' कहा जाता था। पहली बार इसकी चर्चा सातवाहन कालीन रचना 'गाथासप्तशती' में मिलती है। आगे बाणभट्ट ने इसके लिए 'घटीयंत्र' शब्द का प्रयोग किया है।

- **शिल्प एवं उद्योगः**

गुप्त काल में शिल्प एवं उद्योग उन्नत अवस्था में था। इस काल में सूती वस्त्र, रेशमी वस्त्र एवं ऊनी वस्त्र के उत्पादन को

विशेष प्रोत्साहन मिला। वस्त्र उत्पादन के चार प्रमुख केंद्र थे- मथुरा, बनारस, दासपुरा एवं कामरूप। अजंता के चित्र तथा कालिदास की रचनाओं से उत्तम प्रकार के वस्त्रों की झलक मिलती है। इसके अतिरिक्त धातुकर्म की दृष्टि से भी गुप्तकाल विशिष्ट है। दिल्ली के मेहरौली स्थित लौह स्तंभ बेहतर प्रकार के शिल्प निर्माण का ज्ञान कराता है। इसके अतिरिक्त बिहार के सुल्तानगंज से प्राप्त काँसे की निर्मित बुद्ध की एक टन की मूर्ति भी बेहतर धातु शिल्प की ओर संकेत करती है। वात्स्यायन के कामसूत्र में भी धातुकला को 64 कलाओं में शामिल किया गया है।

- **व्यापार:** इस काल में पश्चिमी रोमन साम्राज्य के साथ भारत के व्यापार को धक्का लगा, परन्तु पूर्वी रोमन साम्राज्य के साथ भारत के व्यापारिक संबंध स्थापित हो गए थे। इसलिए इस काल में कुल मिलाकर आर्थिक संवृद्धि बनी रही। गुप्त शासकों ने सर्वाधिक संख्या में सोने के सिक्के जारी किए। इस काल के लेखक वात्स्यायन के 'कामसूत्र' में समृद्ध नगरीय जीवन का जिक्र मिलता है। विदेशी यात्री फाह्यान ने भी मध्य देश और पाटलिपुत्र की संवृद्धि की चर्चा की है।

परन्तु गुप्त काल के अन्त में पूर्वी रोमन साम्राज्य के साथ भारत का व्यापारिक संबंध टूट गया और इसके साथ व्यापार को धक्का लगा।

■ गुप्तोत्तर काल

कृषि अर्थव्यवस्था के प्रसार की दृष्टि से यह अभूतपूर्व विकास का काल था। भूमि अनुदान के माध्यम से कृषि अर्थव्यवस्था का प्रसार होता रहा। फिर इस काल में सिंचाई के विकास को प्रोत्साहन मिला। इसके लिए कुओं, जलाशय और तालाब का प्रयोग होता था। फिर इस काल में बागवानी फसलों के उत्पादन को भी प्रोत्साहन मिला।

परन्तु दूसरी तरफ यह काल नगरीकरण, मुद्रा अर्थव्यवस्था तथा व्यापार के पतन का काल सिद्ध हुआ।

■ पूर्व मध्यकाल

इस काल में भी कृषि अर्थव्यवस्था का प्रसार होता रहा। नए भू-भाग का आबाद होना, नई फसलों का प्रचलन, सिंचाई का विकास सभी पूर्वकालीन अवस्था में बना रहा।

परन्तु हम व्यापार, मुद्रा अर्थव्यवस्था और नगरीकरण की स्थिति को दो भिन्न अवस्थाओं में बाँटकर देख सकते हैं-

- **प्रथम अवस्था (750-1000 ई.)**- इस काल में व्यापार, मुद्रा अर्थव्यवस्था और नगरीकरण पतनशील अवस्था में ही बने रहे।
- **दूसरी अवस्था (1000 ई.-1200ई.)**- इस काल में बाह्य व्यापार एवं आन्तरिक व्यापार दोनों पुनर्जीवित हुए। पश्चिम एशिया में एक वृहद् अरब साम्राज्य के निर्माण ने भारतीय वस्तुओं की माँग बढ़ा दी। व्यापार के पुनर्जीवित होते ही मुद्रा अर्थव्यवस्था और नगरीकरण भी पुनर्जीवित हुआ। इसे 'तृतीय नगरीकरण' का भी नाम दिया जाता है।

■ ऋग्वैदिक काल

ऋग्वैदिक समाज जनजातीय पद्धति पर आधारित था, इसलिए इसमें समानता का भाव प्रबल था। ऋग्वेद में हमें तीन वर्णों की चर्चा मिलती है- पुरोहित, राजन्य एवं सामान्य लोग, परन्तु इस विभाजन का आधार भी 'जन' नहीं, बल्कि 'पेशा' था। पेशे में परिवर्तन के साथ वर्ण में भी परिवर्तन हो जाता था। उदाहरण के लिए, विश्वामित्र राजन्य से पुरोहित हो गए थे। (मौलिक रूप में 'वर्ण' शब्द का अर्थ रंग होता है। ऋग्वेद में आर्य एवं दास, दो वर्णों का जिक्र मिलता है।)

ऋग्वैदिक समाज का मूल आधार परिवार था, जो पितृसत्तात्मक हुआ करता था। परिवार का स्वामी पिता अथवा बड़ा भाई हुआ करता था। इस काल में महिलाओं की स्थिति कुल मिलाकर अच्छी थी। ऋग्वेद में वीर पुत्रों की कामना की गई है, परन्तु पुत्रियों के जन्म को हतोत्साहित नहीं किया गया है। बाल विवाह का प्रचलन नहीं था। सामान्यत: लड़कियों का विवाह 16-17 वर्ष की उम्र में किया जाता था। उन्हें उपनयन तथा शिक्षा का भी अधिकार था। स्त्रियों को कुछ हद तक राजनीतिक अधिकार भी प्राप्त थे। वे पति के साथ यज्ञ में भाग लेती थीं तथा जनजातीय संस्था, सभा, की कार्यवाही में भी हिस्सा लेती थी। इस काल की विदुषी महिलाओं में विश्वारा, घोषा, अपाला, लोपामुद्रा आदि का विवरण मिलता है। ऋग्वेद में रक्त संबंध में विवाह तथा बहुपतिवाद के तत्व भी मिलते हैं।

ऋग्वैदिक आर्य मांसाहारी तथा शाकाहारी दोनों तरीके से भोजन ग्रहण करते थे। ऋग्वेद में नमक का कोई जिक्र नहीं मिलता है। वे 'सोम' नामक एक मादक पदार्थ पीकर आनंदित होते थे।

ऋग्वेद में दासों के साथ-साथ दासियों का विवरण प्राप्त होता है। इससे यह ज्ञात होता है कि दास व्यवस्था स्थापित थी।

■ उत्तर वैदिक काल

पहली बार उत्तर वैदिक काल में चतुर्वर्ण व्यवस्था का विकास देखा जा सकता है, वैसे इसकी पहली चर्चा ऋग्वेद के दसवें मंडल के पुरुष सूक्त में मिलती है। इसमें मूल पुरुष के चार अंगों से चार वर्णों को निकलता दिखाया गया है। ये वर्ण हैं- ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। ऊपर के तीन वर्णों को द्विज का दर्जा मिला है। उनसे पृथक शूद्र हैं जिनका काम ऊपर के तीन वर्णों की सेवा करना है।

इस काल में परिवार के मुखिया की शक्ति में वृद्धि हुई। परिवार के अन्य सदस्यों पर उसका नियंत्रण बढ़ गया। इस काल में ऋग्वैदिक काल की तुलना में महिलाओं की दशा में थोड़ी सी गिरावट देखी जा सकती है। पहली बार 'ऐतरेय ब्राह्मण' नामक ग्रंथ में पुत्र को परिवार का रक्षक और पुत्री को दु:ख का कारण बताया गया है। इस काल में महिलाओं का सभा में प्रवेश वर्जित हो गया था, परन्तु अन्य अधिकार बचे रहे थे, जिनमें शिक्षा का अधिकार भी शामिल था।

- **महिलाओं की सामाजिक स्थिति में गिरावट क्यों?**

वैदिक काल में कुल मिलाकर महिलाओं की सामाजिक स्थिति अच्छी रही थी, परन्तु बाद के कालों में उनकी स्थिति गिरती चली गई। इसके निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण कारण थे-

1. **उत्पादन में महिलाओं की भागीदारी का कम होता जाना-** वैदिक काल तक परिवार के लोगों को ही कृषि कार्य में लगाया जाता था, परन्तु बुद्ध काल में जब बड़े पैमाने पर कृषि का विकास हुआ, तो दासों और श्रमिकों को खेती में लगाया जाने लगा। इस कारण उत्पादन में महिलाओं की भूमिका कम होती चली गई तथा इससे महिलाओं की सामाजिक दशा में गिरावट आती गई।
2. **वर्ण व्यवस्था का जटिल होना-** वर्ण एवं जाति व्यवस्था सामाजिक विभाजन को प्रदर्शित करती थी। जो वर्ण व्यवस्था में जितना ऊँचा होता था, आर्थिक संसाधन पर उसकी अधिक बेहतर पकड़ होती थी। इसलिए उच्च वर्ण के लोग बड़ी कठोरता से वर्ण और जाति व्यवस्था का संचालन करना चाहते थे, लेकिन इसके सफल संचालन के लिए महिलाओं को पुरुष के कठोर नियंत्रण में लाना आवश्यक माना गया था। इसलिए जैसे-जैसे वर्ण जटिलता बढ़ती गई, महिलाओं की सामाजिक दशा में गिरावट आती गई।

- **गोत्र की अवधारणा-** गोत्र शब्द 'गोष्ठ' से निकला है। इसका अर्थ होता है वह स्थान जहाँ सभी की गायें बाँधी जाती थी। चूँकि वैदिक ऋषियों की गायें एक साथ बाँधी जाती थीं, उन्हें एक 'गोष्ठ' का माना गया और आगे इसी गोष्ठ से गोत्र की परिकल्पना आ गई। आरंभ में गोत्र केवल ब्राह्मणों का होता था। ब्राह्मणों ने अपने ये गोत्र अपने क्षत्रिय एवं वैश्य यजमान को दिए। वैदिक काल में गोत्र बहिर्गमन विवाह का प्रचलन नहीं था, यह (बुद्धकाल) सूत्रकाल में आरम्भ हुआ।

- **आश्रम व्यवस्था-** उत्तर वैदिक समाज की एक अभिनव परिकल्पना थी- आश्रम व्यवस्था। एक वैदिक आर्य के जीवन को चार आश्रमों में बाँटा गया- ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास, परन्तु उत्तर वैदिक काल तक तीन आश्रमों की

परिकल्पना विकसित हुई थी, चतुर्थ आश्रम, संन्यास, का विकास परिवर्ती काल में हुआ। आश्रम व्यवस्था के दो घोषित उद्देश्य थे। प्रथम, चार पुरूषार्थों; यथा- अर्थ, धर्म, काम एवं मोक्ष को धारण करना। दूसरे, चार प्रकार के ऋण; यथा- देव ऋण, ऋषि ऋण, पितृ ऋण एवं मानव जाति के ऋण से मुक्त होना। परन्तु इसका वास्तविक उद्देश्य था- व्यक्ति की स्वतंत्रता और सामाजिक नियंत्रण के बीच सन्तुलन स्थापित करना।

- **संस्कार**- गौतम ने 40 संस्कारों की बात की है, परन्तु व्यवहार में 16 संस्कार होते थे, जो गर्भाधान से लेकर दाह संस्कार तक क्रियान्वित किए जाते थे। अधिकांश संस्कार द्विजों के होते थे, कुछ संस्कार शूद्रों एवं महिलाओं के भी होते थे, परन्तु वे सामान्य एवं मंत्रहीन होते थे। संस्कार के विषय में एक सामान्य परिकल्पना यह थी कि यह व्यक्ति के मस्तिष्क पर इतनी अमिट छाप छोड़ता है कि मृत्यु के पश्चात् तक इसका प्रभाव बना रहता है।

- **वर्ण एवं जाति**- भारतीय समाज में वर्ण एक आदर्श परिकल्पना बनी रही, जबकि जाति समाज का यथार्थ बन गया। भारत में जाति के विकास का एक लम्बा इतिहास रहा है जो इस प्रकार है-

वर्ण विभाजन आरम्भ में पेशे पर आधारित होता था, परन्तु 'सूत्र काल' (सातवीं सदी ई.पू.) में वर्ण विभाजन का आधार जन्म को बना दिया गया। इसके कारण वर्ण व्यवस्था के उल्लंघन का रास्ता तैयार हुआ और वर्ण संकर समूह अस्तित्व में आने लगे।

प्राय: दो कारणों से वर्ण नियमों का उल्लंघन होता था। प्रथम, निम्न वर्ण के पुरुष के द्वारा उच्च वर्ण की महिला के साथ वैवाहिक संबंध कायम होना। इसे प्रतिलोम विवाह की कोटि में रखा गया और उनकी संतान को वर्ण संकर का दर्जा मिलता था। उसी प्रकार, जब निम्न वर्ण के लोग उच्च वर्ण के लोगों के पेशे को अपनाते थे, तो फिर वर्ण संकर की स्थिति पैदा होती थी। आगे चलकर ये वर्ण संकर समूह पृथक-पृथक जाति के रूप में विकसित होते चले गए।

इसके अतिरिक्त जाति के विकास में अन्य कई कारकों ने भी भूमिका निभाई, जो इस प्रकार हैं-

1. किसी ऐसे पेशे का विकास जिसे किसी वर्ण विशेष के अन्तर्गत रखना सम्भव नहीं था, वह पृथक जाति के रूप में विकसित हो गया।
2. कुछ पेशेवर समूह एवं शिल्प श्रेणियों का जाति के रूप में ढल जाना। उदाहरण के लिए, लुहार, बढ़ई, सुनार आदि।
3. जनजातीय समूह को वर्ण विभाजित समाज में शामिल करने के क्रम में नई-नई जातियों का विकास हुआ।
4. आगे चलकर क्षेत्रीयतावाद का प्रभाव भी जाति व्यवस्था पर देखा गया और एक ही जाति, क्षेत्र के आधार पर अलग-अलग उपजातियों में ढलती चली गई।

इस प्रकार, भारतीय परम्परा में वर्ण तो चार ही रहे, किन्तु जातियों की संख्या हजारों में पहुँच गई।

■ बुद्ध काल

इस काल में धर्मसूत्र पर टीकाएँ लिखकर वर्ण विभाजन का आधार जन्म को बना दिया गया। इससे जाति के विकास का रास्ता तैयार हुआ। इस काल में महिलाओं की सामाजिक दशा में गिरावट आई। महिलाओं को पुरुषों के अधीन कर दिया गया। सम्भवत: दहेज प्रथा का आरम्भ भी इसी काल में देखा गया। उदाहरण के लिए, मगध के शासक बिंबिसार को काशी का क्षेत्र दहेज में मिला था। यद्यपि बौद्ध एवं जैन पंथ ने अपने संघ का दरवाजा महिलाओं के लिए खोल दिया था, परन्तु इससे महिलाओं की स्थिति में कोई मौलिक परिवर्तन नहीं आया। बौद्ध पंथ ने महिलाओं के लिए पृथक संघ बनाया और भिक्षुणियों को भिक्षुओं के अधीन कर दिया गया।

गंगा घाटी में नगरीय क्रांति तथा व्यापार-वाणिज्य में उल्लेखनीय प्रगति की वजह से वैश्य वर्ण समाज का सबसे संपन्न वर्ण बन गया था। समाज में शूद्रों की स्थिति दयनीय थी। विभिन्न प्रकार के नगरों के विकास के परिणामस्वरूप कुछ निम्न पेशेवर समूहों का उद्भव भी इस काल में दिखता है। इनमें अधिकांश को 'हीन जाति' अथवा 'हीन व्यवसाय' (हिन-सिप्प) माना गया है। चाण्डाल, पुक्कस, निषाद इत्यादि इसी श्रेणी की जातियाँ थीं।

■ मौर्य काल

वर्ण व्यवस्था और महिलाओं के प्रति कौटिल्य का दृष्टिकोण थोड़ा नरम है। यद्यपि एक ब्राह्मण होने के नाते कौटिल्य उच्च वर्ण के विशेषाधिकारों को सुरक्षित रखता है, परन्तु शूद्रों के प्रति वह उदार है। वह शूद्र को आर्य कहता है। उसके अनुसार शूद्र आर्य को दास नहीं बनाया जा सकता था।

उसी प्रकार, वह स्वतंत्र रूप से जीवनयापन करने वाली महिलाओं का भी जिक्र करता है और उसे 'छंदवासिनी' कहता है तथा वह गणिकाओं (वेश्या) के पेशे को भी स्वीकृति प्रदान करता है। उसके अनुसार, उससे राज्य को आय प्राप्त होती थी। इसके अतिरिक्त, धर्मसूत्र में आठ प्रकार के विवाहों में केवल चार प्रकार के विवाह, यथा- ब्रह्म विवाह, देव विवाह, आर्ष विवाह एवं प्रजापत्य विवाह को मान्यता प्राप्त थी और इसे 'धर्मेय' प्रकार का विवाह माना जाता था। परन्तु कौटिल्य ने सभी आठ प्रकार के विवाहों, अर्थात् गंधर्व विवाह, पैशाच विवाह, राक्षस विवाह एवं असुर विवाह को भी मान्यता प्रदान की।

■ मौर्योत्तर काल

यह 'मनु संहिता' का काल था। मनु ने वर्ण एवं जाति व्यवस्था के प्रति बड़ा ही कठोर रुख अपनाया। इसका कारण था कि मनु के काल में दो कारणों से जाति व्यवस्था पर दबाव बढ़ रहा था। प्रथम, बड़ी संख्या में जनजातीय तत्व वर्ण एवं जाति व्यवस्था में शामिल हो रहे थे। दूसरे, इस काल में निरन्तर विदेशी आक्रमण के कारण जाति व्यवस्था में नए तत्वों का प्रवेश हो रहा था। इसके अतिरिक्त, इस काल में एक प्रकार का सामाजिक संकट भी उत्पन्न हुआ जिसकी अभिव्यक्ति समकालीन पुराणों में कलियुग की अवधारणा के रूप में हुई है। इसका अर्थ है निचले वर्ण के लोगों का उच्च वर्ण के लोगों के विरूद्ध विद्रोह। मनुसंहिता में भी इस संकट की ओर संकेत है क्योंकि इसमें निम्न वर्ण के लोगों के विरूद्ध उच्च वर्ण की एकता की बात की गई है। अत: मनु ने वर्ण एवं जाति व्यवस्था के संचालन को ध्यान में रखकर कठोर रुख अपनाया तथा निम्नलिखित कदम उठाए-

1. मनु संहिता में वर्ण संकर जातियों की संख्या बढ़ाकर 61 कर दी गई।
2. मनु ने महिलाओं की सामाजिक दशा गिराई। उदाहरण के लिए, पहली बार इसी काल में बाल विवाह का प्रचलन आरम्भ हुआ। मनु संहिता ने विधवा विवाह पर भी पाबन्दी लगा दी। इतना ही नहीं, कुछ विशेष स्थिति में मनु ने पति को अपनी पत्नी का परित्याग करने का भी अधिकार दे दिया। फिर मनु ने महिलाओं को सम्पत्ति के अधिकार से भी वंचित रखा।
3. शूद्रों के प्रति भी मनु का दृष्टिकोण कठोर है। मनु के विचार में द्विजों को शूद्रों के सम्पर्क से परहेज करना चाहिए।

इस प्रकार, हम देखते हैं कि मनु संहिता ने ही परवर्ती काल की कठोर हिन्दू सामाजिक व्यवस्था की आधारशिला निर्मित कर दी।

■ गुप्त काल

गुप्त काल में ब्राह्मणवादी पुनरुत्थान हुआ। इस कारण वर्ण व्यवस्था जटिल हुई और उसी के अनुरूप महिलाओं की सामाजिक दशा में भी गिरावट आई।

ब्राह्मण और क्षत्रिय विशेषाधिकार प्राप्त वर्ण बने रहे। दूसरी तरफ, वैश्यों की सामाजिक दशा में तुलनात्मक रूप में गिरावट आयी, वहीं शूद्रों की सामाजिक दशा में तुलनात्मक रूप में सुधार हुआ। इसका एक कारण था, शूद्रों का कृषि से जुड़ जाना। 'याज्ञवल्क्य स्मृति' में शूद्रों को कृषक कहा गया है अर्थात् पहली बार उसे कृषि का अधिकार दिया गया। फिर इसी स्मृति में शूद्रों को यज्ञ करने का अधिकार भी प्रदान किया गया।

यद्यपि गुप्तकालीन साहित्य में महिलाओं का आदर्श चित्र प्रस्तुत किया गया है, परंतु व्यवहार में महिलाओं की सामाजिक दशा में गिरावट आई। गुप्तकाल में लिखित कालिदास की रचना 'मेघदूतम्' से यह सूचना मिलती है कि उज्जैन के महाकाल मंदिर में देवदासियाँ रखी जाती थीं। इसका अर्थ है कि देवदासी प्रथा का प्रचलन था। उसी प्रकार कालिदास की रचना 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' में 'अवगुंठन' शब्द का प्रयोग किया गया है। इससे तात्पर्य है दुष्यंत के दरबार में शकुंतला के द्वारा अपना चेहरा ढकने का प्रयास। यह तथ्य पर्दा प्रथा की ओर संकेत करता है। सबसे बढ़कर 510 ई. के भानुगुप्त के एरण अभिलेख से सती प्रथा का प्रथम अभिलेखीय साक्ष्य मिलता है। इसके अतिरिक्त, हमें यह भी सूचना प्राप्त होती है कि पाँचवीं सदी से महिलाओं का गोत्र पुरुषों के गोत्र के अनुसार बदलने लगा था। पहली बार 'याज्ञवल्क्य स्मृति' में महिलाओं को सम्पत्ति का अधिकार दिया गया।

इस काल में न केवल अछूत जातियों की संख्या में विस्तार हो रहा था, बल्कि अछूत जातियों की सामाजिक स्थिति में भी गिरावट देखी गई। कुछ जातियाँ अछूतों की श्रेणी में गिर गईं क्योंकि उनके द्वारा अपनाए जाने वाले पेशों में ही गिरावट आ गई। उदाहरण के लिए, चमड़े के काम में जुटे होने वाले जाति समूह। पहली बार कात्यायन स्मृति में अछूतों के लिए 'अस्पर्श' शब्द का प्रयोग हुआ है। उसी प्रकार, फाह्यान के द्वारा चांडालों की दयनीय दशा की सूचना मिलती है।

■ गुप्तोत्तर काल एवं पूर्व मध्य काल

1. इस काल में जाति व्यवस्था जटिल होती चली गई क्योंकि जाति से उपजातियों का विकास होने लगा था।
2. वैश्यों की सामाजिक दशा लगभग शूद्रों के समकक्ष हो गई थी क्योंकि अलबरूनी नामक विदेशी लेखक लिखता है कि शूद्रों के साथ-साथ वैश्यों को भी वेदों के अध्ययन करने अथवा उसे सुनने का अधिकार नहीं है।
3. इस काल में राजपूतों के अधीन लड़कियों को स्वयंवर का अधिकार मिला था तथा महिलाओं की सम्पत्ति के अधिकार में भी वृद्धि देखी गई क्योंकि 'याज्ञवल्क्य स्मृति' पर विज्ञानेश्वर द्वारा लिखित 'मिताक्षरा' नामक टीका में महिलाओं की सम्पत्ति के अधिकार में वृद्धि की गई अर्थात् स्त्रीधन में नए प्रकार की सम्पत्ति भी शामिल की गई। वहीं, दूसरी तरफ, सामाजिक बुराई के रूप में सती प्रथा के साथ-साथ योद्धा वर्ग में जौहर प्रथा का भी आरम्भ देखा गया।

■■■

'संस्कृति' की परिधि इतनी व्यापक होती है कि इसे किसी एक परिभाषा में बाँध पाना कठिन है। इसमें खान-पान, रहन-सहन, विचार एवं दृष्टिकोण, धर्म एवं दर्शन, वैज्ञानिक चिंतन एवं तकनीकी, साहित्य एवं कला सभी शामिल होते हैं।

भारतीय संस्कृति को विविधतामूलक माना गया है। इसका कारण यहाँ का भूगोल एवं इतिहास दोनों है। भारत में भौगोलिक एवं जलवायु संबंधी विविधता के कारण विभिन्न क्षेत्रों में निवास करने वाले लोगों के खान-पान, रहन-सहन, वेशभूषा आदि में बड़ा अंतर आ गया। पश्चिम भारत एवं उत्तर-पूरब के समुदायों, हिमाचल की तलहटी में बसने वाले, मैदानी भाग में रहने वाले तथा प्रायद्वीपीय भारत में निवास करने वाले लोगों की जीवन पद्धति में अंतर आ गया। लोगों के खान-पान, रहन-सहन, पहनावा-ओढ़ावा, उत्सव-समारोह में होने वाले अंतर ने क्षेत्रीय संस्कृति के उद्भव का मार्ग प्रशस्त कर दिया। परंतु यह स्मरणीय है कि भूगोल एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में जनसंख्या प्रवास में स्थाई बाधा उपस्थित नहीं कर सका। लोगों का संपर्क न केवल भारतीय उपमहाद्वीप के अंदर के क्षेत्र से, बल्कि बाहर के क्षेत्रों से भी होता रहा। विंध्य पर्वत श्रेणी प्रायद्वीपीय भारत की ओर जाने वाले मार्ग में बड़ी बाधा उपस्थित नहीं कर सकी तथा एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में लोगों की आवाजाही वैदिकोत्तर काल से ही होती रही। हमारी पौराणिक कथाओं में ऋषि अगस्त्य तथा विंध्य पर्वत के बीच होने वाला तनाव यह दर्शाता है कि उत्तर से दक्षिण की ओर जनसंख्या का प्रवास होता रहा था। फिर प्राचीन भारत के लोग भी संपूर्ण भारतीय उपमहाद्वीप के संदर्भ में सोच रहे थे। प्राचीन ग्रंथों में भारतीय महाद्वीप के लिए 'जम्बूद्वीप' शब्द का प्रयोग हुआ तथा संपूर्ण जम्बूद्वीप पर शासन करने वाले शासक के लिए 'चक्रवर्ती' की उपाधि सुरक्षित की गई।

यह एक दिलचस्पी का विषय है कि 'चक्रवर्ती' का मॉडल लगभग सभी शासकों को आकर्षित करता रहा तथा छोटे-छोटे शासक भी इस उपाधि को लेकर अपने मन को तोष देने का प्रयास करते रहे थे। उसी तरह अखिल भारतीयता की अवधारणा ने प्राचीन विद्वानों एवं बुद्धिजीवियों को भी आकर्षित किया है। कालिदास की 'मेघदूतम्' रचना से यह ज्ञात होता है कि कालिदास को भारत के भूगोल का कितना ज्ञान था। इस प्रकार, भौगोलिक एवं जलवायु संबंधी विविधता ऋषियों एवं व्यापारियों की गतिशीलता तथा शासकों की महत्वाकांक्षाओं पर अंकुश नहीं लगा सकी। ईसा पूर्व चौथी सदी में ही मौर्यों ने एक ऐसे साम्राज्य की स्थापना की, जो उत्तर-पश्चिम में हिंदुकुश पहाड़ी से लेकर पूरब में बंगाल तथा दक्षिण में ब्रह्मगिरी तक फैला हुआ था। इस प्रकार भारतीय उपमहाद्वीप के विभिन्न क्षेत्रों के बीच परस्पर संपर्क बना रहा तथा एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र के बीच वैचारिक एवं सांस्कृतिक आदान-प्रदान होता रहा। इसलिए सांस्कृतिक विविधताओं के बीच एकता का सूत्र हमेशा विद्यमान रहा।

भारतीय संस्कृति को स्वरूप देने में भौगोलिक कारक के साथ-साथ ऐतिहासिक कारक की भी महत्वपूर्ण भूमिका रही। अगर हम इस कारक पर विचार करते हैं तो हम पाते हैं कि प्राचीन भारत में संस्कृति के स्वरूप को दिशा देने वाले ऐतिहासिक कारक के निम्नलिखित पहलू थे-

- **नये सामाजिक समूहों का आगमन:-** उत्तर-पश्चिम से हमेशा नवीन तत्वों का आगमन होता रहा तथा नए तत्व भारतीय जीवन में घुलते गए। सर्वप्रथम वैदिक आर्य आए। वे एक नवीन भाषा, संस्कृत, लेकर आए, परंतु उनके पास लिपि नहीं थी। वे मुख्य रूप से पशुचारक थे, परंतु भारत की भूमि पर उत्तर हड़प्पाई अथवा अन्य ताम्रपाषाणकालिक लोगों के संपर्क में उन्होंने कृषि का कार्य सीखा। उसी प्रकार, उनका अपना एक धार्मिक विश्वास था परंतु उन्होंने संभवत: उत्तर हड़प्पाई लोगों के संपर्क से यज्ञ की पद्धति को अपनाया (भारत से बाहर के आर्य यज्ञ नहीं जानते थे जबकि हड़प्पाई लोगों को यज्ञ का ज्ञान था।)।

आगे इन्डो ग्रीक, शक एवं कुषाण जैसे बाहरी तत्वों का आगमन हुआ, परंतु शीघ्र ही वे भारतीय जीवन में घुल-मिल गए। उन्होंने भारतीय धार्मिक पंथों को अपना लिया। उदाहरण के लिए, इंडो ग्रीक शासकों ने बौद्ध धर्म को अपना लिया। इंडो ग्रीक शासक मिनांडर तथा भारतीय संत नागसेन की वार्ता प्राचीन भारत के धर्म के इतिहास में बड़ा ही दिलचस्प प्रकरण है। आगे कुषाण शासकों ने महायान बौद्ध पंथ को संरक्षण दिया। मध्य एशिया एवं पश्चिम एशिया में बौद्ध पंथ को फैलाने का श्रेय कुषाण शासक कनिष्क को दिया जाता है। फिर आगे हूणों का आगमन हुआ, तो उन्होंने भी तत्परता से शैव पंथ को अपना लिया। हूण शासक तोरमाण एवं मिहिरकुल का शैव पंथ से निकटता सर्वविदित है। इस प्रकार बाह्य तत्वों को विभिन्न धार्मिक पथों के माध्यम से आसानी से भारतीय जीवन में प्रवेश मिल गया।

- **आर्य एवं गैर-आर्य तत्वों के बीच सामंजस्य:-** वैदिक आर्य जब भारत आए थे, तो उन्होंने बड़ी उदारता से गैर-आर्य तत्वों को अपनाया था। उनकी संस्कृत में भी कई गैर-आर्य शब्द मुण्डा, द्रविड़ आदि मिश्रित मिलते हैं। उसी प्रकार, यज्ञ की पद्धति भी उन्होंने संभवत: गैर-आर्यो से ही ली थी। आगे लिपि

के प्रयोग में भी हम गैर-आर्य तत्वों के प्रभाव की संभावना को अस्वीकार नहीं कर सकते।

फिर भी धर्म के क्षेत्र में आर्य एवं गैर-आर्य तत्वों के बीच बेहतर सामंजस्य ईसा की आरंभिक शताब्दियों में देखने को मिलता है। आर्य पंथ में बहुदेववाद से एकेश्वरवाद तक का तत्व विद्यमान था और यह क्रमश: वेद से उपनिषद् तक अभिव्यक्त होता रहा। फिर आगे बौद्ध एवं जैन पंथ जैसे विरोधी पंथों का उद्‌भव हुआ, परंतु इन धार्मिक पंथों की जड़ भी आर्य तत्वों में ही थी।

परंतु ईसा की आरंभिक शताब्दियों में भूमि अनुदान के कारण जनजातीय क्षेत्र में आर्य संस्कृति का प्रसार हुआ। इसके परिणामस्वरूप आर्य एवं गैर-आर्य तत्वों के बीच सामंजस्य हुआ। यह सामंजस्य धार्मिक क्षेत्र में भी व्यक्त होता है। गैर-आर्य समूह में भक्ति की अवधारणा प्रचलित थी। उदाहरण के लिए, मथुरा में एक गैर-आर्य देवता वासुदेव कृष्ण की पूजा प्रचलित थी। आगे वासुदेव कृष्ण का एक आर्य देवता, विष्णु, से एकीकरण हो गया। इस प्रकार वैष्णव पंथ का विकास हुआ। वैष्णव पंथ के मूल में भक्ति थी। उसी प्रकार एक गैर-वैदिक देवता शिव का वैदिक देवता रूद्र के साथ एकीकरण हो गया, तो फिर शैव पंथ का उद्‌भव हुआ। उसी काल में बौद्ध पंथ पर भक्ति का प्रभाव पड़ा, तो फिर महायान शाखा का विकास हुआ। भक्ति के साथ-साथ गैर-आर्य पंथों में अवतारवाद एवं मूर्तिपूजा की अवधारणा भी प्रचलित थी। इसका प्रभाव आर्य पंथों पर देखा गया। अवतारवाद की अवधारणा के माध्यम से आर्य तथा गैर-आर्य देवताओं के बीच सामंजस्य संभव हुआ। उदाहरण के लिए, विष्णु के 10 अवतार तथा शिव के 28 अवतारों की परिकल्पना की गई। ब्राह्मण पंथों ने मूर्ति पूजा को अपना लिया। बौद्ध पंथ में भी स्तूप एवं मूर्तिपूजा का प्रचलन आरंभ हो गया। जैन पंथ के अंतर्गत भी तीर्थंकरों की पूजा होने लगी। फिर गुप्त काल में चलकर मंदिर स्थापित कर ब्राह्मण देवताओं को समर्पित किया गया। इस प्रकार इस काल में भावी हिंदू धर्म का आधार निर्मित हो गया।

- **उत्तर एवं दक्षिण भारत के तत्वों के बीच सामंजस्य:-** जैसाकि हमने देखा विंध्य क्षेत्र उत्तर एवं दक्षिण के बीच स्थायी विभाजन रेखा नहीं खींच पाया तथा उत्तर एवं दक्षिण के लोगों की एक-दूसरे के क्षेत्र में आवाजाही तथा विचारों का आदान-प्रदान होता रहा। ऐसा माना जाता है कि उत्तर से पुराणों पर आधारित भक्ति का तत्व दक्षिण गया तथा संगम ग्रंथों पर आधारित प्रेम के तत्वों से जुड़ गया। अत: भक्ति का भावनात्मक पक्ष विकसित हुआ। भक्ति का यह रूप अलवार एवं नयनार संतों के अंतर्गत क्रमश: विष्णु एवं शिव भक्ति के रूप में उपस्थित हुआ। आगे रामानुज जैसे ब्राह्मण आचार्य ने इसे एक सुस्पष्ट दर्शन का आधार दे दिया तथा इसे 'विशिष्टाद्वैत' चिंतन के रूप में जाना गया। आगे दक्षिण से आए रामानन्द ने इसे उत्तर में फैलाया। फिर यह भक्ति क्षेत्रीय परिस्थितियों के अनुसार ढलती चली गई। महाराष्ट्र में इसने महाराष्ट्र धर्म का रूप ले लिया, जबकि उत्तर भारत में यह सगुण एवं निर्गुण दो धाराओं में बंट गई। निर्गुण धारा नाथपंथ, भक्ति, इस्लाम के एकेश्वरवाद तथा सूफी पंथ के बीच सामंजस्य का परिणाम थी, तो सगुण भक्ति राम एवं कृष्ण दो देवताओं को केंद्र में लेकर चलती थी। इस प्रकार क्षेत्रीय विशेषता के आधार पर भक्ति आंदोलन में विविधता आ गई, परंतु फिर भी कुछ मौलिक तत्वों में समानता बनी रही। अत: यह विविधता में एकता का उदाहरण बन गई।

धर्म के अतिरिक्त कला एवं साहित्य के क्षेत्र में भी उत्तर एवं दक्षिण भारत के बीच आदान-प्रदान होता रहा। सर्वप्रथम अशोक ने गुफा वास्तुकला को प्रोत्साहन दिया। आगे इसका विकास चैत्य एवं विहार के निर्माण के रूप में देखा गया। वस्तुत: अधिकांश चैत्य और विहार महाराष्ट्र एवं आंध्र क्षेत्र में विकसित हुए। फिर गुफा वास्तुकला का ही विकसित रूप पहाड़ों को काटकर निर्मित मंदिरों के रूप में देखने को मिलता है और इनका विकास पल्लव शासकों के अधीन हुआ।

आगे जब नागर शैली (कश्मीर एवं विंध्य क्षेत्रों के मध्य), द्रविड़ शैली (कृष्णा नदी एवं कन्याकुमारी के मध्य) तथा वेसर शैली (विंध्य क्षेत्र से कृष्णा नदी के बीच) जैसी स्थापत्य की तीन विभिन्न शैलियां विकसित हुईं, तो इन्होंने भी एक-दूसरे पर प्रभाव छोड़ा। उत्तर एवं दक्षिण दोनों क्षेत्रों के मंदिर में 'मंडप' के निर्माण का साक्ष्य मिलता है। उसी तरह, उत्तर भारत के मंदिर में निर्मित जगमोहन कुछ हद तक दक्षिण भारत के मंदिरों से समानता रखता है। जहाँ तक वेसर शैली का सवाल है तो वेसर शैली, नागर एवं द्रविड़ शैली के मिश्रण से विकसित हुई। इस प्रकार के पारस्परिक लेन-देन हम कला के अन्य रूप, मूर्तिकला एवं चित्रकला, में भी पाते हैं। वैसे तो भारत में मूर्तिकला के विकास की लंबी परंपरा रही थी तथा इसका आरंभिक रूप हड़प्पाई मूर्तिकला में पाते हैं, परंतु मूर्तिकला की एक अन्य धारा उत्तर-पश्चिम से आई तथा इसकी पहचान गांधार कला के रूप में हुई। गांधार कला, यूनानी-रोमन कला के रूप में पहचानी गई तथा आगे इस पर मध्य एशियाई एवं भारतीय तत्वों का भी प्रभाव देखा गया। इस कला के अंतर्गत मूर्तियों के शरीर-शौष्ठव एवं साज-सज्जा पर विशेष बल दिया गया था। आगे गांधार कला ने मथुरा कला तथा अमरावती कला को प्रभावित किया, परंतु साथ ही उनसे प्रभावित भी हुई।

उसी तरह अजंता चित्रकला ने एलोरा चित्रकला तथा चोलकालीन चित्रकला पर अपना प्रभाव छोड़ा। सबसे बढ़कर कला एवं विचारों के क्षेत्र में प्राचीन भारत बाहरी विश्व के लिए

खुला पड़ा था। भारतीय अंकमाला का ज्ञान अरब विद्वानों के माध्यम से पश्चिम में फैल गया। दूसरी तरफ, यूनानियों के खगोलशास्त्र के ज्ञान से भारतीय भी लाभान्वित हुए। भारतीय मूर्तिकला एवं चित्रकला मध्य एशिया से दक्षिण एशिया तक फैल गयी। वहीं मूर्तिकला के क्षेत्र में भारतीयों ने प्राचीन यूनान एवं रोम से भी गांधार कला के रूप में उपहार प्राप्त किया। दिलचस्पी का विषय यह है कि भारतीय रामायण के कई क्षेत्रीय संस्करण दक्षिण-पूर्व एशिया में विकसित हुए। सबसे बड़ा बौद्ध मंदिर इंडोनेशिया के बोरोबुदूर में निर्मित हुआ।

प्राचीन भारतीय संस्कृति की उपलब्धियाँ:-

1. विविधता में एकता का उदाहरण:- विविधता में एकता की अभिव्यक्ति सर्वप्रथम धर्म के क्षेत्र में देखने को मिलती है। जिसे आगे 'हिंदू धर्म' के नाम से जाना गया। वह कोई एक धार्मिक पंथ का प्रतिनिधित्व नहीं करता, अपितु वह विभिन्न धार्मिक पंथों का एक संघ है। इसमें ब्राह्मण पंथ, बौद्ध पंथ, जैन पंथ एवं अन्य उपपंथ अथवा उपसंप्रदाय शामिल होते गए। इसमें एकेश्वरवाद एवं बहुदेववाद, ज्ञान एवं भक्ति, योग एवं मूर्ति पूजा, अहिंसा के तत्व, पशु बलि, निराकार ईश्वर की उपासना एवं तंत्रवाद सभी शामिल हैं। तीर्थ यात्रा ने इन धार्मिक पंथों को एकता प्रदान की। सर्वप्रथम अरबी लोगों ने 'हिन्दू' शब्द को जन्म दिया तथा आगे ब्रिटिश ने 'संप्रदाय' के रूप में इसे एक पृथक पहचान दे दी।

फिर ईसा की आरंभिक शताब्दियों में ही भारत 'अब्राहमी' (यहूदी एवं ईसाई) परंपरा के धार्मिक पंथों से भी परिचित हो गया था। उदाहरण के लिए, रोमन साम्राज्य से प्रताड़ित होने वाले यहूदियों के एक समूह ने भारत की ओर कूच किया। उसी प्रकार, ईसा की आरंभिक शताब्दी में भारत में ईसाई पंथ का आगमन हुआ था। प्रसिद्ध ईसाई संत सेंट थॉमस भारत आए। उनकी कब्र भी भारत के मद्रास में निर्मित हुई। वहीं केरल में कुछ ईसाई बस गए। उसी प्रकार ईरान में इस्लाम के आगमन के बाद कुछ जोरोस्ट्रियन भारत की ओर पलायन कर गए तथा गुजरात में बस गए। वे पारसी कहलाए तथा वे बड़े ही सफल व्यवसायी सिद्ध हुए। उसी तरह, मुस्लिम शासन की स्थापना से पूर्व ही अरब व्यापारी मालाबार तट पर बस गए। प्राचीन काल में भारतीय शासकों के द्वारा अन्य धार्मिक समूह के लोगों को प्रताड़ित किए जाने का कोई उदाहरण नहीं मिलता। अपितु उन्हें धर्म के अनुपालन की स्वतंत्रता मिली।

विविधता में एकता की अभिव्यक्ति कला, भाषा-साहित्य आदि सभी क्षेत्रों में देखने को मिलती है। भाषा-साहित्य के क्षेत्र में हम प्राचीनतम भाषा संस्कृत को मानते हैं। आगे इससे पालि, प्राकृत एवं अपभ्रंश भाषा का विकास हुआ। फिर पूर्व मध्यकाल में क्षेत्रीय भाषाओं का विकास हुआ, यथा, बांगला, उड़िया, पंजाबी, मराठी, गुजराती, हिंदी आदि। उसी प्रकार द्रविड़ समूह की भाषाओं में प्राचीनतम भाषा तमिल थी, फिर कन्नड़, तेलुगु एवं मलयालम भाषा विकसित हुई। इन सभी मुख्य भाषाओं के अतिरिक्त कई उप-भाषाएं एवं बोलियां भी प्रचलित हुईं।

2. धार्मिक सद्भाव का वातावरण:-विश्व के अन्य क्षेत्रों में ऐसा देखा गया है कि अगर किसी राजवंश के द्वारा एक धार्मिक पंथ को संरक्षण दिया जाता, तो अन्य धार्मिक पंथों के साथ भेदभाव किया जाता अथवा उन्हें उत्पीड़ित किया जाता, परंतु भारत में एक राजवंश के शासक अनेक धार्मिक पंथों को संरक्षण देते रहे उदाहरण के लिए, अशोक ने बौद्धों के साथ-साथ ब्राह्मणों एवं आजीवकों को भी संरक्षण दिया।

3. धार्मिक विचारों को व्यक्त करने की आजादी:- इस तथ्य को अमर्त्य सेन ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'Argumentative Indian' में व्यक्त किया है। इनके अनुसार, प्राचीन काल में सभी धार्मिक पंथ के लोग खुले रूप में एक-दूसरे के साथ शास्त्रार्थ करते थे। इस तथ्य ने भारतीय संस्कृति को अतिरिक्त ऊर्जा प्रदान की।

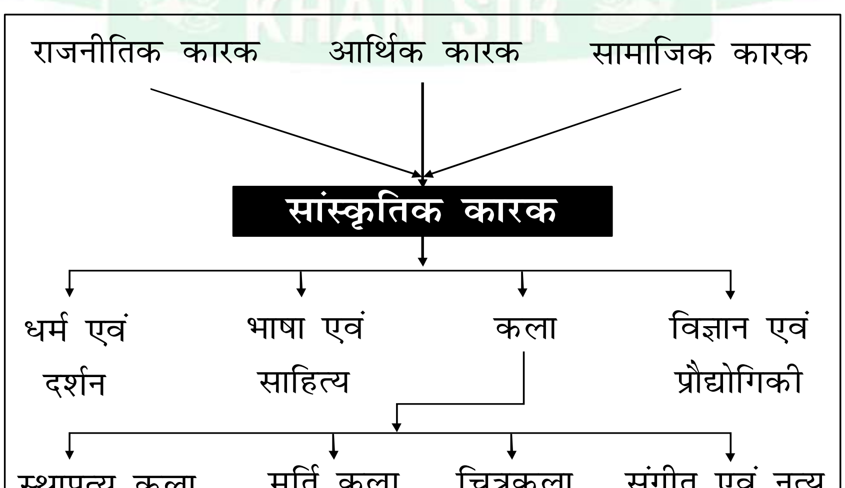

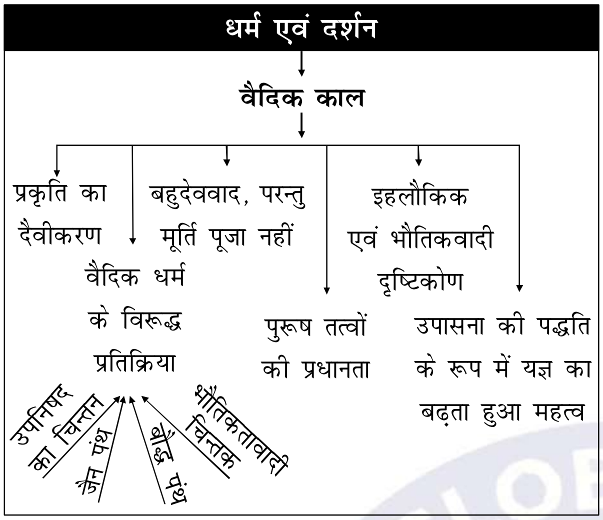

वैदिक धर्म

ऋग्वैदिक काल से उत्तर वैदिक काल तक एक जनजातीय समाज वर्ण विभाजित समाज में ढल गया था और उसी के साथ धर्म का एक स्पष्ट स्वरूप उभरकर आया। वैदिक धर्म की निम्नलिखित विशेषताएँ थीं-

1. प्रकृति का दैवीकरण- प्रकृति की जिन गुत्थियों को वैदिक आर्य नहीं सुलझा सके, उसका उन्होंने दैवीकरण कर दिया अर्थात् उन्हें देवता मान लिया, जैसे- सूर्य, पृथ्वी, चन्द्रमा आदि।

2. बहुदेववाद, परन्तु मूर्ति पूजा नहीं:- बहुदेववाद वैदिक धर्म की सामान्य विशेषता थी तथा मंत्रों के माध्यम से विभिन्न देवताओं का आह्वान किया जाता था, परन्तु प्राचीन यूनान की तरह यहाँ मूर्ति पूजा प्रचलित नहीं थी।

3. पुरुष तत्वों की प्रधानता- ऋग्वैदिक काल में आर्थिक-सामाजिक आवश्यकता के अनुकूल देवताओं के स्थान का निर्धारण हुआ। ऋग्वैदिक काल में सर्वश्रेष्ठ देवता के रूप में इन्द्र, अग्नि और वरुण थे। इन्द्र युद्ध के देवता (पुरंदर) तथा वर्षा के देवता (पुरभिद्) थे। दूसरे प्रमुख देवता अग्नि थे क्योंकि अग्नि का उपयोग न केवल खाना पकाने के लिए, बल्कि जंगलों की सफाई के लिए भी होता था। साथ ही, वे देवता और मानव के बीच मध्यस्थ की भूमिका भी निभाते थे। वरुण को 'ऋतस्य गोप' अर्थात् प्राकृतिक नियमों का रक्षक कहा जाता था। 'ऋत्' की परिकल्पना संभवत: ऋग्वैदिक आर्यों की सबसे ऊँची आध्यात्मिक उड़ान थी। वरुण को केवल प्रार्थना अथवा यज्ञ से संतुष्ट नहीं किया जा सकता था, बल्कि उसके लिए नैतिक स्तर का ऊँचा होना भी आवश्यक था।

उत्तर वैदिक काल तक देवताओं के स्थान में परिवर्तन आया। अब तीन सर्वश्रेष्ठ देवताओं के रूप में प्रजापति, विष्णु एवं रूद्र स्थापित हो गए। वस्तुत: उत्तर वैदिक काल तक आकर वैदिक आर्यो के जीवन की प्राथमिकताएँ बदल गईं थीं। अब वे स्थायी जीवन जीने लगे थे। उसकी आधारभूत संरचना इसी काल में विकसित हुई थी।

वैसे ऋग्वैदिक काल और उत्तर वैदिक काल में कुछ देवियों का भी जिक्र मिलता है, किन्तु उनका स्थान देवताओं से नीचे है, यथा- उषा, निशा, अरण्यानी, रात्रि आदि।

4. इहलौकिक एवं भौतिकतावादी दृष्टिकोण- वैदिक आर्य भौतिक सुख के लिए उपासना करते थे, मोक्ष के लिए नहीं। यहाँ उपासना का उद्देश्य था- प्रजा, पुत्र एवं धान्य की प्राप्ति।

5. उपासना की पद्धति के रूप में यज्ञ का बढ़ता हुआ महत्व- ऋग्वेद में प्रार्थना एवं यज्ञ दोनों का प्रचलन था, परन्तु उत्तर वैदिक काल में यज्ञ का महत्व काफी बढ़ गया। सबसे बढ़कर यज्ञ में पशुबलि और मंत्र दोनों का महत्व बढ़ जाने से यज्ञ कर्मकाण्ड प्रधान हो गया।

बुद्ध कालीन धर्म

बुद्ध काल तीव्र आर्थिक-सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया से गुजर रहा था तथा उसी के अनुरूप धर्म भी प्रभावित हुआ। आर्थिक परिवर्तन से आशय है- कृषि एवं नगरीय अर्थव्यवस्था का विकास। वैदिक धर्म इसके अनुकूल नहीं था। एक तरफ वैदिक यज्ञ में बड़ी संख्या में पशुओं की बलि दी जा रही थी, वहीं दूसरी तरफ इस काल में कृषि अर्थव्यवस्था की माँग थी- पशुधन की सुरक्षा। उसी प्रकार, नए धार्मिक पंथों के द्वारा व्यापार को भी संरक्षण दिया जा रहा था। अब जहाँ तक सामाजिक परिवर्तनों का सवाल है, तो कहीं-न-कहीं क्षत्रिय वर्ण की महत्वाकांक्षा ब्राह्मणों से टकरा रही थी। अधिकांश धर्म सुधारक क्षत्रिय वर्ण से ही आए थे।

■ **धार्मिक पंथों की विशेषताएँ:**

1. धार्मिक पंथों की बहुलता- इस काल में, बौद्ध ग्रंथ के अनुसार 62 धार्मिक सम्प्रदाय थे, जबकि जैन ग्रंथ के अनुसार 363 धार्मिक सम्प्रदाय।

2. संन्यास मार्ग का बढ़ता हुआ महत्व- इस काल में संन्यास की ओर लोगों का आकर्षण बढ़ा था। इसे 'श्रमण संस्कृति' का नाम दिया जाता है।

3. अधिकांश धार्मिक पंथों के द्वारा कर्म, पुनर्जन्म और मोक्ष की अवधारणा पर बल दिया गया। (इसका अपवाद भौतिकतावादी चिन्तन है।)

■ **प्रमुख धार्मिक पंथ:**

• **उपनिषद्**- उपनिषद् वैदिक धर्म के अन्तर्गत ही वैचारिक विकास को दर्शाता है। इसने यज्ञ अथवा पशुबलि को अस्वीकार कर दिया। इसके बदले में ज्ञान को मुक्ति का साधन माना, वह ज्ञान है- ब्रह्म एवं आत्मा की एकता का ज्ञान। इसके अनुसार, ब्रह्म और जीव दोनों एक हैं तथा मोक्ष के लिए ज्ञान आवश्यक है। उपनिषद् वैदिक धर्म के निष्कर्ष को बताता है अर्थात् वेदों का बल प्रार्थना पर था, ब्राह्मण ग्रंथ का यज्ञ पर, आरण्यक का तप पर और उपनिषद् का ज्ञान पर।

• **बौद्ध चिन्तन**- इस संसार के संबंध में बौद्धों की निम्नलिखित अवधारणाएँ थीं। प्रथम, यह संसार दु:खमय है अर्थात् दु:ख है, दु:ख का कारण है, दु:ख का निदान है तथा दु:ख के निदान के उपाय हैं। ये बौद्धों के चार आर्य सत्य हैं। फिर दु:ख के निदान के उपाय के रूप में 'अष्टांगिक मार्ग' का जिक्र किया गया। दूसरा, यह संसार क्षणिक है अर्थात् इसका मानना है कि प्रत्येक क्षण संसार बदलता है। तीसरा, यह संसार आत्माविहीन है, अर्थात् एक तरफ वह आत्मा के अस्तित्व को नकारता है, वहीं दूसरी तरफ वह पुनर्जन्म की अवधारणा पर बल देता है। अत: प्रश्न यह उपस्थित होता है कि अगर आत्मा नहीं है, तो आखिर एक जन्म से दूसरे जन्म में क्या जाता है? बौद्ध पंथ ने इसका उत्तर प्रतिच्चसमुत्पाद के माध्यम से खोजने का प्रयत्न किया। दूसरे शब्दों में, अगर दु:ख का कारण जन्म है, तो जन्म का कारण कर्मफल रूपी चक्र है। एक जन्म से ही दूसरे जन्म में कर्म जाता है। बौद्ध धर्म में इसे कारण एवं परिणाम अर्थात् कार्य-कारण पद्धति के माध्यम से व्यक्त करने का प्रयास किया गया है। जैसे एक दीपक बुझते ही दूसरे दीपक को जला देता है, तो पहला दीपक कारण है और दूसरा परिणाम।

• **जैन चिन्तन**- जैनियों के अनुसार यह संसार शाश्वत है, किन्तु इसमें उत्थान भौर पतन का काल आता है। उत्थान के काल को 'उत्सर्पिणी' तथा पतन के काल को 'अपसर्पिणी' कहा गया है। माना जाता है कि उत्थान के काल में 63 शलाका पुरुष (महान पुरुष) पैदा होते हैं, जबकि पतन के काल में मानव का आकार छोटा हो जाता है। 63 शलाका पुरुष में 24 तीर्थंकर और 12 चक्रवर्ती शासक होते हैं।

जैनियों के अनुसार, जीव और अजीव के संयोग से इस सृष्टि का संचालन होता है। वे जीव की श्रेणी में आत्मा को मानते हैं और अजीव की श्रेणी में धर्म, अधर्म, आकाश, काल (समय), पुद्गल (कर्म) को मानते हैं। जैनियों का उद्देश्य है जीवन को पुद्गल से मुक्त करना, उसे 'कैवल्य' की स्थिति माना गया है। इसके लिए वह दो प्रक्रियाओं की चर्चा करता है। प्रथम, 'संवर' - इसके लिए उसका कहना है कि जीव में पुद्गल के प्रवेश को रोकना पड़ेगा । दूसरा, 'निर्जरा'- इसका अर्थ है जीव में जो पुद्गल प्रविष्ट हो गया है, उसे नष्ट करना। इसी क्रम में काया-क्लेश पर बल दिया जाता है।

जैन पंथ में कैवल्य को सर्वोच्च ज्ञान माना गया है। इसमें पाँच अणुव्रत अथवा महाव्रत का जिक्र मिलता है। जैनियों का एक प्रमुख चिन्तन 'स्याद्वाद अथवा अनेकान्तवाद' माना जाता है। इसके अनुसार, सत्य की अनेक अवस्थाएं होती हैं। सत्य एक है तथा अनेक हैं, स्थिर है एवं परिवर्तनशील है, इसलिए सावधानीपूर्वक बयान देना चाहिए।

• **भौतिकतावादी चिन्तन**- बुद्ध और महावीर के समकालीन चिंतकों में हम कुछ भौतिकतावादी चिंतकों को भी देखते हैं। ये चिंतक थे- अजित केशकंबलिन, पकुध कच्चापन, पुरण कश्यप, मक्खलि गोशाल, संजय बेलिट्ठपुत्त आदि। फिर आगे इन्हीं की परंपरा से चार्वाक भी जुड़ गए थे। इन चिन्तकों ने कर्म, पुनर्जन्म अथवा मोक्ष की अवधारणा में विश्वास प्रकट नहीं किया। अजित केशकम्बलिन ऐसा मानता था कि कर्म का कोई फल नहीं होता, इसलिए जैसा चाहते हो वैसा करो। वह यदृच्छावादी कहलाया। चार्वाक इसी परम्परा का है। चार्वाक ने प्रत्यक्ष अनुभव को ज्ञान का साधन माना। मक्खलि गोशाल, जो आजीवक सम्प्रदाय का संस्थापक था, नियतिवादी था अर्थात् हमारा भविष्य पूर्व निश्चित है।

भौतिकतावादी चिंतन का सबल पक्ष यह था कि इस चिंतन में धर्मनिरपेक्षता थी। यदि यह चिंतन जीवित रह गया होता तो इसने वैज्ञानिक विचारों को प्रोत्साहन दिया होता, किंतु ऐसा नहीं हो सका। ब्राह्मणवादी तत्वों ने इन्हें दबा दिया तथा भौतिकतावाद पर प्रत्ययवाद हावी हो गया। वहीं दूसरी तरफ इसने कर्म एवं पुनर्जन्म की अवधारणा को अस्वीकार कर दिया, जो तात्कालिक सामाजिक माँगों के अनुकूल था। यही वजह है कि वे समाज पर अपेक्षित प्रभाव नहीं छोड़ पाये।

• **छठी सदी ई.पू. के काल को बौद्धिक क्रांति का काल क्यों माना जाता है?**

उत्तर भारत में छठी सदी ई.पू. का काल आत्मान्वेषण का काल था। यह वह काल था जब लोगों ने मृत्यु के बाद के जीवन, आत्मा, ब्रह्म आदि गूढ़ प्रश्नों पर विचार करना आरंभ किया। यद्यपि छठी सदी ई.पू. में यह बौद्धिक विकास एक क्रमिक परिवर्तन का परिणाम था तथा इसकी पृष्ठभूमि आरण्यक काल से ही निर्मित होने लगी थी। फिर भी हम इसे बौद्धिक क्रांति का काल मानते हैं क्योंकि इस काल में पंथों तथा विचारों में विविधता देखी गयी।

1. यह काल वैचारिक उथल-पुथल अथवा गहन बौद्धिक चिन्तन का काल था। इस काल में जीवन के मूलभूत प्रश्नों पर विचार किया गया।
2. इस काल में विभिन्न धार्मिक सम्प्रदाय अस्तित्व में आए। उदाहरण के लिए, बौद्ध ग्रंथ में 62 धार्मिक सम्प्रदायों की चर्चा है, तो जैन ग्रंथों में 363 धार्मिक सम्प्रदायों की।
3. विभिन्न चिंतकों के विचारों में मतभेद अथवा भिन्नता है। कुछ कर्म एवं पुनर्जन्म की अवधारणा को मानते हैं, तो कुछ उसे अस्वीकार करते हैं। एक तरफ उपनिषद् सर्वोच्च आत्मा की बात करता है, तो दूसरी तरफ बौद्ध पंथ आत्मा के अस्तित्व को ही अस्वीकार कर देता है।
4. एक तरह से अगर देखा जाए तो यह केवल भारत में ही नहीं, बल्कि वैश्विक स्तर पर बौद्धिक चिन्तन का काल रहा था। उदाहरण के लिए, इस काल में ईरान में जरथुष्ट, यूनान में पायथागोरस, चीन में कन्फ्यूशियस एवं लाओत्से जैसे चिन्तक हुए।

- **क्या बौद्ध पंथ धर्म सुधार आंदोलन के साथ-साथ समाज सुधार आंदोलन भी था?**

बौद्ध पंथ का गहरा संबंध तात्कालिक आर्थिक-सामाजिक परिवर्तनों के साथ जुड़ा रहा था। इसलिए यह धार्मिक आंदोलन के साथ-साथ सामाजिक आंदोलन भी सिद्ध हुआ। इसे निम्नलिखित रूप में समझा जा सकता है-

1. इसने यज्ञ एवं वैदिक कर्मकांड को अस्वीकार कर दिया।
2. इसने आत्मा और परमात्मा को अस्वीकार कर समकालीन धार्मिक विवाद से अपने को दूर रखने का प्रयत्न किया।
3. इसने ब्राह्मणवादी वर्ण व्यवस्था को अस्वीकार करते हुए यह घोषित किया कि वर्ण व्यवस्था ईश्वर निर्मित नहीं, बल्कि मानव निर्मित है।
4. इसने महिलाओं के लिए भी बौद्ध संघ का दरवाजा खोल दिया। इतना ही नहीं, महिलाओं के प्रति बौद्ध पंथ की संवेदनशीलता 'थेरीगाथा' (भिक्षुणियों की कविता) में व्यक्त हुई है।
5. उसने शूद्रों के लिए भी निर्वाण का मार्ग खोल दिया और उन्हें संघ में प्रवेश की अनुमति दी।
6. इसने अहिंसा पर बल दिया, जिससे कृषि अर्थव्यवस्था को प्रोत्साहन मिला। अतः इसे गृहस्थों का समर्थन मिला।
7. इसने महाजनी और मुनाफाखोरी को मान्यता दी। अतः इसे व्यापारियों का भी समर्थन मिला।

- **महात्मा बुद्ध के द्वारा किए जाने वाले समाज सुधार की क्या सीमाएँ रही थीं?**

इसकी निम्नलिखित सीमाएँ थीं-

1. ब्राह्मणवादी जाति व्यवस्था पर चोट करने के पश्चात् भी वे पूरी तरह उसे अस्वीकार नहीं कर पाए। कहीं-न-कहीं बौद्ध पंथ का जाति का पूर्वाग्रह बना रहा। यही वजह है किं बौद्ध संघ में सबसे अधिक संख्या सवर्णों की रही।
2. बौद्ध पंथ ब्राह्मणवादी पितृसत्तावाद के प्रभाव से मुक्त नहीं हो सका। बुद्ध ने काफी दबाव के पश्चात् बौद्ध संघ का दरवाजा महिलाओं के लिए भी खोला था, परन्तु पुरुषों के साथ उसकी समानता स्थापित नहीं हुई। भिक्षुणियों के लिए पृथक संघ बनाया गया और उन्हें भिक्षुओं के कठोर निरीक्षण में रखा गया।

- **बौद्ध पंथ के प्रसार के क्या कारण थे, जिससे वह एक विश्व धर्म बन सका?**

महात्मा बुद्ध विश्व के उन गिने-चुने सामाजिक चिंतकों में स्थापित हुए जिन्होंने ईसाई धर्म एवं इस्लाम धर्म के समान बौद्ध धर्म को एक विश्व धर्म के रूप में स्थापित किया। इसके निम्नलिखित कारण थे-

1. बौद्ध पंथ ने तात्कालिक आर्थिक समस्या का निराकरण देने का प्रयास किया, जैसे- महाजनी और मुनाफाखोरी तथा पशुधन की सुरक्षा।
2. इस पंथ ने तात्कालिक सामाजिक समस्या का निराकरण देने का भी प्रयास किया। उदाहरण के लिए, वर्ण एवं जाति व्यवस्था की अस्वीकृति।
3. इसने कुछ ऐसे मूलभूत प्रश्नों को उठाया, जो 'सार्वदेशिक' एवं 'सार्वकालिक' थे। वे प्रश्न थे- दु:ख, बीमारी, बुढ़ापा एवं मृत्यु।
4. बौद्ध संघ और बौद्ध भिक्षुओं के माध्यम से देश तथा देश से बाहर इसका प्रसार किया गया।
5. बौद्ध पंथ का राजाओं के समर्थन के कारण भी प्रसार हुआ, उदाहरण के लिए, अशोक, कनिष्क आदि।

- **वर्तमान में बौद्ध पंथ की प्रासंगिकता क्या है?**

बौद्ध पंथ के कुछ विचारों की आज भी प्रासंगिकता है-

1. **अहिंसा**- वर्तमान हिंसा से ग्रस्त विश्व को बौद्ध पंथ राहत प्रदान कर सकता है।
2. बौद्ध धर्म के द्वारा प्रतिपादित मध्यम मार्ग, जिसे हम अष्टांगिक मार्ग के नाम से जानते हैं, वर्तमान भारत एवं विश्व की अधिकांश समस्याओं का निराकरण कर सकता है। वर्तमान विश्व की समस्या है- 'अतिवाद' अर्थात् अत्यधिक उपभोग। इस प्रवृत्ति ने पर्यावरण संकट से लेकर आतंकवाद तक सभी समस्याओं को जन्म दिया है।

3. बौद्ध पंथ ने जाति विभाजन को अस्वीकृत कर दिया था, इसलिए आधुनिक युग में भी यह प्रासंगिक बना रहा। 1956 ई. में भी डॉ. भीमराव अम्बेडकर ने महारों को बौद्ध पंथ ग्रहण करने के लिए प्रोत्साहित किया।

मॉडल प्रश्न:

1. बौद्ध धर्म की लोकप्रियता का कारण बताइए।
2. क्या महात्मा बुद्ध को आप एक सामाजिक क्रांति का प्रवर्तक मानते हैं? अपने मत के पक्ष में उत्तर दीजिए।
3. बौद्ध धर्म किन कारणों से विश्व धर्म बना? क्या वर्तमान में इसकी प्रासंगिकता है?

मौर्य काल

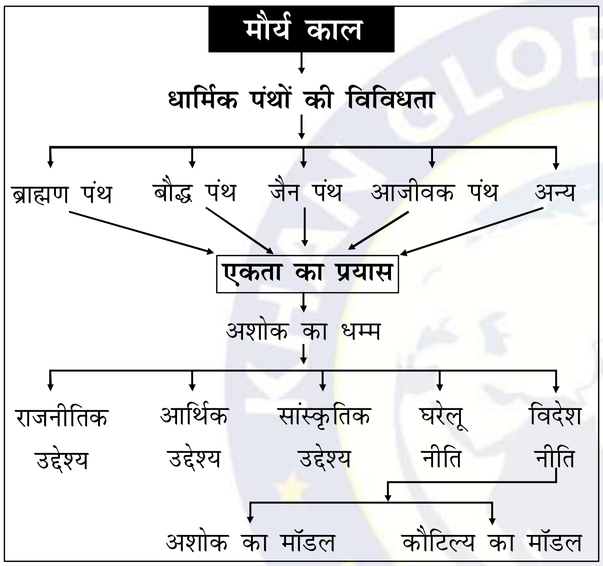

- **अशोक की धम्म नीति**
- **क्या अशोक एक समर्पित बौद्ध था?**

अशोक अपने व्यक्तिगत जीवन में एक बौद्ध था। उसके भाब्रु अभिलेख से ज्ञात होता है कि उसने बौद्ध पंथ के त्रिरत्न (बुद्ध, धम्म एवं संघ) में अपनी आस्था प्रकट की थी। परन्तु उसने जिस धम्म को प्रतिपादित किया, वह बौद्ध पंथ की सीमा में बंधा हुआ नहीं था, बल्कि वह सामाजिक एवं नैतिक आदर्शों को व्यक्त करता था, जो उत्तम जीवन के लिए आवश्यक था। उस धम्म नीति का बल निम्नलिखित कारकों पर रहा था–

- माता, पिता एवं गुरु की सेवा।
- नौकर, दास एवं पशुओं के प्रति करुणा का भाव।
- अल्प-व्यय एवं अल्प-संग्रह।
- क्रोध एवं निष्ठुरता से मुक्त होना आदि।

- **अशोक की धम्म नीति निम्नलिखित उद्देश्यों से प्रेरित थी–**

1. **राजनीतिक उद्देश्य–** राजनीतिक दृष्टि से इसका उद्देश्य एक विस्तृत क्षेत्र में फैले हुए साम्राज्य की एकता को बनाए रखने के लिए एक संयोजक शक्ति की भूमिका निभाना था। उसके माध्यम से साम्राज्य की एकता और अखण्डता को बनाए रखना सम्भव होता।
2. **आर्थिक उद्देश्य–** आर्थिक दृष्टि से इसका बल पशुधन की सुरक्षा पर रहा था। वस्तुतः पशुधन की सुरक्षा कृषि अर्थव्यवस्था की माँग के अनुकूल थी, अतः अंहिसा की अवधारणा पर बल देकर इसने कृषि अर्थव्यवस्था को प्रोत्साहित किया।
3. **सांस्कृतिक उद्देश्य–** सांस्कृतिक दृष्टि से यह विविधता में एकता लाने का प्रयास था क्योंकि इसके माध्यम से विभिन्न धार्मिक पंथों के बीच टकराहट को रोका जा सकता था।

- **अशोक की धम्म नीति का घरेलू नीति पर प्रभाव–**

1. कम-से-कम दण्ड शक्ति का प्रयोग कर शासन का संचालन करना।
2. राज्य के लोक कल्याणकारी स्वरूप पर बल देना।
3. कर्मठ प्रशासन एवं बेहतर गवर्नेंस पर बल दिया। उदाहरण के लिए, उसके अभिलेख से हमें यह ज्ञात होता है कि उसके अधिकारी किसी समय भी उससे मिल सकते थे।
4. अपनी प्रजा के नैतिक उत्थान के लिए उसने कदम उठाए। इसके लिए उसने धम्म महामात्र नामक अधिकारी की नियुक्ति आरम्भ की, जो लोगों में धम्म नीति का प्रसार करता था।

अशोक की घरेलू नीति की सफलता इस बात से ही निर्धारित की जा सकती है कि स्वतंत्र भारत की सरकार ने भी राष्ट्रीय प्रतीक के रूप में अशोक चक्र को अपनाया।

- **अशोक की धम्म नीति का विदेश नीति पर प्रभाव–**

1. अशोक ने विदेश नीति का एक वैकल्पिक मॉडल प्रस्तुत किया। वह विश्व का प्रथम ऐसा शासक था जिसने युद्ध का विकल्प खोजने का प्रयास किया।
2. अपने 13वें वृहद् शिलालेख में उसने यह घोषित किया कि वह युद्ध विजय की नीति को छोड़कर धम्म विजय की नीति को अपना रहा है अर्थात् मेल-मिलाप की नीति।
3. उसने राजदूत की जगह धम्म दूत की नियुक्ति शुरू की। इसके माध्यम से अशोक ने सांस्कृतिक कूटनीति को जन्म दिया। उसने विभिन्न देशों में धार्मिक मिशन भेजे। वर्तमान में भी भारत और दक्षिण-पूर्व एशिया के बीच संबंध का आधार सांस्कृतिक कूटनीति ही बना हुआ है।
4. अन्य मौर्य शासकों ने 'पश्चिम की ओर देखो की नीति' पर

विशेष बल दिया था। वहीं अशोक ने पश्चिम की ओर देखो की नीति के साथ-साथ 'पूरब की ओर देखो' (Look East Policy) की नीति पर भी बल दिया। उदाहरण के लिए, उसने श्रीलंका और दक्षिण-पूर्व एशिया में धार्मिक मिशन भेजे थे।

5. पिछले लगभग 2400 वर्षों में विश्व, भौतिक क्षेत्र में काफी आगे बढ़ चुका है, परन्तु नैतिक क्षेत्र में वह अशोक की शांति घोषणा से आगे नहीं बढ़ सका है।

■ कौटिल्य की विदेश नीति की विशेषताएँ क्या हैं?

विदेश नीति के मोर्चे पर कौटिल्य का दृष्टिकोण अधिक यथार्थवादी प्रतीत होता है। अशोक के आदर्शवाद के समानान्तर उसने अवसरवाद पर विशेष बल दिया।

उसकी विदेश नीति 'राजमंडल व्यवस्था' पर आधारित है। इसमें पड़ोसी राज्यों को मित्र एवं शत्रु राज्यों में विभाजित किया गया है तथा उनके विषय में नीति निर्धारित की गई है। उसका मानना था कि आपका निकटस्थ पड़ोसी आपका शत्रु हो सकता है और आपके शत्रु का शत्रु आपका मित्र। उसी प्रकार, उसने इन राज्यों को मित्र का मित्र, शत्रु का मित्र, शत्रु का शत्रु आदि में विभाजित किया।

अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों के प्रमुख विद्वान शिव शंकर मेनन का कहना है कि वेस्टफेलिया की संधि से 2000 वर्ष पूर्व ही कौटिल्य ने 'शक्ति सन्तुलन' की अवधारणा प्रस्तुत कर दी थी।

भारत की विदेश नीति में अशोक एवं कौटिल्य दोनों की विरासत देखी जा सकती है। दोनों का अपना अलग-अलग महत्व है। जहाँ कौटिल्य की विदेश नीति एक ऐसे राज्य के लिए है जो साम्राज्य बनने की ओर अग्रसर है, वहीं अशोक की विदेश नीति एक बड़े साम्राज्य के लिए है जिसका बल विस्तार की जगह संगठन पर है।

मौर्योत्तरकालीन धर्म

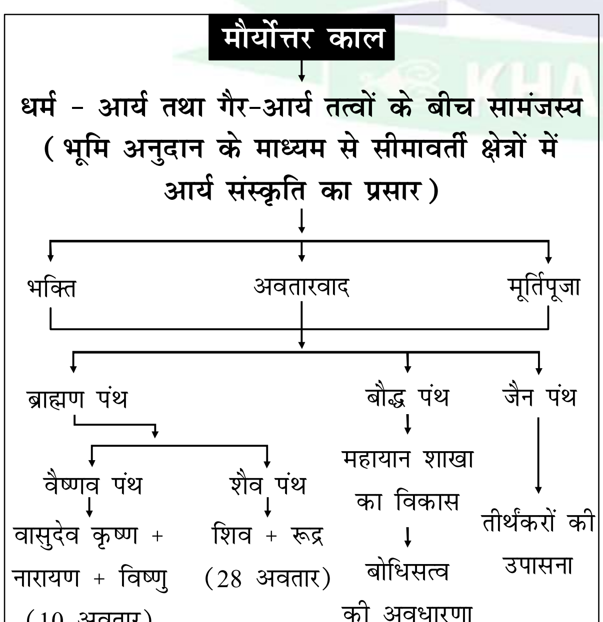

मौर्योत्तर काल में धर्म के क्षेत्र में परिवर्तन का महत्वपूर्ण कारण था- आर्य तथा गैर-आर्य तत्वों के बीच सामंजस्य। इसने धर्म के स्वरूप में निम्नलिखित परिवर्तन लाया -

1. भक्ति की अवधारणा का विकास।
2. अवतारवाद की परिकल्पना का विकास।
3. मूर्तियों का निर्माण तथा उनकी उपासना।

इन कारकों ने लगभग सभी धार्मिक पंथों पर अपना प्रभाव छोड़ा।

■ ब्राह्मण पंथ

- **वैष्णव पंथ का विकास**- आर्य एवं गैर-आर्य तत्वों के मिश्रण से वैष्णव पंथ का विकास हुआ। वासुदेव कृष्ण एक गैर-आर्य देवता थे। वे मथुरा के 'पंच वृष्णि नायक' से सम्बद्ध थे। इन वृष्णि नायकों में वासुदेव कृष्ण, संकर्षण (बलराम), शाम्ब, प्रद्युम्न एवं अनिरुद्ध का विवरण मिलता है। प्रथम सदी के मथुरा के 'मोरा अभिलेख' से इनके विषय में हमें सूचना मिलती है। उसी प्रकार, पाणिनी के अष्टाध्यायी एवं छान्दोग्य उपनिषद से भी हमें वासुदेव कृष्ण की सूचना मिलती है। आगे वासुदेव कृष्ण का एकीकरण एक अन्य गैर-आर्य देवता, नारायण के साथ हो गया। इनकी उपासना हिमालय क्षेत्र में होती थी और इनके उपासक पशुचारक थे। फिर इन गैर-आर्य देवताओं के ऊपर विष्णु जैसे आर्य देवता को स्थापित कर दिया गया। इस प्रकार, वैष्णव पंथ का विकास हुआ।
- **शैव पंथ का विकास**- एक गैर-आर्य देवता के रूप में शिव की चर्चा हड़प्पा सभ्यता के काल में ही मिलती है। वहीं एक वैदिक देवता रूद्र का विवरण पहली बार ऋग्वेद में प्राप्त होता है। आगे इन दोनों देवताओं के बीच एकीकरण हो गया और फिर शैव पंथ का विकास हुआ।

भक्ति की अवधारणा के साथ अवतारवाद की परिकल्पना भी जुड़ गई। विष्णु के 10 अवतार और शिव के 28 अवतारों की परिकल्पना की जाने लगी।

■ बौद्ध पंथ

भक्ति के प्रभाव से बौद्ध पंथ के अन्तर्गत महायान शाखा का विकास हुआ। महायान पंथ ने बौद्ध धर्म के स्वरूप को ही बदल दिया तथा इसे ब्राह्मण पंथों के निकट ला दिया। महायान शाखा पूर्व काल की हीनयान शाखा से निम्नलिखित रूप में भिन्न थी-

1. हीनयान शाखा में बुद्ध की ऐतिहासिकता स्पष्ट थी। उन्हें शिक्षक एवं उपदेशक के रूप में देखा जाता था, परन्तु महायान शाखा में उन्हें देवता के रूप में स्वीकृति प्राप्त हुई। इसके अंतर्गत बोधिसत्व की परिकल्पना विकसित हुई। बोधिसत्व वह है, जो

निर्वाण प्राप्त करने की योग्यता रखता है, परन्तु वह अपने निर्वाण को टालता जाता है क्योंकि वह अपने से पहले सभी प्राणियों को निर्वाण प्रदान करना चाहता है। वह दूसरे के लिए दुःख भोग रहा है। इस प्रकार, महायान का दृष्टिकोण अधिक आशावादी था। इसने हीनयान के विपरीत निर्वाण का दरवाजा सभी के लिए खोल दिया।

2. अतः बोधिसत्व के प्रति भक्ति की अवधारणा विकसित हुई और भक्ति से मूर्ति पूजा शुरू हो गई। जहाँ हीनयान बौद्ध पंथ में महात्मा बुद्ध से जुड़े हुए प्रतीक चिह्न की पूजा होती थी, वहीं अब बोधिसत्वों की मूर्तियाँ बनने लगीं।

■ **जैन पंथ**

जैन पंथ भी श्वेतांबर एवं दिगंबर दो शाखाओं में विभाजित हो गया था। श्वेतांबर शाखा ने मूर्ति पूजा को स्वीकार कर लिया था। फिर भी, जैन धर्म ने अपनी विशिष्टता बनाये रखी क्योंकि वह महावीर की शिक्षा से बहुत ज्यादा विचलित नहीं हुआ था। अब इस काल में तीर्थंकर, बोधिसत्व और ब्राह्मण देवताओं की मूर्तियाँ बनने लगीं।

प्रश्नः 'ईसा की आरम्भिक शताब्दियों में धर्म के क्षेत्र में होने वाले परिवर्तन भारतीय इतिहास में महत्वपूर्ण भू-चिह्न बन गये।' इस कथन का परीक्षण कीजिए।

उत्तरः ईसा की आरंभिक शताब्दियों में धर्म के क्षेत्र में आर्य एवं गैर-आर्य तत्वों के बीच मिश्रण देखा गया। इसके परिणामस्वरूप धर्म का वह स्वरूप सामने आया जिसकी पहचान आगे हिन्दू धर्म के रूप में हुई।

भूमि अनुदान के कारण ब्राह्मण, बौद्ध एवं जैन धर्मानुयायी सभी सीमावर्ती क्षेत्रों में स्थापित हुए और जनजातीय तत्वों के सम्पर्क में आये। इसके परिणामस्वरूप आर्य एवं गैर-आर्य तत्वों के बीच सांस्कृतिक आदान-प्रदान हुआ। ब्राह्मण पंथ में यज्ञ का प्रचलन था, परंतु जनजातीय तत्वों के प्रभाव में भक्ति का महत्व बढ़ गया। फिर भक्ति ने विविध धार्मिक पंथों पर अपना प्रभाव छोड़ा। इसके परिणामस्वरूप ब्राह्मण पंथ में वैष्णव भक्ति एवं शैव भक्ति का विकास हुआ, वहीं बौद्ध पंथ के अन्तर्गत महायान शाखा का विकास हुआ। अन्त में, जनजातीय प्रभाव में मूर्ति पूजा को प्रोत्साहन मिला तथा बुद्ध, बोधिसत्व, जैन तीर्थंकरों, विष्णु तथा शिव की मूर्तियाँ बनने लगीं।

फिर यह वह काल था जब कुछ गैर-आर्य देवता भी आर्य पंथ में शामिल होते चले गये। इसके परिणामस्वरूप धर्म का वह स्वरूप निखरकर सामने आया जिसे हिन्दू धर्म के रूप में पहचाना गया। ये देवता थे- शिव, कुमार कार्तिकेय, मातृदेवी, गणेश, पशु, वृक्ष आदि।

इस प्रकार, ईसा की आरम्भिक शताब्दियों में सामाजिक एकीकरण ने धर्म के क्षेत्र में परिवर्तन लाया और फिर यह परिवर्तन भारतीय इतिहास का महत्वपूर्ण भू-चिह्न बन गया।

गुप्तकालीन धर्म

गुप्तकालीन धर्म में निम्नलिखित प्रवृत्तियाँ देखने को मिलती हैं-

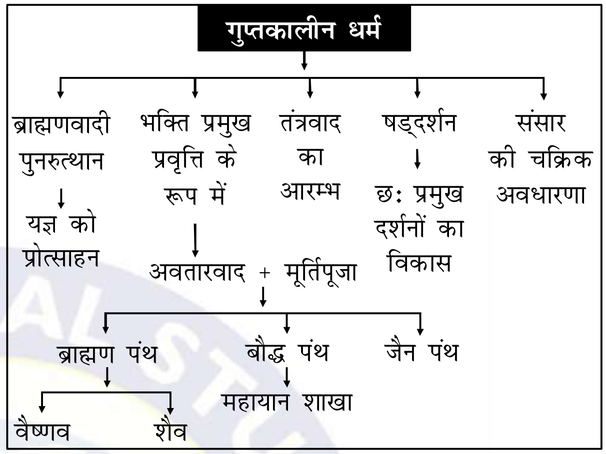

■ **ब्राह्मणवादी पुनरुत्थान**

चूँकि इस काल में ब्राह्मणवादी पुनरुत्थान हुआ था, इसलिए यज्ञ का महत्व बढ़ गया। गुप्त शासकों में दो शासक; यथा- समुद्रगुप्त एवं कुमारगुप्त जैसे शासकों को अश्वमेध यज्ञ करने का श्रेय दिया जाता है। उसी प्रकार, सामान्य गृहस्थों में भी हविर्यज्ञ, सोमयज्ञ एवं पंच महायज्ञ प्रचलित थे।

■ **भक्ति प्रमुख प्रवृत्ति के रूप में**

ब्राह्मण एवं गैर-ब्राह्मण तत्वों के मध्य सामंजस्य के परिणामस्वरूप भक्ति की अवधारणा विकसित हुई। भक्ति की अवधारणा के साथ अवतारवाद एवं मूर्तिपूजा की परिकल्पना भी जुड़ गई। अवतारवाद की परिकल्पना में विभिन्न विरोधी तत्वों के मध्य सामंजस्य लाने की कोशिश की गई। भक्ति की अवधारणा ने लगभग सभी समकालीन पंथों को प्रभावित किया। उदाहरण के लिये, ब्राह्मण धर्म के अंतर्गत वैष्णव भक्ति एवं शैव भक्ति का विकास हुआ। ब्राह्मण देवताओं की मूर्तियाँ भी मंदिर में स्थापित की गईं और मूर्ति पूजा आरम्भ हो गई। गुप्तकाल में ही आकर त्रिदेव की परिकल्पना स्थापित हुई अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश की परिकल्पना। गुप्त शासकों ने वैष्णव पंथ को संरक्षण दिया।

गुप्तकाल में गैर-ब्राह्मण देवताओं की उपासना भी लोकप्रिय हो गयी थी। उदाहरण के लिए, मातृदेवी की पूजा, पशु पूजा, सर्प पूजा इत्यादि।

■ **तंत्रवाद का आरम्भ**

सम्भवतः गैर-आर्य तत्वों के प्रभाव से धर्म के क्षेत्र में नवीन प्रवृत्ति देखी गई, उसे हम तंत्रवाद के रूप में पाते हैं।

वस्तुत: गुप्तकालीन धर्म का एक महत्वपूर्ण अभिलक्षण था स्त्री तत्वों का बढ़ता हुआ महत्व अर्थात् इस प्रकार की अवधारणा विकसित होने लगी थी कि पुरुषों की क्रियाशीलता को प्रोत्साहित करने के लिए स्त्रियों का साहचर्य आवश्यक है। उदाहरण के लिये, विष्णु के साथ लक्ष्मी जुड़ गईं तथा शिव के साथ पार्वती। हड़प्पा सभ्यता में स्त्री की पूजा कुमारी के रूप में होती थी, परन्तु गुप्तकाल में मातृदेवियाँ देवताओं से संबद्ध थीं। इसके परिणामस्वरूप तन्त्रवाद को भी प्रोत्साहन मिला।

■ षड्दर्शन

षड्दर्शन अथवा छ: प्रमुख दर्शनों का विकास। वस्तुत: गुप्तकाल तक विभिन्न प्रकार के दृष्टिकोण एवं चिंतन प्रचलित हो गए थे। ये दृष्टिकोण एवं चिंतन षड्दर्शन के रूप में स्थापित हो गए। ये इस प्रकार हैं- सांख्य, योग, वैशेषिक, न्याय, पूर्व-मीमांसा एवं उत्तर-मीमांसा।

- **सांख्य**- सांख्य दर्शन सबसे प्राचीन दर्शन है। इसके प्रवर्तक कपिल हैं। इस दर्शन का मूल ग्रंथ महर्षि कपिल का 'सांख्य सूत्र' है। प्राचीन सांख्य दर्शन के अनुसार जगत की सृष्टि के लिये दैवीय तत्व का अस्तित्व मानना आवश्यक नहीं है क्योंकि जगत की उत्पत्ति ईश्वर से नहीं, अपितु प्रकृति से होती है। किन्तु आगे चलकर प्रकृति के साथ पुरुष भी जुड़ गया। पुरुष का अर्थ है जीव। जैन दर्शन सांख्य दर्शन के निकट है।
- **योग**- दूसरा प्रमुख दर्शन योग-दर्शन है। भारतीय दर्शनों में संभवत: योग से ही संसार में सबसे अधिक लोग परिचित हैं। इस दर्शन में आत्म-नियंत्रण एवं आत्म-यातना को सर्वोपरि माना जाता है। योग दर्शन के अनुसार ईश्वर सृष्टि का रचयिता नहीं है, बल्कि एक उत्कृष्ट या ऊर्जस्वि आत्मा है जो कभी भी पदार्थ में विलीन हुए बिना अस्तित्व में रही है। इसके प्रवर्तक पतंजलि हैं जिन्होंने योगसूत्र की रचना की।
- **न्याय**- यह तर्क पद्धति के माध्यम से सत्य तक पहुँचने का प्रयत्न करता है। इसके प्रवर्तक अक्षपाद गौतम हैं। इस दर्शन का मूल ग्रंथ गौतम कृत 'न्याय सूत्र' है। न्याय का शाब्दिक अर्थ होता है— विश्लेषणात्मक जाँच। इस दर्शन में तर्क के प्रयोग का जो महत्व प्रतिपादित हुआ है उससे भारतीय विद्वान प्रभावित होकर तार्किक रीति से सोचने और बहस करने की ओर झुके।
- **वैशेषिक**- इस दर्शन का वैशेषिक नामकरण इस आधार पर है क्योंकि यह ब्रह्माण्ड को 'विशेषों' में विभाजित करता है। यह एक प्रकार का परमाणु दर्शन है और इसके प्रवर्तक उलूक कणाद हैं। यह दर्शन विभिन्न प्रकार की परम वस्तुओं में अंतर करने का प्रयत्न करता है और सभी वस्तुओं को महाभूतों, अर्थात् पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और आकाश के अंतर्गत, जो परमाणु, दिक्, काल, मन और आत्मा के रूप में विद्यमान है, में वर्गीकृत करता है। जब इन पंचमहाभूतों के परमाणु आपस में जुड़ने लगते हैं तब जगत की सृष्टि का प्रारंभ होता है और जब उनका विघटन हो जाता है तो जगत का अंत हो जाता है।
- **मीमांसा**- इसका अर्थ है वेदों की व्याख्या तथा इसका लक्ष्य है वेदों को पुनर्प्रतिष्ठित करना। इसका मूलग्रंथ जैमिनी का 'पूर्व मीमांसा सूत्र' है। मीमांसा दर्शन का संबंध वैदिक धर्म के व्यावहारिक पक्ष से है। इसमें मुख्य रूप से पवित्र अनुष्ठानों तथा उनसे प्राप्त होने वाले प्रतिफलों का विवेचन किया जाता है।
- **उत्तर मीमांसा या वेदांत**- इसका अर्थ है वेदांत दर्शन तथा इसका आधार है उपनिषद्। ईसा पूर्व दूसरी सदी में संकलित बादरायण का ब्रह्मसूत्र इस दर्शन का मूल ग्रंथ है। दर्शन का मूल आरंभिक उपनिषदों में पाया जाता है। इस दर्शन के अनुसार ब्रह्म ही सत्य है, अन्य हर वस्तु माया यानि अवास्तविक है। आत्मा तथा ब्रह्म में कोई अंतर नहीं है। अत: जो कोई आत्मा को या अपने आप को पहचान लेता है उसे ब्रह्म का ज्ञान हो जाता है एवं मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है। ब्रह्म तथा आत्मा दोनों शाश्वत और अविनाशी हैं। आगे शंकराचार्य ने उपनिषद, ब्रह्मसूत्र एवं भागवत गीता पर टीकाएँ लिखीं। इसे शंकर का वेदान्त कहा जाता है।

■ संसार की चक्रिक अवधारणा

इस काल तक ब्राह्मणवादी अवधारणा में सृष्टि के विकास की एक चक्रिक अवधारणा का विकास हुआ। इसके तहत चार युगों से मिलकर एक महायुग बनता है और 71 महायुगों का मनवंतर। कुल 14 मनवंतरों की परिकल्पना की गई। प्रत्येक मनवंतर के बाद इस सृष्टि का विनाश होता है और एक नए मनु पैदा होते हैं। वर्तमान में हम सातवें मनवंतर से गुजर रहे हैं और हमारे पूर्वज मनु हैं।

गुप्तोत्तरकालीन धर्म

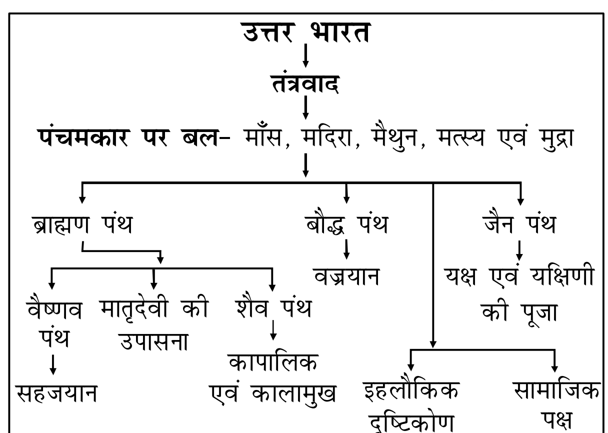

उत्तर भारत में धर्म के क्षेत्र में तंत्रवाद का प्रभाव बढ़ता गया। तंत्रवाद में वामाचार एवं पंचमकारों की साधना पर बल दिया जा रहा था। इसने लगभग सभी महत्वपूर्ण धार्मिक पंथों पर अपना प्रभाव छोड़ा–

■ **ब्राह्मण पंथ**

- **वैष्णव पंथ**– तंत्रवाद के प्रभाव में इसके अन्तर्गत सहजयान शाखा का विकास हुआ।
- **शैव पंथ**– इसके अन्तर्गत कापालिक एवं कालामुख जैसे अतिवादी सम्प्रदाय विकसित हुए। ये अपने शरीर में चिता की भस्म मलते थे, नर कपाल में भोजन करते थे तथा पंचमकारों की साधना करते थे।
- **मातृदेवी की उपासना**– मातृदेवी का तांत्रिक पूजा में महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसकी पूजा पर भी तंत्रवाद का गहरा प्रभाव देखा गया।

■ **बौद्ध पंथ**

बौद्ध धर्म में तंत्र-मंत्र के प्रभाव से 'वज्रयान' नामक पंथ का उद्भव हुआ। वज्रयान जादुई शक्ति को प्राप्त करके मुक्त होने की कल्पना करता है। इस पंथ में पुरुष के साथ स्त्री की कल्पना जुड़ गई। अवलोकितेश्वर (बोधिसत्व) के साथ प्रज्ञापारमिता तथा बुद्ध के साथ तारा जुड़ गईं।

■ **जैन पंथ**

जैन पंथ पर तंत्रवाद का प्रभाव सबसे कम देखा गया, किन्तु इसके अन्तर्गत भी यक्ष एवं यक्षिणी की उपासना आरम्भ हो गई। उन्होंने अपनी पूजा पद्धति में तीर्थंकरों के अलावा यक्ष-यक्षिणियों को भी शामिल किया था।

■ **इहलौकिकता पर बल**

तंत्रवाद का प्रमुख बल पारलौकिकता की जगह इहलौकिकता पर रहा था। इसमें सांसारिक बातों को अधिक महत्व दिया गया था क्योंकि इसमें साँप एवं बिच्छू के काटने पर भी मंत्र का प्रभाव था।

■ **सामाजिक पक्ष**

ब्राह्मणवादी पंथों के विपरीत तंत्रवाद का दृष्टिकोण अधिक समतामूलक था। तांत्रिक साधना में लिंग तथा जाति का भेद नहीं किया गया है। यह साधना समान रूप से स्त्री तथा शूद्रों के लिये उपलब्ध थी। इस वजह से निम्न जातियों तथा जनजातीय क्षेत्रों में तांत्रिक धर्म को प्रोत्साहन मिला। इसके अन्तर्गत महिला को भी गुरु का पद प्राप्त हो जाता है।

दक्षिण भारत

इस काल में दक्षिण भारत में भक्ति का विकास हुआ, इसे भक्ति आंदोलन का नाम दिया जाता है। वस्तुत: उत्तर से पुराणों पर आधारित भक्ति दक्षिण आई और दक्षिण में संगम साहित्य के 'प्रेम' तत्व से जुड़ गई। अत: भक्ति का भावनात्मक रूप प्रकट हुआ।

भक्ति आंदोलन को प्रेरित करने में अलवार (विष्णु पूजक) तथा नयनार (शिव पूजक) संतों की महत्वपूर्ण भूमिका रही। परम्परा के अनुसार 12 अलवार संत थे, इनमें एक पांड्य शासक कुलशेखर एवं एक महिला संत अंदाल भी थीं। उसी प्रकार, 63 नयनार संत थे, इन संतों में अप्पर, नामसंबंदर, सुन्दरमूर्ति आदि प्रमुख थे। अलवार संतों के भजन 'प्रबन्धम्' नामक ग्रंथ में संकलित हुए। दक्षिण में प्रबन्धम् को वेदों के समानान्तर सम्मान प्राप्त है। उसी प्रकार, नयनार संतों की जीवनी को 12वीं सदी में 'पेरियपुराणम्' नामक ग्रंथ में संकलित किया गया।

अलवार और नयनार संतों की मिश्रित पृष्ठभूमि थी अर्थात् वे उच्च जाति एवं निम्न जाति, दोनों से आए थे, किन्तु जाति व्यवस्था के प्रति उनके मन में समर्पण का भाव नहीं था। इसलिए कहीं-न-कहीं वे धार्मिक समानता के साथ-साथ सामाजिक समानता के लिए भी प्रतिबद्ध थे।

पूर्व मध्यकालीन धर्म

■ **उत्तर भारत**

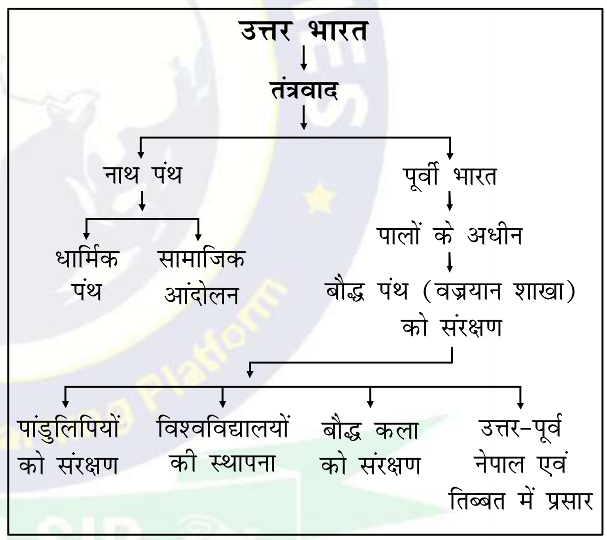

पूर्व मध्य काल तक उत्तर भारत में तंत्रवाद की एक अति महत्वपूर्ण शाखा विकसित हुई, इसे नाथपंथ के रूप में जाना जाता है। इसके संस्थापक 'मत्स्येन्द्रनाथ' थे। फिर आगे इसके महत्वपूर्ण संत गोरखनाथ हुए। नाथपंथियों ने नैतिक आचरण पर बल दिया, इसलिए हम उन्हें धर्म सुधारक के रूप में भी देख सकते हैं। वहीं दूसरी तरफ नाथपंथ ने जाति विभाजन को अस्वीकार कर दिया। अत: हम इन्हें समाज सुधारक के रूप में भी देख सकते हैं। नाथपंथ ने निम्न वर्ग एवं अछूतों के लिए भी अपना दरवाजा खोल दिया था।

■ **पूर्वी भारत**

इस काल तक उत्तर भारत में बौद्ध पंथ का लगभग सफाया

हो गया था। इसके निम्नलिखित कारण थे-

1. महायान शाखा के विकास के बाद बौद्ध पंथ अपने को ब्राह्मण पंथ से अलग नहीं कर सका।
2. हूणों के आक्रमण के कारण अनेक बौद्ध भिक्षुओं की हत्या हो गई।
3. शंकराचार्य के द्वारा हिन्दू धर्म का पुनरुत्थान किया गया। इसके कारण भी बौद्ध पंथ का पतन हुआ। ह्वेनसांग ने उत्तर भारत में बौद्ध विहारों को पतनशील अवस्था में पाया था।

परन्तु उस काल में भी बंगाल में पाल शासकों के अधीन बौद्ध पंथ फलता-फूलता रहा था। पाल शासकों ने निम्नलिखित रूप में बौद्ध पंथ को प्रोत्साहन दिया-

1. पाल शासकों ने वज्रयान बौद्ध शाखा के लोकप्रिय स्वरूप को समझा और अशोक की तरह ही उसे संरक्षण दिया।
2. पाल शासकों ने अतिश दीपांकर जैसे बौद्ध विद्वानों को संरक्षण दिया और बौद्ध धर्म से संबंधित पांडुलिपियों को संरक्षण दिया।
3. पाल शासकों ने नालंदा विश्वविद्यालय को संरक्षण दिया तथा विक्रमशिला, ओदन्तपुरी और सोमपुरा जैसे विश्वविद्यालयों की स्थापना की, जो बौद्ध शिक्षा केन्द्र के रूप में स्थापित हुए।
4. उन्होंने उत्तर-पूर्व, नेपाल एवं तिब्बत में बौद्ध धर्म का प्रसार किया।

इसलिए अगर भारत में बौद्ध पंथ जीवित रहा, तो पालों के संरक्षण के कारण।

प्रश्न- भारत में बौद्ध धर्म के इतिहास में पाल काल अति महत्त्वपूर्ण चरण है। विश्लेषण कीजिए। (UPSC-2020)

उत्तर- पाल साम्राज्य को बंगाल के इतिहास में स्वर्ण युग माना जाता है। स्वर्ण युग मानने के पीछे के कारणों में से एक इस अवधि के दौरान बौद्ध धर्म का विकास था, जिसे पाल शासकों ने पूरे मन से संरक्षण दिया।

पाल शासन काल में अनेक मठों एवं विश्वविद्यालयों का निर्माण करवाया गया, जैसे- ओदंतपुरी का मठ, विक्रमशिला विश्वविद्यालय, नालंदा विश्वविद्यालय आदि। ये केंद्र बौद्ध शिक्षा के साथ-साथ धर्मनिरपेक्ष अध्ययन के महान केंद्रों के रूप में उभरे।

फिर, देवपाल ने नालंदा विश्वविद्यालय के रखरखाव के लिए पाँच गाँवों की आय दान में दी। इस अवधि के दौरान अन्य शिक्षण केंद्रों; जैसे जगद्दल, सोमपुरा, इराइकूट आदि का निर्माण किया गया। सुवर्णद्वीप के राजा, बालपुत्रदेवा ने पाल शासन के काल में नालंदा में एक मठ का निर्माण करवाया। इस अवधि के दौरान बौद्ध विषयों पर कई पांडुलिपियां और वज्रयान बौद्ध देवताओं की छवियों को ताड़ के पत्तों पर उकेरा गया था। उदाहरण के लिए, अष्टसहस्रिका प्राजापरमिता।

पाल वंश के दौरान वज्रयान बौद्ध धर्म के आगमन तथा पाल शासकों के द्वारा संस्थानों को दिए गए संरक्षण के कारण यह अवधि बौद्ध धर्म के लिए विशेष रूप से महत्वपूर्ण हो जाती है। इस काल में वज्रयान बौद्ध धर्म बंगाल से तिब्बत, मंगोलिया और मध्य एशिया के कुछ हिस्सों में फैल गया। अतः निश्चय ही पाल शासन काल भारत में बौद्ध धर्म के विकास का एक महत्वपूर्ण पड़ाव है।

- **दक्षिण भारत**
- **भक्ति आंदोलनः**

12वीं सदी
रामानुज
भक्ति आंदोलन के स्वरूप में परिवर्तन
↑
10वीं सदी के पश्चात्
आचार्यों का आगमन
↑
7वीं -11वीं सदी
(अलवार एवं नयनार)
लोकप्रिय आंदोलन, धार्मिक समानता के साथ-साथ
सामाजिक समानता की बात

दक्षिण भारत में भक्ति आन्दोलन का आधार अलवार और नयनार संतों ने तैयार किया था। आगे फिर आचार्यों का आगमन हुआ। ये आचार्य ब्राह्मण थे, अतः ब्राह्मण आचार्यों के अधीन भक्ति आंदोलन के स्वरूप में परिवर्तन आया।

आचार्य रामानुज का आगमन एवं भक्ति आन्दोलन के स्वरूप में परिवर्तन-

1. रामानुज ने वेद और प्रबन्धम् की परम्परा के बीच सामन्जस्य लाया। इस तरह भक्ति संतों की उदार धार्मिक परंपरा और ब्राह्मणवाद के बीच एक प्रकार का सामंजस्य लाया गया।
2. रामानुज ने धार्मिक क्षेत्र में सभी की समानता स्वीकार की, परन्तु सामाजिक क्षेत्र में वर्ण विभाजन को बने रहने दिया। रामानुज ने एक प्रकार से सामाजिक रूढ़िवाद को प्रोत्साहन दिया।
3. रामानुज ने विशिष्टाद्वैत चिन्तन के माध्यम से भक्ति आंदोलन को एक स्पष्ट दर्शन का आधार दिया।

शंकर के अद्वैत चिंतन में रामानुज के द्वारा लाए गए संशोधन-

1. शंकर के अनुसार, ब्रह्म और जीव एक ही तत्व से निर्मित हैं और दोनों एक हैं। वहीं रामानुज के अनुसार, यद्यपि दोनों

एक ही तत्व से निर्मित हैं, परन्तु एक नहीं हैं। ब्रह्म अगर 'परिमाण' है, तो जीव उसका 'गुण'।

2. शंकर के अनुसार, जीव की मुक्ति के लिए ज्ञान आवश्यक है, परन्तु रामानुज के अनुसार यद्यपि ज्ञान का महत्व है, परन्तु जीव की मुक्ति के लिए ईश्वर की कृपा भी आवश्यक है।

3. शंकर के अनुसार जीव की मुक्ति ब्रह्म में लीन हो जाने में है, वहीं रामानुज के अनुसार, जीव की मुक्ति ब्रह्म में लीन होने में नहीं है, बल्कि उसके निकट रहकर मिलन के इस आनंद को महसूस करने में है।

शंकराचार्य की ऐतिहासिक भूमिका अथवा शंकराचार्य को हैंदवधर्मोद्धारक क्यों कहा जाता है?

शंकराचार्य 9वीं सदी में केरल तट पर पैदा हुए तथा उन्होंने धर्म के क्षेत्र में सक्रियता दिखाई तथा कुछ ऐसे परिवर्तन लाए कि उन्हें 'हैंदवधर्मोद्धारक' के नाम से जाना गया। शंकराचार्य ने हिन्दू धर्म के पुनरुत्थान के लिए निम्नलिखित कदम उठाए-

1. उन्होंने अद्वैत दर्शन को पुनर्स्थापित कर हिंदू धर्म की वैचारिक एवं धार्मिक पृष्ठभूमि को मजबूत किया।

2. जनसामान्य के बीच उन्होंने मूर्ति पूजा को स्वीकृति दी। दूसरे शब्दों में, उन्होंने इस सृष्टि के रचियता के रूप में ब्रह्मा, पालनहार के रूप में विष्णु तथा संहारक के रूप में शिव की अवधारणा दी।

3. हिन्दू धर्म की भावात्मक एकता के लिए उन्होंने भारत के चार छोरों पर चार मठों का निर्माण करवाया । उदाहरण के लिए, उत्तर में बद्रीनाथ, दक्षिण में श्रृंगेरी, पूर्व में जगन्नाथ पुरी एवं पश्चिम में द्वारका।

4. शंकराचार्य ने बौद्ध संघ के मॉडल पर हिंदू धर्म के प्रचार-प्रसार के लिए ब्राह्मण संन्यासियों का एक संगठन तैयार किया तथा उन्हें बौद्ध और जैन चिन्तकों से खुले शास्त्रार्थ की प्रेरणा दी।

■■■

खंड-2
उपखंड-5

प्राचीन भारत में भाषा एवं साहित्य
(Language and Literature in Ancient India)

भाषा का विकास

उत्तर भारत (आर्य समूह की भाषा)
↓
संस्कृत
↓
प्रथम प्राकृत (पालि)
↓
द्वितीय प्राकृत (प्राकृत)
↓
तृतीय प्राकृत (अपभ्रंश)
↓
आधुनिक भाषाएँ
↓
असमिया, उड़िया, बांग्ला, हिन्दी, गुजराती, मराठी, पंजाबी
↓
अवधी, ब्रजभाषा, खड़ी बोली
↓
राजभाषा

■ भाषा एवं साहित्य में संबंध

भाषा अगर व्यक्त करने का माध्यम है, तो साहित्य भाव है। भाषा के माध्यम से ही भाव व्यक्त होता है अर्थात् भाषा अगर गाड़ी है, तो साहित्य सवारी।

■ भाषा एवं लिपि में संबंध

भाषा अगर ध्वनि है, तो लिपि उसका चित्रण। लिपि के बिना भाषा का अस्तित्व हो सकता है, परन्तु भाषा के बिना लिपि का नहीं। भाषा बोली जाती है, तो लिपि लिखी जाती है।

■ भाषा के विकास की क्या स्थिति रही?

उत्तर भारत की प्रमुख भाषाओं को आर्य भाषा के रूप में जाना जाता है। उत्तर भारत की प्राचीनतम आर्य भाषा संस्कृत भाषा थी। संस्कृत भाषा का आरम्भिक रूप वैदिक संस्कृत था। कहा जाता है कि भाषा का विकास समाज के विकास के समानान्तर होता है। उसी तरह, सामाजिक समन्वय के समानान्तर ही भाषायी समन्वय की प्रक्रिया चलती रहती है। अत: जब वैदिक आर्यो का गैर-आर्यो के साथ सम्पर्क हुआ, तो संस्कृत का ध्वनि शास्त्र भी प्रभावित हुआ तथा फिर वैदिक संस्कृत के समानान्तर लौकिक संस्कृत का विकास हुआ। फिर लगभग 4 सदी ईसा पूर्व एक प्रमुख विद्वान पाणिनी ने संस्कृत को व्याकरणबद्ध कर दिया। अत: यह एक मानक एवं अभिजात्य भाषा के रूप में स्थापित हो गयी। सामान्यत: ऐसा देखा जाता है कि व्याकरण का आधार मिलने के पश्चात् एक तरफ भाषा मानक भाषा का रूप ले लेती है, वहीं दूसरी तरफ उस भाषा का विकास अवरूद्ध होने लगता है क्योंकि जनसामान्य मानक भाषा से कटने लगते हैं। वस्तुत: जनसामान्य के लिए व्याकरण के नियमों का पालन करना कठिन होता है।

अत: जनसामान्य के बीच संस्कृत एक दुर्बोध भाषा बन चुकी थी। चूँकि इसमें 8 विभक्तियां तथा 3 वचन होते थे, जिस कारण प्रत्येक शब्द के 24 रूप बनते थे। यही कारण है कि जनसामान्य ने संस्कृत भाषा के समानान्तर एक अलग प्रकार की लोक भाषा विकसित कर ली, जिसे हम 'पालि' अथवा 'प्राकृत' के नाम से जानते हैं। समय के साथ प्राकृत के स्वरूप में भी परिवर्तन होता गया। इसमें विकास के 3 चरण देखने को मिलते हैं, जिसे प्रथम प्राकृत, द्वितीय प्राकृत तथा तृतीय प्राकृत का नाम दिया गया। प्रथम प्राकृत को 'पालि' के नाम से, द्वितीय प्राकृत को 'प्राकृत' के नाम से तथा तृतीय प्राकृत को 'अपभ्रंश' के नाम से जाना गया। एक के बाद दूसरे का विकास हुआ तथा इस विकास के क्रम में भाषा सरलीकरण की ओर उन्नमुख हुई अर्थात् विभक्तियां घिसकर टूटने लगीं तथा फिर उनकी जगह परसर्गों का प्रयोग आरम्भ हो गया। इसके परिणामस्वरूप जनसामान्य के लिए भाषा को बोलना और समझना आसान हो गया। फिर प्राकृत की विभिन्न अवस्थाओं के विकास के क्रम में इसका क्षेत्रीय स्वरूप भी विकसित होने लगा था। उदाहरण के लिए, शौरसेनी, अर्द्धमागधी आदि। किंतु प्रत्येक अवस्था में भाषा को व्याकरणबद्ध किया जाता रहा। उदाहरण के लिए, अपभ्रंश का विकास 8वीं सदी से आरम्भ हुआ था, फिर हेमचन्द नामक विद्वान ने इस भाषा को ही व्याकरणबद्ध कर दिया। अत: आगे इसी से हिन्दी का विकास हुआ। अपभ्रंश एक मध्यकालीन आर्य भाषा थी, किंतु हिन्दी एक आधुनिक आर्य भाषा बनकर आयी। इसके भी अलग-अलग क्षेत्रीय रूप थे, जिन्हें बोलियों के नाम से जाना गया। उदाहरण के लिए, अवधी, ब्रजभाषा, खड़ी बोली हिन्दी आदि।

■ द्रविड़ समूह की भाषा

द्रविड़ समूह की भाषा
↓
तमिल | कन्नड़ | तेलुगु | मलयालम

- **तमिल**- दक्षिण भारत में भाषाओं के द्रविड़ समूह का विकास देखा जा सकता है। प्राचीनतम द्रविड़ भाषा, तमिल भाषा थी। 200 ई.पू. यह भाषा अस्तित्व में आयी। सर्वप्रथम इसका प्रयोग गुफा अभिलेख के रूप में मिलता है। तत्पश्चात् यह संगम साहित्य के रूप में विकसित हुयी। फिर आगे लगभग सभी युगों में इसका विकास हुआ। इसका क्षेत्र तमिलनाडु एवं दक्षिण आंध्र-क्षेत्र था।
- **कन्नड़**- तमिल भाषा के पश्चात् दूसरी प्रमुख द्रविड़ भाषा के रूप में कन्नड़ का विकास हुआ। इसके आरम्भिक विकास

में जैन संतों का महत्वपूर्ण योगदान रहा। फिर इसमें राष्ट्रकूट शासकों ने भी अपना योगदान दिया। इसका मुख्य क्षेत्र कर्नाटक रहा था।

- **तेलुगु**– यह भाषा आंध्र क्षेत्र में विकसित हुई थी। विजयनगर काल में एक साहित्यिक भाषा के रूप में इसकी काफी प्रगति हुई।
- **मलयालम**– यह केरल प्रदेश की भाषा थी। 14वीं सदी तक इसका साहित्यिक भाषा के रूप में प्रचुर विकास देखने को मिलता है।

■ लिपि का विकास

भारत की प्राचीनतम लिपि सिंधु लिपि थी, किन्तु यह पढ़ी नहीं जा सकी। लगभग छठी सदी ई.पू. में ब्राह्मी लिपि का विकास हुआ। इसका सबसे आरंभिक साक्ष्य हमें अशोक के अभिलेखों में मिलता है। अशोक के अभिलेखों में हमें उत्तर भारत से दक्षिण भारत तक मुख्यत: ब्राह्मी लिपि का ही प्रयोग मिला है, परन्तु उत्तर-पश्चिम में अशोक के अभिलेखों में अरामाइक लिपि, खरोष्ठी लिपि एवं यूनानी लिपि, इन तीनों का भी प्रयोग हुआ है।

गुप्त काल तक आकर लिपि के रूप में 'कुटिलाक्षर' का विकास देखने को मिलता है। फिर लगभग 10वीं सदी तथा उसके पश्चात् देवनागरी लिपि का विकास हुआ तथा भारत की अनेक भाषाओं के लेखन में इसका प्रयोग शुरू हो गया।

■ साहित्य का विकास

- **वैदिक साहित्य (1500-600 ई.पू.):-**

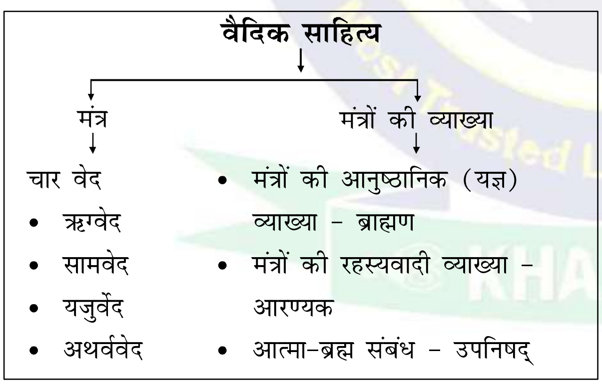

वैदिक साहित्य को हम दो भागों में बाँट सकते हैं। प्रथम, भाग है मंत्र तथा दूसरा भाग है ब्राह्मण। मंत्र चार वेदों में संकलित हैं। ये वेद हैं- ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद तथा अथर्ववेद। यजुर्वेद अनुष्ठान संबंधी वेद हैं, सामवेद संगीत पर पुस्तक है तथा अथर्ववेद औषधि शास्त्र से संबंधित है।

ब्राह्मण का अर्थ है- मंत्रों की व्याख्या। मंत्रों की व्याख्या भी तीन प्रकार से की गयी है। आनुष्ठानिक व्याख्या-ब्राह्मण, रहस्यवादी व्याख्या-आरण्यक (जंगल में तप द्वारा मोक्ष) तथा आत्मा-ब्रह्म संबंध-उपनिषदीय (ब्रह्म-जीव की एकता) व्याख्या।

- **बुद्धकालीन साहित्य:-**

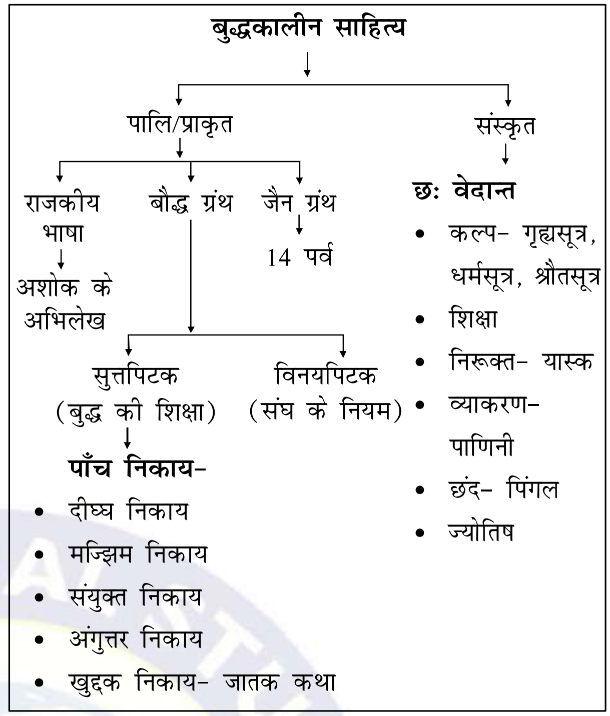

संस्कृत साहित्य- इस काल में भी संस्कृत ग्रन्थों की रचना होती रही। संस्कृत में लिखे वैदिक साहित्य को श्रुति (देवताओं ने कहा-ऋषियों ने सुना) का नाम दिया गया था, वहीं इस काल के साहित्य को स्मृति साहित्य (इसमें बिना सुने स्मृति के आधार पर लिखा) के रूप में भी जाना गया। इसमें 6 वेदांग आते हैं, जो इस प्रकार हैं- कल्प सूत्र, शिक्षा, ज्योतिष, छंद, व्याकरण एवं निरूक्त। कल्प सूत्र को 3 भागों में बाँटा जाता है- श्रौत सूत्र, गृह्य एवं धर्म सूत्र। शुल्व सूत्र को भी श्रौत सूत्र से जोड़ा जाता है।

पालि साहित्य- चूँकि पालि भाषा जनभाषा थी, इसलिए महात्मा बुद्ध ने बौद्ध धर्म के प्रसार के लिए पालि का उपयोग किया। इस काल में त्रिपिटक (सुत्तपिटक, विनयपिटक अभिधम्मपिटक) का संकलन हुआ। सुत्तपिटक में बुद्ध की शिक्षा संकलित थी। विनयपिटक में संघ के नियम थे तथा अभिधम्मपिटक में बौद्ध दर्शन व्यक्त हुआ था। सुत्तपिटक में पाँच निकाय थे-

1. दीर्घ निकाय
2. मज्झिम निकाय
3. संयुक्त निकाय
4. अंगुत्तर निकाय
5. खुद्दक निकाय- धम्मपद, थेरगाथा (भिक्षु तथा भिक्षुणियों की कविताएं)

प्राकृत साहित्य- जैन धर्म से संबंधित साहित्य प्राकृत भाषा में संकलित हुआ।

- **मौर्य काल (400ई.पू.-200ई.पू.):-**

मौर्य कालीन साहित्य

- **पालि/प्राकृत**
  - अशोक के अभिलेख
  - बौद्ध ग्रंथ → अभिधम्म पिटक (बौद्ध दर्शन)
  - जैन ग्रंथ → 14 पर्व, 12 अंगों के द्वारा विस्थापित
- **संस्कृत**
  - कौटिल्य का अर्थशास्त्र
  - कात्यायन की वर्तिका

मौर्य काल में पालि/प्राकृत भाषा का महत्व बढ़ गया। यही वजह है कि इसने राजभाषा का दर्जा प्राप्त कर लिया। अशोक के अभिलेख प्राकृत भाषा में ही लिखे गये, उसी प्रकार पालि/प्राकृत भाषा में ही बौद्ध एवं जैन साहित्य का संकलन हुआ। त्रिपिटक में तीसरे पिटक या अभिधम्म पिटक की रचना पालि भाषा में इसी काल में हुई। पालि में एक ग्रंथ महावस्तु भी लिखा गया। उसी प्रकार, जैन साहित्य प्राकृत में लिखा गया। आरंभिक जैन साहित्य 14 वर्ण में विभाजित था जिसे आगे 12 अंगों के द्वारा विस्थापित किया गया।

इसका अर्थ यह नहीं है कि संस्कृत ग्रंथों का संकलन बंद हो गया, अपितु संस्कृत का संकलन भी चलता रहा। उदाहरण के लिए, कौटिल्य के अर्थशास्त्र के अधिकांश भाग का संकलन इसी काल में हुआ। इसके अतिरिक्त कात्यायन की वर्तिका भी इसी काल में संकलित हुई।

- **मौर्योत्तर काल (200ई.पू.-300ई.):-**

मौर्योत्तर कालीन साहित्य

उत्तर भारत

- संस्कृत की प्रगति
  - ब्राह्मण साहित्य
    - पुराण
    - मनुसंहिता
    - रामायण एवं महाभारत के अधिकांश भाग का संकलन
  - बौद्ध साहित्य (महायान बौद्ध पंथ)
    - अवदानों की रचना
    - ललितविस्तर
    - लंकावतार सूत्र
    - अश्वघोष की बुद्धचरित एवं सौन्दरानंद
- प्राकृत/पालि
  - बौद्ध ग्रंथ → मिलिन्दपन्हों (एकमात्र महायान बौद्ध से संबंधित ग्रंथ, जो पालि में लिखित)
  - सातवाहन दरबार में लिखित ग्रंथ → गाथा-सप्तशती

संस्कृत- इस काल में राजदरबारों में संस्कृत का महत्व बढ़ने लगा था। यह प्रक्रिया रूद्रदामन के जूनागढ़ अभिलेख से आरम्भ हुई थी। जूनागढ़ अभिलेख को भारत में संस्कृत में सबसे बड़ा अभिलेख माना जाता है। वस्तुतः इस काल में भारत में शक एवं कुषाण जैसे कुछ विदेशी राजवंश स्थापित हुए थे। उसी प्रकार, सातवाहन जैसे कुछ जनजातीय मूलवंश के राजवंश भी स्थापित थे। अतः ऐसे राजवंशों को भारतीय समाज में वैधता प्राप्त करने की जरूरत थी। इस कारण से उन्होंने ब्राह्मण पंथ एवं संस्कृत को संरक्षण दिया।

फिर वही काल था जब बौद्ध धर्म के स्वरूप में भी परिवर्तन आ चुका था तथा हीनयान शाखा के समानान्तर महायान शाखा का विकास हुआ था। महायान शाखा ने पालि भाषा को छोड़कर संस्कृत भाषा को अपना लिया। इसलिए जहाँ हीनयान साहित्य पालि भाषा में मिलता है, वहीं महायान साहित्य संस्कृत भाषा में। अतः जिस प्रकार पालि भाषा में बुद्ध के जन्म से संबंधित जातक कथाएं लिखी गयी थीं, उसी प्रकार इस काल में महायान साहित्य में बुद्ध के जीवन से संबंधित अवदान लिखे गये। उसी प्रकार अश्वघोष तथा अन्य विद्वानों की कृतियां भी संस्कृत में लिखी गईं। अश्वघोष द्वारा लिखित महत्वपूर्ण ग्रन्थ बुद्धचरित्र तथा सौन्दरानन्द हैं।

पालि/प्राकृत- जनसामान्य में पालि/प्राकृत का प्रचलन बना रहा। फिर महायान शाखा से संबंधित एक मात्र ग्रन्थ ऐसा मिलता है जो पालि में लिखा गया है, वह ग्रन्थ है मिलिन्दपन्हों। उसी प्रकार, सातवाहन दरबार में प्राकृत को भी संरक्षण मिला। उदाहरण के लिए, सातवाहन शासक हाल ने छद्म नाम से गाथासप्तशती नामक ग्रन्थ प्राकृत में लिखा।

दक्षिण भारत

आरंभिक तमिल साहित्य (संगम साहित्य)

तृतीय संगम की रचना-

- मेलकन्कु - 18 ग्रंथ
- किलकन्कु - 18 लघु ग्रंथ
- महाकाव्य - शिल्पादिकारम् एवं मणिमेखलई

तमिल साहित्य- तमिल साहित्य का आरम्भिक रूप संगम साहित्य के रूप में व्यक्त हुआ है। 'संगम' का शाब्दिक अर्थ होता है-कवियों का सम्मेलन। एक तमिल मिथक के अनुसार मदुरई एवं आस-पास के क्षेत्र में कवियों के तीन सम्मेलन हुए। बताया जाता है कि प्रथम सम्मेलन में केवल देवताओं और ऋषियों ने भाग लिया था तथा इसमें बहुत सी रचनाएं लिखी गयी थीं, किन्तु एक समुद्री तूफान के कारण सभी रचनाएं नष्ट हो गयीं। फिर दूसरे सम्मेलन मे भी देवताओं और ऋषियों ने ही

भाग लिया था तथा इसमें भी बहुत सी रचनाएं संकलित की गईं, किन्तु ये भी नष्ट हो गयीं तथा एकमात्र रचना बच गयी और वह रचना थी तोल्कापियम, जो एक तमिल व्याकरण ग्रंथ था। फिर तीसरे संगम का आयोजन हुआ, इस संगम में एट्टुत्तोकई (8 ग्रंथ) का संकलन हुआ। इसके अलावा 10 ग्राम्यगीत लिखे गये जो पत्तुपत्तु नामक ग्रंथ में संकलित हैं।

अगर हम संगम साहित्य का विश्लेषण करते हैं, तो हमें इसमें विकास के कई चरण नजर आते हैं–

1. मेलकन्कु साहित्य (आख्यानात्मक साहित्य)– तृतीय संगम में संकलित 8 ग्रन्थ तथा 10 ग्राम्यगीत मेलकन्कु साहित्य के अन्तर्गत आते हैं। यह साहित्य प्रेम एवं राजा की प्रशस्ति से संबंधित साहित्य था।

2. किलकन्कु साहित्य (उपदेशात्मक साहित्य)– इस समूह में 18 लघु ग्रन्थ आते हैं, जिनमें तिरूकुरल एवं नालदियार प्रमुख हैं। इन ग्रन्थों पर जैन दृष्टिकोण का प्रभाव है तथा ये आख्यानात्मक से उपदेशात्मक हो गये। इस तरह मेलकन्कु की तुलना में किलकन्कु पर उत्तर का प्रभाव अधिक दिखता है।

3. महाकाव्य– शिल्पादिकारम तथा मणिमेखलई महाकाव्यों पर उत्तर का प्रभाव सबसे अधिक दिखता है क्योंकि तमिल लोग छोटी–छोटी कविताएं लिखते थे। अगर उन्होंने महाकाव्य लिखा, तो उत्तर के महाभारत एवं रामायण के प्रभाव में। फिर इन महाकाव्यों पर बौद्ध प्रभाव स्पष्ट है तथा ये निर्वाण के सन्दर्भ में सोचते हैं।

वैसे तो तमिल मिथक के अनुसार, संगम ग्रन्थों का संकलन बहुत पहले हुआ, किन्तु नवीन शोधों से यह ज्ञात होता है कि इन ग्रन्थों का संकलन ईसा की प्रथम सहस्त्राब्दी ई. में हुआ। वस्तुतः संगम ग्रन्थ दक्षिण भारत के राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और धार्मिक जीवन को जानने के महत्वपूर्ण स्रोत हैं। इनसे हमें ज्ञात होता है कि दक्षिण में चोल, चेर और पांड्य राजवंश स्थापित थे तथा इनके बीच निरंतर संघर्ष होता था। आर्थिक क्षेत्र में ये रोमन व्यापार की सूचना देते हैं। उसी प्रकार, सामाजिक क्षेत्र में ये दक्षिण के समाज पर उत्तर के प्रभाव को दर्शाते हैं तथा हमें सूचित करते हैं कि वर्ण व्यवस्था तथा महिलाओं की निम्न अवस्था उत्तर की तरह दक्षिण के समाज में भी व्याप्त हो रही थी। इसके अतिरिक्त, संगम साहित्य से हमें धर्म के क्षेत्र में उत्तर तथा दक्षिण के बीच होने वाले समन्वय की भी सूचना मिलती है। उत्तर एवं दक्षिण के देवताओं और देवियों के बीच भी एकीकरण देखने को मिलता है। उदाहरण के लिए, दक्षिण के एक देवता मुरुगन का संबंध उत्तर के एक देवता कुमार कार्तिकेय से किया जाता है। उसी प्रकार, दक्षिण की एक देवी कोर्रवई का एकीकरण उत्तर की एक देवी दुर्गा से किया जाता है।

प्रश्नः दक्षिण भारत के राजनीतिक इतिहास की दृष्टि से अधिक उपयोगी न होते हुए भी संगम साहित्य उस समय की सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति का अत्यंत प्रभावी शैली में वर्णन करता है। टिप्पणी कीजिए (200 शब्द, UPSC-2013)

उत्तरः– तमिल परंपरा में तमिल विद्वानों के तीन सम्मेलनों का जिक्र मिलता है। इन सम्मेलनों को संगम कहा गया है तथा इनमें लिखित साहित्य को संगम साहित्य, किंतु वास्तविक रूप में इस साहित्य की रचना ईसा की आरंभिक शताब्दियों में हुई। वस्तुतः प्रभावी अध्ययन सामग्री की अनुपस्थिति में संगम साहित्य सुदूर दक्षिण के इतिहास जानने का प्रमुख स्रोत है। यद्यपि राजनीतिक इतिहास की तुलना में यह सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास पर बेहतर प्रकाश डालता है।

संगम साहित्य चोल, चेर एवं पांड्य राजवंश की सूचना देता है। संगम साहित्य के माध्यम से इन राजवंशों की वंशावली ज्ञात होती है। किंतु वंशावलियों के विवरण में प्रामाणिकता का अभाव दिखता है तथा कुछ शासकों के द्वारा किए गए दावे भी अतिशयोक्तिपूर्ण प्रतीत होते हैं। उदाहरण के लिए, एक चेर वंश के शासक ने उत्तर में हिमालय पहाड़ तक के क्षेत्र को जीत लेने का दावा किया है। इसलिए राजनीतिक इतिहास के अध्ययन स्रोत के रूप में इस विवरण का महत्व कम हो जाता है।

वहीं संगम साहित्य के विवरण से सामाजिक इतिहास का बेहतर ज्ञान मिलता है। आरंभिक संगम साहित्य, एट्टुत्तोकई, से हमें यह सूचना मिलती है कि जिस प्रकार उत्तर का समाज चतुर्वर्ण व्यवस्था पर आधारित था, उसी प्रकार दक्षिण का समाज कुट्टी प्रथा पर। फिर उत्तर तथा दक्षिण के समाज के बीच निरन्तर संवाद जारी रहा था। माना जाता है कि उत्तर भारत के मॉडल पर दक्षिण भारत में भी चतुर्वर्ण व्यवस्था को अपनाने का प्रयास किया गया था, यद्यपि यह व्यवस्था दक्षिण के समाज में पूरी तरह लागू नहीं हो पायी। फिर हमें संगम साहित्य से यह भी ज्ञान मिलता है कि उत्तर भारत की तरह इस काल में सुदूर दक्षिण में भी महिलाओं की हीन अवस्था थी।

अर्थव्यवस्था के क्षेत्र में भी संगम साहित्य हमें प्रभावी सूचना प्रदान करता है। संगम साहित्य में अर्थव्यवस्था को पाँच क्षेत्रों (तिनै) में बाँटा गया है तथा उन्हीं के आधार पर विभिन्न पेशों का निर्धारण किया गया है। सबसे बढ़कर संगम साहित्य से रोमन व्यापार की प्रभावशाली सूचना प्राप्त होती है। इससे ईसा की आरंभिक शताब्दियों में रोम के साथ किए जाने वाले व्यापार में आयात एवं निर्यात की विस्तृत सूची भी प्राप्त होती है। साथ ही संगम साहित्य से हमें यह भी ज्ञान मिलता है कि

संगमकालीन अर्थव्यवस्था नगरीकरण तक पहुँच गयी थी।

इस प्रकार संगम साहित्य सुदूर दक्षिण के, विशेषकर सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास जानने का महत्वपूर्ण स्रोत है।

- **गुप्तकालीन साहित्य (300ई.-600ई.):-**
- गुप्तकाल को 'स्वर्णकाल' की संज्ञा से विभूषित किया जाता है। इसकी इस उपमा की पुष्टि इस काल के कला और साहित्य से होती है। गुप्त साम्राज्य की स्थापना के साथ ही संस्कृत भाषा की उन्नति को बल मिला तथा यह राजभाषा के पद पर आसीन हुई। इस काल के साहित्य को मुख्य रूप से दो रूपों में विभक्त किया जा सकता है- (i) धार्मिक साहित्य तथा (ii) लौकिक साहित्य।
- **धार्मिक साहित्य :** गुप्त काल के दौरान धार्मिक साहित्य में विविध पुराणों का संकलन हुआ। साथ ही रामायण तथा महाभारत का अंतिम रूप से संकलन भी इसी समय हुआ। इसके अलावा गीता, याज्ञवल्क्य स्मृति, नारद स्मृति तथा बृहस्पति स्मृति आदि की रचना भी इसी समय हुई।
- **लौकिक साहित्य :** इस काल में धार्मिक साहित्य के अलावा मानव जीवन के विविध पक्षों से जुड़ी रचनाओं को भी देखा जा सकता है। इस श्रेणी में कालिदास की रचनाओं का प्रमुख स्थान है। सात ग्रन्थों के प्रणयन का श्रेय कालिदास को दिया जाता है-रघुवंश, कुमारसंभव, मेघदूत, ऋतुसंहार, मालविकाग्निमित्रम्, विक्रमोर्वशीयम् तथा अभिज्ञानशांकुतलम्। 'रघुवंश' 19 सर्गों का सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य है जिसमें राम के पूर्वजों का वर्णन, उनका गुणगान तथा उनके वंशजों का चित्रण हुआ है। कुमारसंभव में 17 सर्ग हैं जिनमें प्रकृति चित्रण तथा कार्तिकेय जन्म की कथा वर्णित है। ऋतुसंहार में 'षड्ऋतु वर्णन' तथा मेघदूत में विरही यक्ष एवं उसकी प्रियतमा का वियोग वर्णन चित्रित है। मालविकाग्निमित्रम् पाँच अंकों का नाटक है जिसमें मालविका और अग्निमित्र की प्रणय कथा वर्णित है। विक्रमोर्वशीयम् में उर्वशी तथा पुरूरवा की प्रणय कथा है। अभिज्ञानशाकुंतलम् में हस्तिनापुर के राजा दुष्यंत तथा शकुन्तला के प्रणय, वियोग एवं पुनर्मिलन की कथा वर्णित है।
- कालिदास के अतिरिक्त इस समय के कुछ अन्य विद्वानों की रचनाएँ भी महत्वपूर्ण हैं, इनमें विशाखदत्त की मुद्राराक्षस तथा देवीचन्द्रगुप्तम्, शूद्रक का मृच्छकटिकम् तथा भारवि का किरातार्जुनीयम् आदि प्रसिद्ध हैं। साहित्य के अलावा, इस समय गणित, चिकित्सा तथा ज्योतिष आदि से संबंधित ग्रंथों का भी संकलन किया गया। जैसे- चन्द्रगोमिन द्वारा रचित चन्द्रव्याकरण, विष्णु शर्मा कृत पंचतंत्र (नीति वचन), कामंदक की नीतिसार, आर्यभट्ट कृत आर्यभट्टीयम् (गणित), वराहमिहिर कृत पंचसिद्धांतिका (ज्योतिष), वाग्भट्ट की आष्टांगहृदय तथा अष्टांगसंग्रह (चिकित्सा), पालकप्य की हस्त्यायुर्वेद (पशु चिकित्सा) तथा अमरसिंह द्वारा रचित अमरकोष अथवा नाम-लिंगानुशासन (शब्दकोष) आदि।
- **पालि/प्राकृत :** हालाँकि, राजदरबार में संस्कृत को संरक्षण मिला, किंतु जनसामान्य के बीच प्राकृत का प्रचलन बना रहा तथा लोकभाषा के रूप में यह महत्वपूर्ण बनी रही। यहाँ तक कि गुप्तयुगीन संस्कृत साहित्य के ग्रंथों में भी महिलाएँ तथा शूद्र प्राकृत भाषा बोलते थे।
- **गुप्तोत्तरकालीन साहित्य**
- **उत्तर भारत :** गुप्तों के पतन के पश्चात् उत्तर भारत में हर्ष के अधीन एक मजबूत साम्राज्य कायम किया गया। हर्ष के शासन काल में शिक्षा एवं साहित्य की उन्नति को पर्याप्त प्रोत्साहन मिला। हर्ष के दरबार में भी संस्कृत को संरक्षण प्राप्त हुआ। स्वयं हर्ष ने संस्कृत में तीन नाटकों-रत्नावली, प्रियदर्शिका तथा नागानन्द की रचना की। वहीं उसके दरबारी लेखक बाणभट्ट को हर्षचरित तथा कादम्बरी नामक ग्रन्थ लिखने का श्रेय दिया जाता है। एक अन्य विद्वान मयूर ने 100 श्लोकों का संग्रह 'मयूरशतक' लिखा।
- **प्राकृत :** गुप्तोत्तर काल में संस्कृत की साहित्यिक रचनाओं के साथ ही जनभाषा प्राकृत में भी साहित्यिक रचनाएँ होने लगीं। इनमें स्वयंभू कृत पउमचरिउ जैसे महाकाव्य विशेष उल्लेखनीय हैं। संस्कृत के विपरीत लोगों की बोलचाल की भाषा प्राकृत के कई रूप थे, जो भौगोलिक तथा क्षेत्रीय तत्वों पर आधारित थे।
- **दक्षिण भारत :** इसी समय दक्षिण भारत में चालुक्यों तथा पल्लवों के अधीन भी साहित्य के क्षेत्र में विशेष योगदान दिया गया। हुएनसांग चालुक्य राज्य के लोगों को विद्या का व्यसनी बताता है। चालुक्य लेखों में संस्कृत भाषा का प्रयोग मिलता है और यह उसके अत्यधिक विकसित स्वरूप को प्रकट करता है। महाकूट तथा एहोल के लेख क्रमशः अलंकृत गद्य एवं पद्य के विकसित होने का प्रमाण हैं। पुलकेशिन द्वितीय के सामंत गंगराज दुर्वीनीत ने 'शब्दावतार' नामक व्याकरण ग्रंथ की रचना की। इसी समय उदयदेव ने जैनेन्द्र-व्याकरण तथा सोमदेवसूरि ने यशस्तिकलपचम्पू तथा 'नीतिवाक्यामृत' नामक प्रसिद्ध ग्रन्थों का प्रणयन किया। पल्लव नरेशों का शासन काल संस्कृत तथा तमिल दोनों ही भाषाओं के साहित्य की उन्नति का काल रहा। पल्लव शासक महेन्द्रवर्मन स्वयं एक बड़ा विद्वान था तथा उसने मत्तविलासप्रहसन एवं भगवदज्जुक नामक ग्रंथों की

रचना की। पल्लवों के दरबार में ही दण्डी ने दशकुमारचरित एवं काव्यादर्श की रचना की। इस काल में अलवार तथा नयनार संतों द्वारा तमिल भाषा-साहित्य को प्रोत्साहन दिया गया।

- **पूर्व-मध्यकालीन साहित्य**
- हर्ष के पतन के उपरांत उत्तर भारत में क्षेत्रीय राज्यों का स्वरूप दृष्टिगोचर होता है। इसे 'राजपूत काल' के नाम से भी जाना जाता है। राजपूत शासकों द्वारा संस्कृत साहित्य को प्रोत्साहन दिया गया। साथ ही साथ इस समय अपभ्रंश तथा हिन्दी भाषा को भी प्रोत्साहन मिला। इस समय कुछ राजपूत नरेश स्वयं उच्चकोटि के विद्वान थे। इनमें परमारवंशी मुञ्ज तथा भोज का विशेष उल्लेख किया जा सकता है। मुञ्ज एक उच्चकोटि का कवि था, उसकी राजसभा में 'नवसाहसांकचरित' के रचयिता पद्मगुप्त तथा 'दशरूपक' के रचनाकार धनञ्जय निवास करते थे। भोज की विद्वता तथा काव्य-प्रतिभा लोक विख्यात है। उसने स्वयं चिकित्सा, ज्योतिष, व्याकरण, वास्तुकला आदि विविध विषयों पर अनेक ग्रंथ लिखे थे। इनमें श्रृंगारप्रकाश, सरस्वती कण्ठाभरण, कूर्मशतक, समरांगणसूत्रधार, युक्तिकल्पतरू तथा शब्दानुशासन आदि उल्लेखनीय हैं। संस्कृत साहित्य की प्रमुख रचनाओं में राजशेखर की काव्य-मीमांसा, बालरामायण, विद्धशालभञ्जिका, श्रीहर्ष का नैषधचरित, जयदेव का गीतगोविन्द, विल्हण का विक्रमांङ्कदेवचरित, सोमदेव का कथासरित्सागर तथा कल्हण की राजतरंगिणी आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।
- **लोक भाषा साहित्य :** संस्कृत के अतिरिक्त इस काल के शासकों द्वारा अपभ्रंश और हिंदी साहित्य को भी प्रोत्साहन दिया गया। वस्तुतः इस काल में अनेक 'रासो काव्य' लिखे गए। जैसे- परमाल रासो, वीसलदेव रासो तथा पृथ्वीराज रासो। इसी समय अपभ्रंश से आरम्भिक हिन्दी साहित्य का विकास भी होता है। इसके अतिरिक्त अन्य प्रमुख रचनाओं में पश्चिमी चालुक्य नरेश सोमेश्वर कृत मानसोल्लास, लक्ष्मीधर का कृत्यकल्पतरू, विज्ञानेश्वर की मिताक्षरा तथा जीमूतवाहन के दायभाग का उल्लेख किया जा सकता है।

द्रविड़ साहित्य

- द्रविड़ भाषा समूह में तमिल, कन्नड़, तेलुगु और मलयालम भाषाएँ हैं। पूर्वमध्यकाल में दक्षिण भारत में चोल शासकों तथा नयनार और अलवार संतों ने इन भाषाओं के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया। शैव समयाचार्यों के तेवरम तथा तिरूवाचकम और वैष्णव अलवारों के नालायिरप्रबंधम् हिंदू मध्यकालीन भारत के तमिल साहित्य के सबसे बड़े तत्व हैं। कम्बन, ओट्टकुट्टन और पुगलेंदी इस काल के तीन तमिल रत्न माने जाते हैं जिन्होंने तमिल साहित्य की बहुत श्रीवृद्धि की। इनमें से कम्बन, तमिल भाषा में लिखी अपनी रामायण के कारण प्रसिद्ध हैं।
- इस काल में दक्षिण भारत में कन्नड़ भाषा साहित्य का भी व्यापक विकास देखा गया। इस भाषा में सबसे पुरानी कृति वोड्ड-आराधना मानी जाती है, यह एक जैन शिवकोट्याचार्य की लिखी हुई है, जो बहुत संभवतः ईसा की आठवीं शताब्दी से पहले हुआ था। कविराजमार्ग की रचना प्रसिद्ध राष्ट्रकूट राजा अमोघवर्ष ने 850 ई. के आस-पास की थी। दसवीं शताब्दी के तीन रत्न-पंप, पोन्ना तथा रन्ना कन्नड़ साहित्य में अपने योगदान के लिए प्रसिद्ध हैं। पंप का आदिपुराण प्रथम तीर्थंकर का इतिहास है। पंप का विक्रमांकविजय और रन्ना का साहस भीम विजय, दोनों महाभारत पर आधारित लौकिक काव्य हैं।
- तेलुगु और मलयालम का साहित्य बहुत पुराना नहीं है। तेलुगु लेखकों की अब तक बची हुई पूर्वतम् रचनाएँ बारहवीं शताब्दी की हैं, वहीं मलयालम का श्रेय युग सत्रहवीं शताब्दी में तुंजतु ऐरोच्छन से शुरू होता है।

प्रश्न- धार्मिक सद्भाव प्राचीन कालीन भारतीय संस्कृति के मूल भाव में निहित है। परीक्षण कीजिए।

उत्तर- धर्म एवं विश्वास की स्वतंत्रता भारतीय संस्कृति का प्राणतत्व रहा है। प्राचीन काल के भारतीयों ने धर्म एवं विचार के क्षेत्र में जिस प्रकार की स्वतंत्रता का उपभोग किया, वह समकालीन विश्व में दुर्लभ था। प्राचीन काल में भारतीय धर्म एवं दर्शन की निम्नलिखित विशेषताएँ अंकित की जा सकती हैं-

1. **धार्मिक पंथों की विविधता-** चूँकि लोगों एवं विचारकों को अपने धर्म के चयन में स्वतंत्रता रही। इसलिए किसी एक धार्मिक पंथ का एकाधिकार स्थापित नहीं हुआ, जैसा कि हम समकालीन यूरोप तथा पश्चिम एशिया में देखते हैं। यहाँ ब्राह्मण, बौद्ध, जैन, आजीवक, तंत्रवादी, भक्ति के प्रतिपादक, सभी समानान्तर रूप में सक्रिय रहे।
2. अधिकांश धार्मिक पंथों का बल अहिंसा पर रहा था।
3. कर्म एवं पुनर्जन्म की अवधारणा- इस अवधारणा ने लोगों में धैर्य एवं सहनशीलता को प्रोत्साहन दिया।
4. विभिन्न धार्मिक पथों के बीच एकता का भाव- इनके बीच विचारों का आदान-प्रदान होता रहा। बुद्ध विष्णु के अवतार घोषित किए गए, वहीं 'हरिहर' की अवधारणा विष्णु एवं शिव को परस्पर जोड़ती थी।
5. धार्मिक विचारों की स्वतंत्रता- भारत में किसी भी धर्म

प्रवर्तक को सुकरात अथवा ईसा मसीह की तरह अपने विचारों के लिए प्राण नहीं गँवाने पड़े। इसलिए अमर्त्यसेन ने प्राचीन बुद्धिजीवियों को 'Argumentative Indians' का नाम दिया है।

6. विभिन्न राजवंशों के द्वारा एक से अधिक धार्मिक पंथों को संरक्षण प्रदान किया जाता था, जबकि समकालीन यूरोप में रोमन कैथोलिक और प्रोटेस्टेंट के नाम पर रक्त बहाया जा रहा था।

इस प्रकार, हम कह सकते हैं कि धार्मिक सौहार्द्र एवं समरसता की भावना प्राचीन भारतीय धर्म एवं दर्शन में ही निहित है।

प्राचीन शिक्षा

उपनिषद् ने ज्ञान को परिभाषित करते हुए घोषित किया है 'सा विद्या या विमुक्त्ये'। इसका अर्थ है कि ज्ञान वह होता है जो लोगों को मुक्ति देता है, यह प्रकाश एवं शक्ति का स्रोत है। किंतु अगर हम प्राचीनकालीन शिक्षा पद्धति पर दृष्टिपात करते हैं, तो फिर हमें मिचेल फूको की यह युक्ति याद आती है 'The knowledge is power'। प्राचीनकालीन चिंतकों ने भी यह घोषित किया है 'बुद्धिर्यस्या बलमतस्या' अर्थात् जिसके पास बुद्धि है, उसके पास बल है।

किंतु प्राचीनकाल में शिक्षा के विकास में विभिन्न धार्मिक पंथों का योगदान रहा था, उसी आधार पर शिक्षा के स्वरूप तथा शिक्षा के आवंटन की पद्धति में भी अंतर रहा।

प्राचीन शिक्षा

- ब्राह्मणवादी शिक्षण पद्धति
- बौद्ध शिक्षा केन्द्र
- जैन शिक्षा केन्द्र

■ ब्राह्मणवादी शिक्षण संस्थान

ब्राह्मण शिक्षा के अंतर्गत ग्रन्थों एवं दर्शन के अध्ययन पर विशेष बल दिया गया। इस शिक्षा प्रणाली का मुख्य बल सैद्धान्तिक शिक्षा पर रहा। सबसे बढ़कर ब्राह्मण शिक्षा प्रणाली में महिलाओं तथा शूद्रों के साथ भेदभाव किया गया। इस काल में विभिन्न प्रकार के शिक्षण संस्थान प्रचलन में थे-

ब्राह्मणवादी शिक्षण संस्थान

- गुरूकुल
- घटिका
- शैक्षणिक संगोष्ठी
- ब्रह्मपुरी
- महाविद्यालय
- अग्रहार

- **गुरूकुल**- ब्राह्मण आचार्यों के द्वारा गुरूकुल स्थापित किए जाते थे तथा इस प्रकार के गुरूकुल आम-आबादी से पृथक् एकांत अथवा जंगल में होते थे। गुरूकुल में कुलीनों और सवर्णो को शिक्षा दी जाती थी। इसमें वेद, उपनिषद् तथा दर्शन का अध्ययन कराया जाता था तथा छात्रों के नैतिक एवं बौद्धिक उत्थान पर बल दिया जाता था।

- **शैक्षणिक संगोष्ठी**- समय-समय पर राजाओं तथा विद्वानों के द्वारा शैक्षणिक सभाओं का भी आयोजन किया जाता था तथा इसमें दूरस्थ क्षेत्रों से विद्वानों को आमंत्रित किया जाता था। इसका वास्तविक उद्देश्य था- उच्च शिक्षा का प्रसार। इसी प्रकार की एक संगोष्ठी में ऋषि याज्ञवल्क्य तथा गार्गी के बीच एक वाद-विवाद हुआ था। बताया जाता है कि इस संगोष्ठी में विजयी होने के बाद विदेह माधव ने ऋषि याज्ञवल्क्य को 1000 गायें दान में दी थीं, जिसमें प्रत्येक गाय के सींगों पर दो सोने के पाद बंधे हुए थे।

- **ब्राह्मण महाविद्यालय**- ऐसा माना जाता है कि लगभग 400 ई.पू. में ब्राह्मण शिक्षा केंद्र के रूप में तक्षशिला का विकास हो गया था। इस महाविद्यालय से भारत के अनेक विद्वानों ने शिक्षा प्राप्त की थी। उदाहरण के लिए, प्रमुख राजवैद्य जीवक, प्रमुख आचार्य चाणक्य, प्रमुख विद्वान तथा वैयाकरण कात्यायन, सभी तक्षशिला महाविद्यालय से जुड़ रहे थे। फिर तक्षशिक्षा का एक महत्वपूर्ण जुड़ाव भारत के बाहर के क्षेत्र से भी संभव था। किंतु आधुनिक संदर्भ में यह नालंदा विश्वविद्यालय की तरह एक विश्वविद्यालय का दर्जा प्राप्त नहीं कर सका तथा 5वीं सदी में हूणों के आक्रमण के पश्चात् इसका पतन हो गया।

जब हम इसके कारणों का परीक्षण करते हैं, तो फिर तक्षशिला एवं नालंदा विश्वविद्यालय के बीच अंतर का एक प्रमुख बिंदु नजर आता है- एक का ब्राह्मण शिक्षा केंद्र के रूप में स्थापित होना, तो दूसरे का बौद्ध शिक्षा केंद्र के रूप में। जैसा कि हम जानते हैं कि बौद्ध धर्म एक विश्व धर्म था, इसलिए नालंदा विश्वविद्यालय को विश्वविद्यालय का दर्जा पाने में आसानी हुई। इसके अतिरिक्त, दोनों में अंतर के कुछ अन्य बिंदु भी मौजूद थे। उदाहरण के लिए, नालंदा विश्वविद्यालय में एक अनुशासित तथा स्पष्ट पाठ्यक्रम लागू किया गया था, जबकि तक्षशिला महाविद्यालय में कोई पाठयक्रम स्पष्ट नहीं था और न ही पाठ्यक्रम को समाप्त करने की कोई निश्चित कालावधि होती थी, अपितु शिक्षक अपनी निजी सोच एवं अनुभव के आधार पर छात्रों को अलग-अलग समूह बनाकर शिक्षा देते थे। दूसरे शब्दों में, छात्र सामूहिक रूप में महाविद्यालय के छात्र न होकर निजी तौर पर किसी शिक्षक विशेष के छात्र होते थे।

- **शिक्षा के केंद्र के रूप में घटिका (मंदिर)**- पूर्व मध्य काल तक शिक्षा के केंद्र के रूप में मंदिर अथवा घटिका का विकास हो चुका था।

- **शिक्षा के केंद्र के रूप में अग्रहार एवं ब्रह्मदेय (ब्रह्मपुरी)**- प्राचीन काल में शिक्षा के विकास में अग्रहार तथा ब्रह्मदेय का भी योगदान रहा। अग्रहार के अंतर्गत भूमि अनुदान

ब्राह्मणों के समूह को दिया जाता था तथा यह ब्राह्मणों के जिस समूह को दिया जाता था, उससे यह अपेक्षा की जाती थी कि वह लोगों के लिए मुफ्त शिक्षा का प्रबंधन करे। वैसे गाँव, जहाँ पूरा का पूरा गाँव ब्राह्मण बस्ती होता था, अग्रहार कहलाते थे। दूसरी तरफ वैसे गाँव, जिसके एक भाग में ब्राह्मणों की बस्ती होती थी, ब्रह्मदेय कहलाते थे। अग्रहार की तरह ब्रह्मदेय भी शिक्षा के प्रसार के लिए कार्य करते थे।

- **ब्राह्मणवादी शिक्षा के पाठ्यक्रम**– प्राचीन काल में शिक्षा का मुख्य पाठ्यक्रम वैदिक साहित्य के अध्ययन के साथ-साथ धर्म एवं दर्शन, तर्कशास्त्र, गणित, नीतिशास्त्र, महाकाव्य, व्याकरण, खगोलविद्या, मूर्तिकला, वैद्यक, पोतनिर्माण आदि की शिक्षा पर बल दिया जाता था। इस प्रकार, धार्मिक एवं लौकिक विषयों की शिक्षा में समन्वय स्थापित किया गया। इस युग के स्नातकों से अपेक्षा की जाती थी कि वे वेदों तथा 18 शिल्पों में निपुण हों।

- **सीमाएँ**– यह शिक्षा पद्धति विषमतामूलक एवं भेदभावपूर्ण थी। जहाँ निम्न जाति के लोगों को यह शिक्षा उपलब्ध नहीं थी, वहीं महिलाओं के साथ भेदभाव पूर्ण व्यवहार किया जाता था।

■ बौद्ध एवं जैन शिक्षा केंद्र

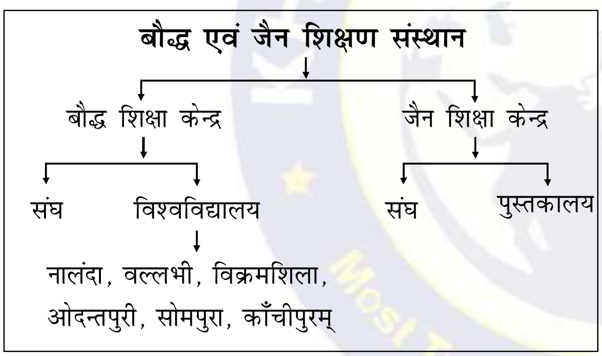

ब्राह्मण शिक्षा केंद्र के समानान्तर बौद्ध एवं जैन शिक्षा केंद्र का भी विकास हुआ। कई बातों में इन शिक्षा केंद्रों का स्वरूप अलग था। प्रथम, बौद्ध एवं जैन शिक्षा बौद्ध संघों के द्वारा प्रदान की जाती थी तथा ये संघ बस्तियों के निकट होते थे, ब्राह्मण शिक्षा केंद्र की तरह जंगल अथवा एकांत में नहीं। साथ ही, लोक भाषा पालि एवं प्राकृत के प्रयोग के कारण इन संघों का जन-सामान्य से बेहतर जुड़ाव होता था। दूसरे, बौद्ध एवं जैन शिक्षा केंद्रों ने शूद्रों और महिलाओं के लिए भी शिक्षा की सुविधाएं उपलब्ध कराईं। तीसरे, ब्राह्मण शिक्षा का बल मुख्यतः सैद्धान्तिक शिक्षा पर रहा था, किंतु बौद्ध एवं जैन शिक्षण संस्थानों में व्यावहारिक शिक्षा अर्थात् शिल्प कला के ज्ञान पर भी बल दिया गया। वस्तुतः इन शिक्षण संस्थानों में 18 शिल्प एवं 64 कलाओं की शिक्षा दी जाती थी।

- **शिक्षण संस्थानों के विभिन्न प्रकार**–

1. शिक्षा के केंद्र के रूप में संघ– संघ ने बौद्ध एवं जैन शिक्षा दोनों के केंद्र के रूप में किया था।

2. महाविद्यालय तथा विश्वविद्यालय– जैन शिक्षा व्यवस्था में महाविद्यालय तथा विश्वविद्यालय की स्थापना पर बल नहीं दिया गया था, किंतु बौद्ध शिक्षा में इनकी स्थापना पर विशेष बल दिया गया। चूँकि बौद्ध धर्म एक विश्व धर्म था, इसलिए बौद्ध शिक्षा केंद्र का विश्वविद्यालय के रूप में विकसित होना बहुत आसान हो गया।

- **महत्वपूर्ण बौद्ध शिक्षण संस्थान**–

1. नालंदा विश्वविद्यालय– इस विश्वविद्यालय की स्थापना गुप्त काल में हुई थी तथा इसके विकास में एक गुप्त शासक कुमारगुप्त प्रथम का विशेष योगदान माना जाता है। इसने शीघ्र ही एक विश्वविद्यालय का रूप ले लिया। यहाँ चीन एवं दक्षिण पूर्व एशिया से विद्वान अध्ययन के लिए आते थे। यह उच्च बौद्ध शिक्षा केंद्र था। एक चीनी यात्री ह्वेनसांग ने भी यहाँ शिक्षा पायी थी। उसने अपने विवरण में इस विश्वविद्यालय में 10000 छात्रों के पढ़ने का जिक्र किया है, वहीं एक अन्य चीनी यात्री इत्सिंग ने यहाँ 3000 छात्रों के द्वारा शिक्षा प्राप्त करने की बात की है।

2. वल्लभी– यह गुजरात में 7वीं सदी में बौद्ध शिक्षा केंद्र के रूप में विकसित हुआ। इसके विकास में वल्लभी के मैत्रक शासकों का योगदान रहा। इसने भी एक विश्वविद्यालय का दर्जा प्राप्त कर लिया क्योंकि भारत से बाहर के विद्वान भी यहाँ शिक्षा प्राप्त करने के लिए आते थे। 8वीं सदी में अरब आक्रमण के कारण इस शिक्षण संस्थान का पतन आरम्भ हो गया था, किंतु आगे मैत्रक शासकों के उत्तराधिकारियों ने इसे पुनः स्थापित किया।

3. विक्रमशिला– वर्तमान में बिहार के भागलपुर क्षेत्र में यह विश्वविद्यालय स्थापित किया गया था। यह भी महत्वपूर्ण बौद्ध शिक्षा केंद्र के रूप में विकसित हुआ। इसका संस्थापक पाल वंश का संस्थापक धर्मपाल था। 9वीं सदी में यह संस्था स्थापित हुई और आगामी लगभग 4 शताब्दियों तक चलती रही। इसने भी विश्वविद्यालय का दर्जा प्राप्त किया।

4. काँचीपुरम्– दक्षिण भारत में पल्लव शासकों के अधीन बौद्ध शिक्षा के रूप में काँचीपुरम् का विकास हुआ। फिर आगे इस पर ब्राह्मण शिक्षा प्रणाली का भी प्रभाव देखा गया। ह्वेनसांग तथा दिङ्नाग जैसे विद्वान भी काँचीपुरम् शिक्षा-केंद्र से जुड़े हुए थे।

- **पुस्तकालयों का निर्माण**– जैनियों ने महाविद्यालय अथवा विश्वविद्यालय की स्थापना करने के बजाय पुस्तकालयों के

निर्माण पर बल दिया। वस्तुत: शिक्षा दान को महादान की संज्ञा ग्रंथों में दी गयी है। इसके तहत निम्नलिखित बातें शामिल की गई– स्वयं पढ़ना, दूसरों को पढ़ने के लिए उत्साहित करना, स्वयं लिखना तथा दूसरों को लिखने के लिए उत्साहित करना।

प्रश्न– तक्षशिला विश्वविद्यालय, विश्व के प्राचीनतम विश्वविद्यालयों में एक था जिसके साथ विभिन्न शिक्षण विषयों (डिसिप्लिनस) के अनेक विख्यात विद्वान व्यक्तित्व सम्बंधित थे। उसकी रणनीतिक अवस्थिति के कारण उसकी कृति फैली। लेकिन नालंदा के विपरीत, आधुनिक अभिप्राय में उसे विश्वविद्यालय नहीं समझा जाता। चर्चा कीजिए। (UPSC-2014)

उत्तर– भारत में प्राचीनतम शिक्षा केंद्र तक्षशिला रहा था, किंतु सर्वाधिक प्रसिद्धि नालंदा को मिली। परीक्षण करने पर इसका महत्वपूर्ण कारण नजर आता है बौद्ध शिक्षा के महत्वपूर्ण केंद्र के रूप में इसका विकास होना। चूँकि बौद्ध धर्म एक विश्व धर्म रहा था, इसलिए नालंदा एक महत्वपूर्ण विश्वविद्यालय का दर्जा पा सका।

नालंदा के विपरीत तक्षशिला वास्तविक संदर्भ में विश्वविद्यालय का दर्जा नहीं प्राप्त कर सका था, जबकि यह ब्राह्मण शिक्षा का महत्वपूर्ण केंद्र था। यहाँ दर्शन, व्याकरण, चिकित्सा तथा अन्य विषयों की शिक्षा दी जाती रही थी। प्रमुख चिकित्साशास्त्री जीवक, महत्वपूर्ण वैयाकरण तथा वर्तिका के लेखक कात्यायन एवं महत्वपूर्ण कूटनीतिज्ञ, चाणक्य, इस महाविद्यालय से सम्बद्ध रहे थे। फिर यह एक महत्वपूर्ण सामरिक केंद्र पर अवस्थित था क्योंकि सिकंदर के आक्रमण के विरूद्ध जनमत निर्माण करने में भी संभवत: इस महाविद्यालय की भूमिका रही थी। बावजूद इसके, यह भारत के बाहर के विद्वानों और शोधकर्त्ताओं को आकर्षित नहीं कर सका। वहीं दूसरी तरफ नालंदा में पूर्वी एशिया से दक्षिण–पूर्वी एशिया तक बड़ी संख्या में विद्वान एवं शोधकर्त्ता आकर्षित हुए। बौद्ध धर्म की ओर आकर्षण ने स्वाभाविक रूप में उन्हें नालंदा की ओर आकर्षित किया था। इसके अतिरिक्त, दोनों के बीच अंतर का एक दूसरा बिंदु यह था कि नालंदा विश्वविद्यालय में एक अनुशासित एवं स्पष्ट पाठ्यक्रम लागू किया गया था, जबकि तक्षशिला महाविद्यालय में कोई स्पष्ट पाठ्यक्रम लागू नहीं किया जाता था। फिर छात्र भी विभिन्न शिक्षकों के बीच बंटे होते थे। नालंदा के महत्व को देखते हुए हाल में भारतीय सरकार ने कुछ अन्य देशों के साथ मिलकर इस विश्वविद्यालय को पुनर्जीवित करने तथा सॉफ्ट पावर (Soft power) के रूप में उसका उपयोग करने का निर्णय लिया है।

■■■

खंड-2
उपखंड-6

प्राचीन भारत में स्थापत्य कला का विकास
(Development of Architecture in Ancient India)

प्राचीन भारत में कला का एक समृद्ध इतिहास रहा है। इसमें स्थापत्य अथवा वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला, संगीत एवं नृत्य सभी शामिल हैं।

अगर हम स्थापत्य कला के इतिहास पर अवलोकन करते हैं, तो हमें यह बात ज्ञात होती है कि इसके क्रमिक विकास का एक लम्बा इतिहास रहा है और इसे विविध कारकों से प्रेरणा मिली है।

स्थापत्य कला
↓
राजनीतिक | आर्थिक | सामाजिक | धर्म-दर्शन

- **राजनीतिक कारक:** स्थापत्य निर्माण निम्नलिखित रूप में राजनीतिक कारक से प्रेरित रहा है-

1. कई बार स्थापत्य के माध्यम से राजा अथवा शासक दूरवर्ती क्षेत्र तक अपनी उपस्थिति बनाए रखना चाहता था तथा उससे राज्य की सीमा भी निर्धारित होती थी।
2. मंदिरों के निर्माण के माध्यम से शासक अपने राजकीय गौरव को व्यक्त करने का भी प्रयास करते थे। उदाहरण के लिए, चोल शासक राजाराज प्रथम का बृहदेश्वर मंदिर तथा राजेन्द्र प्रथम का गंगईकोंडचोलपुरम का मंदिर उनकी राजनीतिक विजय का प्रतीक है।
3. दूसरी सदी के पश्चात् विभिन्न राजवंशों ने कुलदेवता की अवधारणा विकसित कर ली थी। इनमें विष्णु, शिव, सूर्य एवं दुर्गा महत्वपूर्ण थीं। इन्हें सम्मानित करने के लिए भी मंदिरों का निर्माण किया जाता था।

- **आर्थिक कारक:** आर्थिक संवृद्धि की स्थिति में कलात्मक गतिविधियों को विशेष प्रोत्साहन मिलता था। उदाहरण के लिए, मौर्योत्तर काल में जब रोमन व्यापार के कारण आर्थिक संवृद्धि आयी, तो बड़ी संख्या में चैत्यों, स्तूपों और विहारों का निर्माण किया गया। उसी प्रकार, संभवत: गुप्त काल में आर्थिक संवृद्धि बनी रही थी, इसलिए इस काल में बड़ी संख्या में मंदिरों का निर्माण हुआ।

- **सामाजिक कारक:** कई बार कोई सामाजिक समुदाय अपनी पहचान बनाने के लिए मंदिरों का निर्माण करता था। उसी प्रकार, अपने पूर्वजों को सम्मानित करने के लिए भी मंदिरों का निर्माण कराया जाता था। इसके अतिरिक्त, किसी प्रभावशाली व्यक्ति की मृत्यु पर भी स्मारक के रूप में मंदिर का निर्माण किया जाता था।

- **धर्म एवं दर्शन:** मंदिर निर्माण की गतिविधियाँ धर्म एवं दर्शन के साथ अभिन्न रूप में जुड़ी रही हैं। अलग-अलग धार्मिक पंथ के लोग अपने इष्ट देवता को सम्मान देने के लिए मंदिरों का निर्माण करते थे।

जहाँ तक दर्शन का सवाल है, तो स्तूप अथवा मंदिर अपने आप में सम्पूर्ण संसार को व्यक्त करता है। उदाहरण के लिए, स्तूप का अंड भाग मेरू पर्वत को व्यक्त करता है, जिसे संसार के केन्द्र में माना जाता है। उसके ऊपर निर्मित स्तम्भ आकाश एवं जमीन को विभाजित करता है।

उसी प्रकार, मंदिर का गर्भगृह मेरू पर्वत का प्रतीक माना जाता है, जो संसार के केन्द्र में अवस्थित है। फिर गर्भगृह के चारों ओर वृत्ताकार प्रदक्षिणा पथ समय की गति को दर्शाता है। मंदिर का ऊँचा शिखर इस संसार का प्रतीक है तथा शिखर के ऊपर निर्मित मूर्तियाँ विभिन्न आकाशचारी प्राणियों का निवास स्थल होती हैं।

मौर्यकालीन स्थापत्य

इसका गहरा संबंध अशोक महान से रहा है तथा इसकी दो प्रमुख विशेषताएं रही हैं। प्रथम, यह बौद्ध विचारों से प्रेरित रहा तथा दूसरा, यह राजकीय संरक्षण में पला एवं बढ़ा। इसके निम्नलिखित रूप प्रकट होते हैं-

1. अशोक के स्तम्भ- अशोक के स्तम्भ चुनार पत्थर से निर्मित हैं। ये एकाश्म (Monolithic)पत्थर से ही निर्मित हैं अर्थात् एक ही पत्थर से पूरे स्तम्भ का निर्माण किया गया है। इस स्तंभ के दो भाग हैं, प्रथम भाग है यष्टि (Pillar) और दूसरा भाग है गावदुम लाट (head)। यष्टि के अंत में अवांगमुखी कमल (Inverted Lotus) है जिसके ऊपर एक चौकी निर्मित है, कहीं-कहीं चौकी पर हंस पक्तियाँ बनायी गयी हैं। सारनाथ की चौकी पर चक्र अंकित है। फिर चौकी के ऊपर पशु आकृतियाँ बनायी जाती थीं। सामान्यत: पशुओं के रूप में हाथी, घोड़े, सांड एवं शेर (सिंह) का प्रतिनिधित्व मिलता है। किंतु सारनाथ में चार शेरों को एक-दूसरे के साथ पीठ टिकाए हुए बैठा दिखाया गया है।

2. स्तूप– अशोक कालीन स्थापत्य का एक उदाहरण है– स्तूप निर्माण। उसके काल से जुड़ा हुआ स्तूप साँची का महीन स्तूप है जो स्तूप निर्माण की आरंभिक अवस्था को दर्शाता है। सामान्यत: स्तूप एक अर्द्धवृत्ताकार संरचना होती थी। आरंभिक स्तूप ईंटों से निर्मित किया गया था। उसका ऊपरी भाग समतल होता था, जिसमें हर्मिक (चैम्बर) का निर्माण किया जाता था। उसमें बुद्ध अथवा किसी महत्वपूर्ण संत के शरीर का अवशेष रखा जाता था। हर्मिक के ऊपर एक लकड़ी का स्तम्भ निर्मित किया जाता था, जो समय के साथ नष्ट हो गया। स्तूप को एक छोटी–सी चहारदीवारी से भी घेरा जाता था।

3. गुफा वास्तुकला– अशोक के काल में ही पहाड़ों को काटकर गुफाओं का निर्माण आरम्भ हुआ। आरम्भिक गुफाएं गया में बराबर की पहाड़ी में निर्मित की गयी थीं तथा इन्हें आजीवकों को दान में दिया गया। उसी प्रकार, उसके पौत्र दशरथ ने नागार्जुनी की पहाड़ी में कुछ गुफाएँ निर्मित कर आजीवकों को दान में दीं। आरम्भिक गुफाएं सादी एवं सामान्य प्रकार की थी। किंतु धीरे–धीरे ये गुफाएं जटिल होती गयीं। आरम्भिक गुफाओं का निर्माण बहुत ही सादा था। गुफा के मुख को आयताकार काटा जाता था तथा उसमें रहने के लिए निवास स्थल बनाया जाता था। उस निवास स्थल की छत को तथा उसके आयताकार दरवाजे पर काली लेप चढ़ाई जाती थी। अशोक के द्वारा निर्मित यही गुफा वास्तुकला आगे विकसित होती हुई बौद्ध मंदिर तथा फिर पल्लव शासकों के अधीन हिंदू मंदिरों में विकसित हुई।

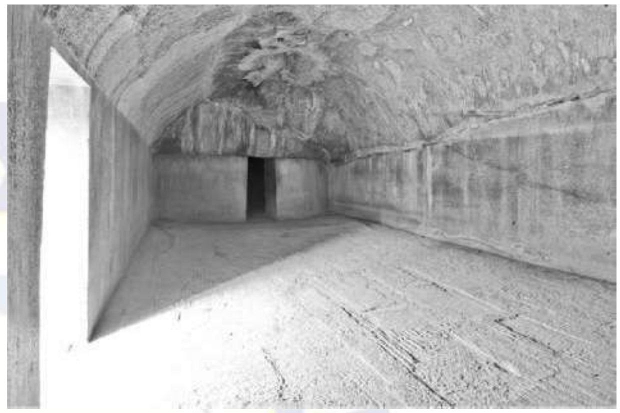

मौर्योत्तरकालीन स्थापत्य

इस काल में भी कला की मूल उत्प्रेरणा बौद्ध धर्म से ही मिली। किंतु इस काल में निश्चय ही कला के सामाजिक आधार का विस्तार हुआ था। वस्तुत: जैसाकि हमने पीछे देखा कि मौर्य कला राज्य संरक्षण में ही पली एवं बढ़ी थी, किंतु इस काल में शासक वर्ग के अतिरिक्त कुलीन, व्यापारी, भिक्षु–भिक्षुणियाँ सभी ने कला को संरक्षण दिया। इस काल में स्थापत्य कला के निम्नलिखित रूप देखने को मिलते हैं–

■ **स्तूप**– मौर्योत्तर काल में स्तूप कला का बेहतर विकास देखने को मिलता है। इसमें निम्नलिखित कलात्मक विशेषताएँ थीं–

1. यह अर्द्धवृत्ताकार आकृति थी। इसका निर्माण ईंटों से किया जाता था, परन्तु ऊपर से पत्थर बिछाया जाता था।

2. इसका ऊपरी भाग समतल होता था, जिसमें एक चैम्बर का निर्माण किया जाता था। इसे हर्मिक कहा जाता था। इसमें किसी पवित्र व्यक्ति का अवशेष रखा जाता था।

3. इसके ऊपर प्रस्तर का एक स्तम्भ बनाया जाता था, जिस पर तीन छतरियाँ बनाई जाती थीं जो करूणा, सहनशीलता तथा उदारता का प्रतीक होती थीं।

4. इसके चारों ओर वेदिका का निर्माण किया जाता था, जो प्रदक्षिणापथ का भी कार्य करता था।

5. इसे चाहर दीवारी से घेरा जाता था जिसमें सभी ओर से भव्य प्रवेश द्वार का निर्माण किया जाता था। इस प्रवेश द्वार पर मानव एवं पशु की मूर्तियाँ बनाई जाती थीं।

स्तूप के विषय में एक दिलचस्प तथ्य यह है कि यह बौद्ध पंथ के लोकप्रिय स्वरूप को प्रकट करता है। वस्तुतः स्तूप कला में लोक कथानक अथवा लोक जीवन से जुड़ी हुई घटनाओं को आत्मसात करते हुए उन्हें बौद्ध आदर्श में परिवर्तित कर दिया गया।

अगर एक तरह से देखा जाए, तो स्तूप की सम्पूर्ण संकल्पना ही जनजातीय तत्वों से ली गई है। किसी जनजातीय मुखिया की मृत्यु के पश्चात् उसकी समाधि पर एक टीला बनाया जाता था, बौद्ध पंथ ने उसे स्तूप के रूप में अपना लिया। स्तूप एक अर्द्धवृत्ताकार स्थापत्य के रूप में निर्मित किया गया, फिर उसके केन्द्रीय कक्ष में मृतक व्यक्ति का अवशेष रखा जाना भी समाधि का प्रतीकात्मक अर्थ बतता है।

स्तूप के प्रवेश द्वार पर जो पशु एवं मानव मूर्तियाँ निर्मित की जाती थीं, उनका भी संबंध लोक जीवन और लोक कथानकों से रहा था। उदाहरण के लिए, पशु के रूप में हाथी, घोड़े, बाघ, बंदर आदि का संबंध लोक कथानकों से था, परन्तु बौद्ध पंथ ने उन्हें अपने आदर्श रूप में समाहित कर लिया। हाथी महात्मा बुद्ध की माता के गर्भ में आने का प्रतीक, सांड उनके यौवन का प्रतीक, घोड़ा गृहत्याग का प्रतीक बन गया।

चूँकि लोक देवता के रूप में यक्ष-यक्षिणी को इस काल में काफी महत्व प्राप्त था, अतः स्तूप के प्रवेश द्वार पर उनकी भी मूर्तियाँ बनाई गईं और उन्हें भी बौद्ध आदर्शों में समाहित किया गया। उसी प्रकार, देवता के रूप में नाग-नागिन को भी महत्व प्राप्त था, अतः इन मूर्तियों में नाग-नागिन को भी शामिल किया गया। एक दिलचस्प तथ्य यह है कि लोक कथानक में 'शालभंजिका' काफी प्रसिद्ध थी। यह समृद्धि और सौभाग्य का प्रतीक मानी जाती थी। इसके विषय में प्रचलित था कि अगर यह पेड़ के पत्ते छूती, तो वे फूल बन जाते। अगर हम साँची के स्तूप के प्रवेश द्वार पर देखते हैं, तो वहाँ हमें पेड़ की शाखा से लटकी हुई शालभंजिका की मूर्ति दिखलाई पड़ती है।

इस प्रकार, हम देखते हैं कि बौद्ध पंथ ने अपनी लोकप्रियता बनाए रखने के लिए लोक प्रचलित कथानकों को बौद्ध आदर्शों में परिवर्तित किया और फिर उसे स्तूप कला में शामिल कर लिया।

प्रश्नः प्रारंभिक बौद्ध स्तूप-कला, लोक वर्ण्य-विषयों एवं कथानकों को चित्रित करते हुए बौद्ध आदर्शों की सफलतापूर्वक व्याख्या करती है। विशदीकरण कीजिए। (UPSC-2016)

उत्तर- बौद्ध पंथ का एक सबल तत्व रहा जनसामान्य के साथ इसका जुड़ाव तथा जनसामान्य के द्वारा इसकी व्यापक स्वीकृति। एक तरफ जहाँ इसने लोक भाषा पालि को ग्रहण किया था, वहीं दूसरी तरफ इसने लोक प्रचलित सांस्कृतिक प्रतीकों को भी अपनाया।

वस्तुतः बौद्ध धर्म की विख्यात स्थापत्य शैली, स्तूप कला, लोक जीवन से ली गई थी तथा यह क्रमिक रूप में विकसित हुई थी। जैसा कि हम जानते हैं जनजातीय पद्धति में मुखिया अथवा सरदार की मृत्यु के बाद मृतक संस्कार के पश्चात् एक छोटे से टीले बनाने की परम्परा प्रचलित थी। बौद्ध पंथ ने इस परम्परा को अपना लिया। उसी प्रकार जनसामान्य के बीच गैर-आर्य पंथों का गहरा प्रभाव था। इनमें एक था यक्ष एवं यक्षिणी की पूजा। मौर्यकाल में भी लोक कला के रूप में यक्ष-यक्षिणी की प्रतिमाएं बनाई जाती थीं। आगे बौद्ध पंथ ने स्तूप कला के साथ इसे भी जोड़ दिया। उसी प्रकार जनसामान्य के बीच नागपूजा, पशुपूजा, वृक्षपूजा आदि प्रचलित थे। स्तूप कला में धीरे-धीरे इन सभी को आत्मसात कर लिया गया। फिर जैसा कि हम देखते हैं मौर्यकाल में स्तूप कला राजकीय संरक्षण में पली एवं बढ़ी थी, किंतु ईसा की आरम्भिक शताब्दियों में कला का सामाजिक आधार व्यापक हुआ। अशोक ने अपने धर्म के प्रसार के क्रम में लोक उत्सव, समाज, समारोह एवं कुछ अन्य कार्यक्रमों को हतोत्साहित किया था। किंतु मौर्य काल के पश्चात् एक बार फिर इन तत्वों का प्रभाव बढ़ता गया तथा इन्होंने समकालीन धर्म एवं कला दोनों पर अपना प्रभाव छोड़ा।

स्तूप अर्द्धवृत्ताकार गुम्बद होता था जो जनजातीय लोगों के मृतक संस्कार टीले की तरह था। उसके केंद्र में हर्मिक होती थी जिसमें किसी मृतक व्यक्ति के अवशेष को रखा जाता था। इसके साथ वेदिका एवं प्रवेश द्वार भी निर्मित किया गया। वेदिका एवं प्रवेश द्वार पर विभिन्न प्रकार के पशुओं, नाग एवं लोक जीवन से जुड़ी हुई अनेक मूर्तियां बनाई जाती थीं। बौद्ध पंथ ने धीरे-धीरे इन्हें धर्म के साथ आत्मसात कर लिया।

इस प्रकार हम देखते हैं बौद्ध स्थापत्य की प्रमुख शैली लोक जीवन से जुड़ी हुई थी तथा लोक प्रचलित तथ्यों को लेकर क्रमिक रूप में विकसित हुई।

■ **चैत्य**- चैत्य बौद्धों का पूजा गृह था। अधिकांश चैत्य पहाड़ों को काटकर निर्मित किये जाते तथा ये मौर्यकालीन गुफा वास्तुकला के विकसित रूप थे। सामान्यत: चैत्य आयताकार होता था तथा उसका अंतिम किनारा अर्द्धवृत्ताकार होता था। उसके केंद्र में एक स्तूप का भी निर्माण किया जाता था। इसका उद्देश्य उपासना था। फिर स्तूप के साथ मानव मूर्ति भी जोड़ी जाने लगी तथा स्तूप के छत को घोड़े की नाल के आकार में काट दिया जाता था, ताकि उससे होकर रोशनी स्तूप के ऊपर पड़े। इसे चैत्य खिड़की कहा जाता था। यह अपने आप में एक महत्वपूर्ण तकनीकी विकास था।

सातवाहनों के अधीन पश्चिमी भारत में पहाड़ों को काट कर अनेक स्तूप बनाये गए। उदाहरण के लिए, नासिक, भज, कन्हेरी, कार्ले, पीतलखोरा आदि।

■ **विहार**- अगर चैत्य बौद्धों का पूजागृह था, तो विहार भिक्षुओं का निवास स्थल। जहाँ-जहाँ चैत्यों का निर्माण हुआ, वहाँ निवास स्थल के रूप में विहारों का भी निर्माण हुआ। विहार भी पत्थरों को काटकर निर्मित किए गए थे, किंतु मौर्यकालीन गुफा वास्तुकला की तुलना में ये कहीं अधिक विकसित थे। इन विहारों में बरामदों के साथ-साथ कई कमरों का भी निर्माण किया जाने लगा।

गुप्तकालीन स्थापत्य

- गुप्तकाल में कला और साहित्य ने क्लासिकल मानदण्ड स्थापित कर लिया था। इस उत्कृष्ट सौंदर्य बोध के असाधारण प्रतिमान के कारण ही इसे 'स्वर्ण युग' की संज्ञा से अभिहित किया जाता है। गुप्त कला को मूल उत्प्रेरणा ब्राह्मण पंथ से मिली। यद्यपि इस पर अन्य पंथों का प्रभाव भी बना रहा।
- **धार्मिक स्थापत्य :** इस काल में धार्मिक स्थापत्य दो रूपों में दिखाई पड़ता है- (i) गुफा मंदिर तथा (ii) इमारती मंदिर।
- **गुफा मंदिर :** इस काल का गुफा स्थापत्य पूर्ण रूप से बौद्ध स्थापत्य कहा जा सकता है। इसके केवल कुछ अपवाद हैं। उदाहरण के लिए, उदयगिरि में एक ब्राह्मणवादी गुफा में एक अभिलेख है जो चन्द्रगुप्त द्वितीय के राज्यकाल का है। यहाँ विष्णु की वराह प्रतिमा सर्वोत्कृष्ट रचना है जो अवतारवाद की पूर्ण अभिव्यक्ति है। विष्णु के साथ यहाँ शैव और जैन धर्म से भी संबंधित गुफाएँ हैं। उदयगिरि, गुफा मंदिर एवं स्वतंत्र रूप से बने मंदिर के बीच संक्रमण की अवस्था को दर्शाता है। इसके अलावा, इस काल में अजंता और बाघ की गुफाएँ सबसे प्रसिद्ध कही जा सकती हैं जो कि बौद्ध धर्म से सम्बद्ध हैं।
- **इमारती मंदिर :** गुप्तकाल भारतीय मंदिर स्थापत्य की दृष्टि से महत्वपूर्ण समय का प्रतिनिधित्व करता है। हालाँकि, इस काल में मंदिर स्थापत्य अपनी शैशवास्था में था, किंतु इसमें एक विकासक्रम भी दृष्टिगोचर है। इस काल का सबसे आरम्भिक उदाहरण साँची का मंदिर सख्या-17 है। इसके साथ ही इस समय तिगवा का विष्णु मंदिर, भूमरा और खोह का शिव मंदिर, नचनाकुठार का पार्वती मंदिर, दह पर्वतिया मंदिर (असम) तथा देवगढ़ का दशावतार मंदिर प्रमुख हैं। देवगढ़ का दशावतार मंदिर, पंचायतन शैली का प्राचीनतम उदाहरण है। मंदिर स्थापत्य के ये सभी उदाहरण प्रस्तर निर्मित हैं। इन पत्थर के बने मंदिरों के साथ-साथ ईंट से बने मंदिर भी इस काल में बड़ी संख्या में बनाए गए। इनमें प्रमुख मंदिर भीतरगाँव (कानपुर), पहाड़पुर (बांग्लादेश) और सिरपुर (छत्तीसगढ़) में अवस्थित हैं।

साँची का प्राचीन मंदिर

देवगढ़ का दशावतार मन्दिर

- **स्तूप, चैत्य एवं विहार** – मंदिरों के अतिरिक्त इस काल में स्तूपों, चैत्यों व विहारों का भी निर्माण हुआ। इस काल में जो बौद्ध स्तूप, चैत्य और विहार बनाए गए उनके प्रमुख उदाहरण जौलिया, चारसद्दा तथा गांधार के तक्षशिला में पाये जाते हैं। पूर्वी भारत में सारनाथ में स्थित धमेख स्तूप इस काल में विस्तृत किया गया, जो कि आकार में ढोलाकार है।

पूर्व मध्यकालीन स्थापत्य

पूर्व मध्ययुग में कला और स्थापत्य के क्षेत्र में अत्यंत महत्वपूर्ण विकास हुए। इस समय उत्तर भारत में कश्मीर, राजस्थान तथा ओडिशा सहित अन्य क्षेत्रों में स्थापत्य और मूर्तिकला की विशिष्ट क्षेत्रीय शैलियाँ विकसित हुईं। इसके साथ ही प्रायद्वीपीय भारत में राष्ट्रकूट, चालुक्य, पल्लव तथा चोलों के अधीन भी विशाल स्तर पर निर्माण कार्य किए गए।

पूर्व मध्यकाल तक भारत में मंदिर स्थापत्य निर्माण की तीन स्वतंत्र शैलियों का वर्णन मिलता है– नागर, द्रविड़ तथा वेसर शैली। नागर शैली का क्षेत्र कश्मीर से लेकर विंध्य तक फैला है। वहीं कृष्णा तथा कावेरी नदियों के बीच की भूमि द्रविड़ शैली की उत्कर्ष भूमि है, जबकि वेसर शैली का क्षेत्र विंध्य से कृष्णा नदी के बीच का है। तीनों शैलियों की विशेषताएँ निम्नवत् हैं–

नागर शैली	द्रविड़ शैली	वेसर शैली
1. नागर शैली के मंदिर की आधारभूत योजना वर्गाकार होती है जिसे एक ऊँचे चबूतरे पर बनाया जाता था।	1. द्रविड़ शैली के मंदिरों की सबसे बड़ी विशेषता इनके पिरामिडीय शिखर हैं, जिनका उत्थान उत्तरोत्तर छोटी मंजिलों के रूप में होता है।	1. वेसर शैली एक संकर शैली है। 'वेसर' का शाब्दिक अर्थ खच्चर होता है, इसमें उत्तर तथा दक्षिण दोनों शैलियों के तत्व लिए गए हैं।
2. मंदिर का उत्थान इसके उत्तल शिखर से रेखांकित होता है।	2. शिखर के ऊपर स्तूपिका बनी होती है।	2. इसमें छत विहीन प्रदक्षिणापथ का विधान मिलता है।
3. शिखर के ऊपर आमलक बनाया जाता और उसके ऊपर कलश।	3. मंदिर के चारों ओर प्राचीर के मध्य तोरण द्वार का निर्माण, जिसे गोपुरम कहा जाता है।	3. मंदिर की दीवारों पर रथ का नियोजन दिखाई देता है।
4. विकसित मंदिरों में मुख्य शिखर के अतिरिक्त सजावट के लिए गौण शिखर का भी निर्माण किया जाता, जिन्हें उरूश्रृंग कहा जाता था।	4. मंदिर के परिसर में अनेक मंडपों का निर्माण।	4. इसमें अलंकरण के लिए नागर तथा द्रविड़ शैली की विशेषताओं का उपयोग किया जाता है।

लिंगराज मंदिर, भुबनेश्वर

- **राष्ट्रकूटकालीन स्थापत्य कला :** राष्ट्रकूट शासक शैवमतानुयायी थे, अतः उनके काल में शैव मंदिर एवं मूर्तियों का ही निर्माण प्रधान रूप से हुआ। एलोरा, एलीफैण्टा, जागेश्वरी, मण्डपेश्वर जैसे स्थान कलाकृतियों के निर्माण के प्रसिद्ध केन्द्र थे। इनमें एलोरा तथा एलीफैण्टा विशेष उल्लेखनीय हैं।
- **एलोरा :** एलोरा का स्थापत्य ब्राह्मण, जैन तथा बौद्ध तीनों धर्मों से संबंधित है। उत्कृष्ट बौद्ध एवं जैन गुफाओं के

अतिरिक्त एलोरा गुफाओं को भव्य कैलाशनाथ मंदिर के कारण भी जाना जाता है। एलोरा के कैलाशनाथ मंदिर के प्रतिमा शास्त्रीय निरूपण में शिव, शिव-पार्वती, कैलाश पर्वत को हिलाता रावण, दुर्गा, विष्णु, सप्तमातृकाएँ, गंगा, गणेश, यमुना तथा सरस्वती देवियों को भी स्थान मिलता है। वस्तुत: कैलाश मंदिर को उपमहाद्वीप के गुफा स्थापत्य का चरमोत्कर्ष कहा जाता है।

कैलाश मंदिर, एलोरा

- **एलीफैण्टा :** एलीफैण्टा में सर्वाधिक सुन्दर प्रतिमा महेश की है।

- **चालुक्यकालीन स्थापत्य कला :** दक्कन में, कर्नाटक के कई स्थानों पर मंदिरों के गुफा स्थापत्य और स्वतंत्र संरचनाओं के पूर्व मध्ययुगीन उदाहरण मिलते हैं। बादामी और एहोल, प्रारम्भिक स्थापत्य काल (6वीं से 8वीं सदी के शुरूआती वर्ष) का प्रतिनिधित्व करते हैं। स्थापत्य काल में दूसरे और अपेक्षाकृत भव्य चरण का प्रतिनिधित्व 8वीं सदी में पट्टदकल में बने मंदिरों के द्वारा होता है। चालुक्यों के मंदिर स्थापत्य में उत्तर और दक्षिण दोनों की स्थापत्य विशिष्टताएँ दिखलाई पड़ती हैं, किंतु इन शताब्दियों में दक्कन के स्थापत्य का अपना स्वतंत्र अस्तित्व भी तैयार हो गया।

- **एहोल** – एहोल में दो प्रभावशाली गुफा मंदिर विद्यमान हैं– एक जैन तथा दूसरा, शैव और दोनों की अंत: दीवारें अत्यधिक अलंकृत हैं।

- **बादामी** – बादामी की गुफाएँ लाल बलुआ पत्थर को काटकर बनाई गई हैं। यहाँ तीन प्रमुख गुफाओं में सबसे बड़ी गुफा वैष्णव है, जबकि एक शैव एवं दूसरी जैन है।

- **पट्टदकल** – पट्टदकल में दस मंदिर प्राप्त होते हैं, जिनमें विरूपाक्ष का मंदिर सर्वाधिक सुंदर तथा आकर्षक है। यह शिव को समर्पित है तथा इसका निर्माण लोकमहादेवी ने करवाया था।

- **होयसल स्थापत्य :** दक्कन में मंदिर स्थापत्य का दूसरा महत्वपूर्ण चरण होयसल राजवंश से जुड़ा है, जिन्होंने दक्षिणी कर्नाटक में अपनी राजधानी द्वारसमुद्र से शासन किया। इस काल के मंदिरों के अवशेष हेलबिड, बेलूर तथा सोमनाथपुर से मिले हैं। इनमें सबसे भव्य मंदिर 12वीं सदी में हेलबिड में बना होयसलेश्वर मंदिर है, जबकि बेलूर स्थित केशव मंदिर एक विशाल आँगन में बने अनेक मण्डपों का समुच्चय है। सोमनाथपुर में 13वीं सदी का केशव मंदिर, होयसल कालीन मंदिर स्थापत्य और मूर्तिकला का चरम बिन्दु कहा जा सकता है।

पट्टादकल का विरूपाक्ष मंदिर एवं पापनाथ का मंदिर

- **पल्लव स्थापत्य :** दक्षिण भारत में प्रस्तरीय स्थापत्य का इतिहास 7वीं शताब्दी में भक्ति की बढ़ती लोकप्रियता से जुड़ा हुआ था। पल्लव वास्तुकला ही दक्षिण की द्रविड़ कला शैली का आधार बनी। उसी से दक्षिण भारतीय स्थापत्य के तीन प्रमुख अंगों का जन्म हुआ– (i) मण्डप, (ii) रथ तथा (iii) विशाल मंदिर। महान कलाविद् पर्सी ब्राउन ने पल्लव वास्तुकला के विकास की शैलियों को चार भागों में विभक्त किया है–

- **महेन्द्रवर्मन शैली :** महेन्द्रवर्मन शैली में मंडप शैली की प्रधानता है। मण्डप से आशय है स्तंभों पर टिका हुआ एक हॉल, जो गर्भगृह के सामने निर्मित किया जाता था, जिसमें संगीत, नृत्य, संकीर्तन तथा अन्य प्रकार के अनुष्ठान किए जा सकते थे।

- **मामल्ल शैली :** इस शैली का विकास नरसिंहवर्मन प्रथम 'महामल्ल' के काल में हुआ। इसके अन्तर्गत दो प्रकार के स्मारक बने- मण्डप तथा एकाश्मक मंदिर (रथ)। इस शैली में निर्मित सभी स्मारक मामल्लपुरम् में विद्यमान हैं। यहाँ मुख्य पर्वत पर दस मण्डप बनाए गए हैं जिनमें आदिवराह मण्डप, महिषमर्दिनी मण्डप तथा रामानुज मण्डप आदि विशेष प्रसिद्ध हैं। मामल्लशैली की दूसरी रचना रथ अथवा एकाश्मक मंदिर हैं। यह लकड़ी के रथ की अनुकृति है और इसे पहाड़ से अलग करके तथा तराशकर बनाया गया है। महाबलीपुरम् में कुल 8 रथों का निर्माण किया गया जिसमें सबसे बड़ा रथ युधिष्ठिर रथ है तथा सबसे छोटा द्रौपदी रथ।
- **राजसिंह शैली :** इस काल में भी पहाड़ों को काटकर मंदिर बनाए जाते रहे थे। उदाहरण के लिए, काँचीपुरम् का कैलाशनाथ मंदिर, परन्तु इस शैली में पहली बार स्वतंत्र रूप से बनाए गए मंदिर का उदाहरण है- महाबलीपुरम् का तटीय मंदिर। इस मंदिर के विकास तक हमें द्रविड़ स्थापत्य शैली की लगभग सभी आधारभूत विशेषताएँ विकसित होती दिखती हैं; यथा- स्तम्भ एवं मण्डप का निर्माण, खंडीय शिखर, स्तूपिका आदि।

महाबलीपुरम् का तटीय मंदिर एवं युधिष्ठिर रथ

- **नन्दिवर्मन शैली :** इस शैली के अन्तर्गत अपेक्षाकृत छोटे मंदिरों का निर्माण हुआ। इसके उदाहरण काँची के मुक्तेश्वर एवं मातंगेश्वर मंदिर तथा गुड्डिमल्लम् का परशुरामेश्वर मंदिर आदि हैं। शैली की दृष्टि से धर्मराज रथ की अनुकृति प्रतीत होते हैं।
- **चोल स्थापत्य :** चोलवंशीय शासक उत्साही निर्माता थे, उनके समय में कला एवं स्थापत्य के क्षेत्र में महत्वपूर्ण प्रगति हुई। चोल काल दक्षिण भारतीय कला का स्वर्ण युग कहा जा सकता है। चोल स्थापत्य के विकास के मुख्यतः तीन चरण दिखाई देते हैं- प्रारम्भिक काल (850-985 ई.), मध्य काल (985-1070 ई.) तथा उत्तरकाल (1070-1270 ई.)।
- चोल स्थापत्य के प्राचीनतम चरण का प्रतिनिधित्व नार्त्तामलाई का शिव मंदिर करता है। इस प्रकार का दूसरा मंदिर कन्नूर का बालसुब्रह्माण्य मंदिर है जिसे आदित्य प्रथम ने बनवाया था। इसी समय का एक अन्य मंदिर कुम्बकोणम् में बना नागेश्वर मंदिर है।
- चोल मंदिर स्थापत्य का दूसरा चरण आदित्य-I और परांतक-I के काल को कह सकते हैं। परांतक प्रथम के काल में निर्मित श्रीनिवासनल्लूर का कोरंगनाथ मंदिर इस चरण का प्रमुख उदाहरण है। चोल मंदिर स्थापत्य का तीसरा चरण शेम्बियन महादेवी तथा राजराज-I के शासन काल के शुरूआती दौर को कहा जा सकता है। इस चरण में चोल स्थापत्य कला का चरमोत्कर्ष तंजौर के बृहदेश्वर मंदिर में देखा जा सकता है। इसका विमान 60 मीटर लम्बा है तथा इसके शिखर अत्यंत विशाल हैं। इस शिव मंदिर को अपने काल का सबसे भव्य मंदिर कहा जा सकता है। चोल मंदिर स्थापत्य के अंतिम चरण में विमान की तुलना में गोपुरम् अधिक महत्वपूर्ण हो गए। इस तथ्य का अवलोकन चिदम्बरम् के शिव मंदिर में किया जा सकता है।

वृहदेश्वर मंदिर, तंजौर

प्रश्न- मंदिर वास्तुकला के विकास में चोल वास्तुकला का mPp LFkku gS foospuk dhft, (UPSC-2013, 100 शब्द)

उत्तर: मंदिर वास्तुकला में द्रविड़ स्थापत्य की आधारभूत संरचना पल्लव शासकों के अधीन विकसित हुई थी, किंतु उसका स्पष्ट एवं वास्तविक रूप चोलों के काल में निखर कर आया। <u>चोलकालीन स्थापत्य में मंडप, शिखर एवं विमान के साथ-साथ गोपुरम् का विकास भी देखा गया</u>।

मंडप का निर्माण स्तंभयुक्त हॉल के रूप में आनुष्ठानिक कार्य पूरा करने के लिए किया जाता था। उसी प्रकार, गर्भगृह के ऊपर खंडीय शिखर का निर्माण किया जाता, जो ऊपर जाते हुए उत्तरोत्तर छोटा होता जाता। उसके ऊपर स्तूपिका निर्मित की जाती। उत्तुंग शिखरों के माध्यम से चोल शासकों ने अपने राजत्व के गौरव को व्यक्त किया। गर्भगृह से लेकर स्तूपिका तक की उठानी को विमान कहा जाता था। फिर इस काल में मंदिर के क्षैतिज विस्तार को देखते हुए ऊँचा प्रवेश द्वार बनाया जाता, जिसे गोपुरम कहा जाता। चोल शासक राजराज प्रथम के द्वारा निर्मित वृहदेश्वर मंदिर तथा राजेन्द्र प्रथम के द्वारा निर्मित गंगईकोंडचोलपुरम का मंदिर, मंदिर निर्माण कला की विकसित अवस्था को दर्शाते हैं।

प्रश्न– प्राचीन काल में स्थापत्य के विकास को प्रेरित करने में राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक एवं धार्मिक कारकों की भूमिका को स्पष्ट कीजिये।

उत्तर: प्राचीन काल में स्थापत्य के निर्माण के कई चरण रहे और अंत में भौगोलिक आधार पर ये तीन शैलियों में विभाजित हो गया। यथा– नागर शैली, द्रविड़ शैली और वेसर शैली। तीनों ही शैलियों में अनेक मंदिरों का निर्माण किया गया।

प्रेरित करने वाले कारक:

राजनीतिक कारक–

- कई राजवंश निचली श्रेणी से आए थे। अत: अपने वंश की प्रतिष्ठा स्थापित करने के लिये वे ब्राह्मणों से अपना संबंध जोड़ते थे और मंदिरों को संरक्षण देते थे।
- राजवंश के धार्मिक विश्वास से भी मंदिर के निर्माण प्रभावित हुए।
- अपनी विजय के उपलक्ष्य में भी मंदिरों के निर्माण कराए जाते थे। उदाहरण के लिये, राजेंद्र प्रथम के द्वारा गंगईकोंड चोलपुरम् मंदिर का निर्माण।
- अतिरिक्त शक्ति एवं प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिये तत्कालीन शासकों ने अपना संबंध देवताओं से जोड़ा। उदाहरण के लिये, चोल शासकों के द्वारा अपनी प्रतिमाएँ मंदिरों में स्थापित करवाई जाती थीं।

आर्थिक कारक– भूमि अनुदान के परिणामस्वरूप एक तरफ भूमिधारकों के वर्ग का उद्भव हुआ, वहीं दूसरी तरफ कई क्षेत्रीय राजवंश भी स्थापित हुए। इनके द्वारा मंदिरों का निर्माण करवाया गया। उसी प्रकार, व्यापारिक गतिविधियों से उत्पन्न एक संपन्न व्यापारी वर्ग ने चैत्य एवं विहारों के साथ–साथ मंदिरों का भी निर्माण करवाया।

सामाजिक कारक– कुछ नवीन सामाजिक वर्गों के द्वारा अपने सामाजिक दर्जे को ऊँचा उठाने के लिये मंदिरों का निर्माण कराया गया। उदाहरण के लिये, राजपूत राजवंश द्वारा बड़े पैमाने पर मंदिरों का निर्माण कराया गया।

धार्मिक कारक– धार्मिक विश्वास से प्रेरित होकर भी मंदिरों का निर्माण कराया जाता था तथा अपने विश्वास के अनुकूल देवताओं की प्रतिमाएँ स्थापित की जाती थीं। उदाहरण के लिये, चोल शासकों ने शैव मंदिर का निर्माण करवाया, तो विजयनगर शासकों ने वैष्णव मंदिर का।

अभ्यास प्रश्न– *शैलकृत स्थापत्य (Rock-cut Architecture) प्रारंभिक भारतीय कला के ज्ञान के अति महत्वपूर्ण स्रोतों में से एक का प्रतिनिधित्व करता है। विवेचना कीजिए। (UPSC-2020, 150 शब्द)*

■■■

प्राचीन भारत में मूर्ति कला का विकास
(Development of Sculpture in Ancient India)

प्राचीन भारत में मूर्तिकला का विकास अन्य ललित कलाओं; जैसे- स्थापत्य तथा चित्रकला के साथ ही हुआ दिखता है। प्राचीन भारत में तीनों ही कलाओं के विकास के उत्कृष्ट उदाहरण प्राप्त होते हैं। ये तीनों कलाएं एक-दूसरे से इस रूप में अभिन्न हैं कि इनमें एक के बिना दूसरे की सुदंरता की परिकल्पना भी नहीं हो सकती है। भारत में मूर्तिकला का विकास अनेक रूपों में हुआ है जैसे कि मूर्तिकला, धातु मूर्तिकला अथवा पाषाण मूर्तिकला। ये मूर्तियां भित्तिचित्र की भी अंग हो सकती हैं अथवा इसकी स्थापना स्वतंत्र रूप से भी हो सकती है। प्राचीन भारत में मूर्तिकला के विकास को उसके कालक्रम के अनुसार समझना व्यावहारिक प्रतीक होता है।

प्रागैतिहासिक से पूर्व मौर्ययुगीन मूर्तिकला

भारत में मूर्तिकला का प्राचीनतम साक्ष्य उच्च पुरापाषाण काल से दिखाई देता है। इस काल के बेलन घाटी में स्थित लोहंदानाले से अस्थि निर्मित मातृदेवी की मूर्ति प्राप्त हुई है। इसके पश्चात् के काल में अनेकानेक पाषाण मूर्तियों की प्राप्ति हुई है। खासकर हड़प्पा सभ्यता की खुदाई में मोहनजोदड़ो तथा हड़प्पा की खुदाई से बहुत सारी पाषाण मूर्तियों की प्राप्ति हुई है। यद्यपि ये मूर्तियाँ पूर्ण रूप से विकसित नहीं हैं, तथापि प्रारंभिक मूर्तिकला की अच्छी उदाहरण हैं। मोहनजोदड़ो से प्राप्त प्रस्तर की योगी अथवा पुरोहित की मूर्ति तथा काँसे से निर्मित एक नाचती हुई लड़की की मूर्ति विशेष रूप से उल्लेखनीय है। मोहनजोदड़ो तथा हड़प्पा से प्राप्त पुरूषों की भव्य प्रतिमाओं तथा मूर्तियों को देखने से अनुमान होता है कि सिंधु घाटी सभ्यता पर सुमेरी तथा भारतीय प्रभाव था।

सैंधव मूर्तिकला के अंतर्गत मनुष्यों तथा पशुओं, दोनों की मूर्तियाँ निर्मित की गई हैं। मानव मूर्तियाँ अधिकतम महिलाओं की हैं। ये मूर्तियाँ पुरूष मूर्तियों की तुलना में अधिक सुघड़ तथा प्रभावोत्पादक हैं। यहाँ पर मानव मूर्तियों की तुलना में कहीं अधिक पशुओं की मूर्तियाँ भी पायी गई हैं तथा ये कला की दृष्टि से उच्च कोटि की भी हैं। इन मूर्तियों में कूबड़ वाले बैल की मूर्तियाँ अत्यधिक संख्या में पायी गई हैं। अन्य पशुओं में हाथी, गैंडे, बन्दर, सुअर, भालू आदि की मूर्तियाँ निर्मित हैं।

मौर्यकालीन मूर्तिकला

मौर्यकाल में मूर्तिकला में पशुओं की आकृति बेहतरीन रूप में अभिव्यक्त हुई है। विशेषकर, पशुओं में भी चार पशुओं को प्रतिनिधित्व मिला है, यथा- सिंह, सांड, हाथी और घोड़े। विशेषकर रामपुरवा का बैल एक अनुपम कृति है। वह बहुत ही प्रसन्नचित मुद्रा में खड़ा है। पशुओं की सजीव आकृति को देखते हुए एक विवाद उभरकर आया है कि सम्भवतः मौर्यकला कहीं बाहर से आयातित है क्योंकि अचानक इतनी विकसित अवस्था में ये मूर्तियाँ कैसे बन सकती हैं क्योंकि इससे पूर्व कोई सुडौल मूर्ति नहीं मिली है। किंतु अब ऐसा माना जाने लगा है कि मौर्यकला, हड़प्पाई मूर्तिकला के क्रमिक विकास को ही दर्शाती है। वस्तुतः हड़प्पा काल एवं मौर्यकाल के बीच भी मूर्तियों का निर्माण होता रहा था, किंतु संभवतः यह मूर्तियाँ शीघ्र नष्ट होने वाली सामग्रियों; यथा- लकड़ी से निर्मित थीं, इसलिए ये शीघ्र नष्ट हो गयीं। यही वजह है कि वर्तमान में उनका अवशेष नहीं मिलता।

मौर्यकाल में हमें लोक कला के भी उदाहरण मिलते हैं। इस काल में पत्थर की निर्मित यक्ष-यक्षिणी की मूर्तियाँ बड़ी संख्या में मिली हैं। ये खुले आकाश के नीचे खड़ी हैं। ये मूर्तियाँ इस प्रकार हैं- परखम के यक्ष, दीदारगंज की चामरग्राहिणी तथा बेसनगर की यक्षिणी।

मौर्योत्तरकालीन मूर्तिकला

इस काल में मूर्तिकला की तीन स्वतंत्र शैलियाँ विकसित हुई; यथा- गांधार कला, मथुरा कला तथा अमरावती कला। ये तीनों शैलियाँ अपने-अपने दृष्टिकोण से उत्कृष्ट थीं तथा भारतीय शिल्प कला में इन सभी को श्रेष्ठ स्थान प्रदान किया गया है।

■ गांधार मूर्तिकला

भारतीय मूर्तिकला के इतिहास में गांधार मूर्तिकला को विशेष महत्व प्राप्त है क्योंकि इसने भारतीय मूर्तिकला को एक नई दिशा दी।

गांधार मूर्तिकला का केन्द्र उत्तर-पश्चिम में तक्षशिला एवं आस-पास का क्षेत्र रहा है। इसका विकास प्राय: दो चरणों में देखने को मिलता है- प्रथम चरण, दूसरी सदी तक और दूसरा चरण, दूसरी सदी और 7वीं सदी के बीच। सबसे दिलचस्प तथ्य यह है कि गांधार मूर्तिकला का स्वरूप समन्वयवादी है। यह कई शैलियों के मिश्रण को दर्शाता है-

- **यूनानी शैली का प्रभाव-** गांधार कला में मूर्तियों के शरीर की बनावट पर यूनानी शैली का प्रभाव है। इसमें मूर्तियों का बलिष्ठ शरीर एवं माँसपेशियों का यथार्थवादी चित्रण हुआ है। यूनानी कला में अपोलो देवता के मुख का बड़ा ही भव्य चित्रण देखने को मिलता है। आगे गांधार कला में अपोलो देवता के ही मॉडल पर बुद्ध एवं बोधिसत्वों की मूर्तियाँ बनी हैं।
- **रोमन शैली का प्रभाव-** दूसरी तरफ, रोमन प्रभाव में गांधार शैली में वेशभूषा, पोशाक, आभूषण आदि के चित्रण पर विशेष बल दिया गया। मूर्तियों को भव्य चोगा पहनाया जाता, मूर्ति के मस्तक पर राजमुकुट का चित्रण किया जाता तथा कान में कुण्डल एवं शरीर के आभूषण के अंकन पर विशेष बल दिया जाता था।

- **मध्य-एशियाई प्रभाव-** मध्य एशिया में शकों एवं पार्थियन शासकों के प्रभाव में भी गांधार शैली में बदलाव देखा गया। सामान्यत: मूर्ति-निर्माण में कच्चे माल अथवा सामग्री के रूप में गहरे नीले पत्थर अथवा काले पत्थर का प्रयोग किया जाता था, परन्तु अब चूना प्लास्टर का भी प्रयोग किया जाने लगा। उसी प्रकार, पार्थियन शासकों के प्रभाव में मूर्तियों को तिकोनी टोपी पहनायी जाने लगी। इतना ही नहीं, मूर्तिकला में अग्नि रेखा का भी अंकन होने लगा। इस पर हम ईरानी प्रभाव मान सकते हैं।
- **भारतीय प्रभाव-** भारतीय प्रभाव में मूर्ति के मुख पर आध्यात्मिकता दर्शायी जाने लगी। गांधार मूर्तिकला शरीर से भले ही यूनानी-रोमन थी, परन्तु आत्मा से भारतीय ही बनी रही।

प्रश्न- गांधार मूर्तिकला रोमन वासियों की उतनी ही ऋणी थी, जितनी कि वह यूनानियों की थी। स्पष्ट कीजिए।

उत्तर- गांधार मूर्तिकला, भारतीय मूर्तिकला के इतिहास में एक महत्वपूर्ण विकास क्रम को दर्शाती है। यह उत्तर-पश्चिम में तक्षशिला एवं आस-पास के क्षेत्रों में विकसित हुयी थी क्योंकि ये क्षेत्र भारतीय एवं यूनानी-रोमन संस्कृति के मिलन स्थल रहे थे। गांधार मूर्तिकला अपनी शारीरिक बनावट में मुख्यत: यूनानी तत्वों से, जबकि वेश-भूषा एवं साज-सज्जा में रोमन तत्वों से प्रभावित थी। वहीं दूसरी तरफ यह अपनी आत्मा से भारतीय थी।

यूनान में देवताओं को मानव रूप में प्रस्तुत किया जाने लगा था। यूनानी-रोमन कला में देवताओं की मूर्तियां निर्मित की जाती थीं, इसलिये भारत की भूमि पर भी यूनानी-रोमन प्रभाव से देवताओं की मूर्तियां मानव रूप में बनायी जाने लगीं। इसे 'गांधार कला' का नाम दिया गया। गांधार कला के अंतर्गत बुद्ध एवं बोधिसत्व की मूर्तियां निर्मित की गईं। इस कला के अंतर्गत मूर्ति की शारीरिक बनावट यथार्थ रूप में प्रस्तुत की गयी। उदाहरण के लिए, माँसपेशियां, केश विन्यास तथा शरीर के विभिन्न अंगों के यथार्थ चित्रण, इन सभी पर सीधा यूनानी प्रभाव था। बुद्ध को यूनानी देवता अपोलो की तरह प्रस्तुत किया गया। किंतु बुद्ध के शरीर पर कपड़े एवं आभूषण रोमन शैली से प्रभावित थे। रोमन शैली में पारदर्शी कपड़े, उनकी सिलवटें तथा मूर्ति के सिर पर राजमुकुट एवं शरीर के अन्य आभूषण को दर्शाया गया था। फिर आगे भारतीय प्रभाव में मूर्ति के मुख पर आध्यात्मिकता को भी प्रदर्शित किया जाने लगा।

अभ्यास प्रश्न: ***गांधाराई कला में मध्य एशियाई एवं यूनानी-बैक्ट्रियाई तत्वों को उजागर कीजिए। (UPSC-2019, 150 शब्द)***

■ मथुरा एवं गांधार कला शैली में अन्तर के बिन्दु

1. गांधार कला का मौलिक क्षेत्र उत्तर-पश्चिम में तक्षशिला एवं आस पास का क्षेत्र रहा था, जबकि मथुरा कला का क्षेत्र मथुरा, आगरा और आस-पास का क्षेत्र रहा था।
2. मथुरा कला ब्राह्मण, बौद्ध और जैन सभी पंथों से सम्बद्ध

थी, तो गांधार कला मुख्यत: उत्तर-पश्चिम में बौद्ध पंथ से सम्बद्ध रही थी।

3. गांधार कला में कच्चे माल अथवा सामग्री के रूप में गहरे नीले पत्थर अथवा काले पत्थर का प्रयोग होता था, तो मथुरा कला में लाल पत्थर का।

4. गांधार कला का दृष्टिकोण यथार्थवादी था, तो मथुरा कला का आदर्शवादी। दूसरे शब्दों में, गांधार कला में मूर्ति के शरीर की बनावट, कपड़ों की सिलवटें आदि का बड़ा ही यथार्थवादी चित्रण किया गया है, जबकि मथुरा कला में शरीर की बनावट को महत्व नहीं दिया गया, कपड़े भी पारदर्शी एवं शरीर से चिपके हुए दिखाए जाते हैं। इसमें केवल मूर्ति के मुख पर आध्यात्मिकता दर्शाने पर विशेष बल दिया जाता है। मूर्तियाँ प्राय: विचारमग्न दिखती हैं।

■ **अमरावती शैली**

यह शैली सातवाहनों तथा उसके उत्तराधिकारी इक्ष्वाकुओं के अधीन अमरावती, नागार्जुनकोंड एवं आस-पास के क्षेत्रों में विकसित हुई। इसमें कच्चे माल अथवा सामग्री के रूप में संगमरमर का प्रयोग होता था तथा बड़े ही भव्य प्रकार की मूर्तियाँ बनाई जाती थीं।

जहाँ मथुरा शैली की मूर्तियों में आध्यात्मिक बातों को अधिक महत्व दिया गया है, वहीं अमरावती शैली में मूर्तियों के निर्माण में सांसारिक बातों को विशेष महत्व दिया गया है। अमरावती शैली का मुख्य बल ऐन्द्रिक सुखों पर है अर्थात् मूर्तियों में एक प्रकार के ऐश्वर्य का प्रदर्शन हुआ है। वस्तुत: इस काल तक दक्षिण भारत के समाज पर रोमन व्यापार का प्रभाव उभरकर आया। अत: सुख-समृद्धि में वृद्धि के कारण ऐन्द्रिक सुख की ओर आकर्षण बढ़ गया।

गुप्तकालीन मूर्तिकला

गुप्तकाल में मूर्ति कला ने क्लासिकल मानदंड ग्रहण किया अर्थात् इस काल में मूर्तिकला में अत्यधिक प्रौढ़ता आयी तथा मूर्तिकला ने ऐसे मानदंड विकसित किए, जिन्होंने न केवल भारत के अन्दर, अपितु भारतीय उपमहाद्वीप के बाहर की मूर्तिकला पर भी अपना प्रभाव छोड़ा।

इस काल में मूर्तिकला की दो प्रचलित शैलियाँ, मथुरा कला एवं गांधार कला इन दोनों के मिश्रण से सारनाथ शैली का विकास हुआ। इस शैली में बेहतरीन प्रकार की मूर्तियों का निर्माण हुआ। एक तरफ गांधार शैली के प्रभाव में शरीर की बेहतर बनावट को महत्व दिया गया, तो दूसरी तरफ मथुरा शैली के प्रभाव में मूर्ति के मुख पर आध्यात्मिकता भी दर्शायी गई।

गुप्तकालीन मूर्ति में मंद आभामंडल का विकास दिखता है तथा मूर्ति के मुख पर विभिन्न प्रकार की भाव-भंगिमाओं को दर्शाया गया है। कुषाणकालीन मूर्तियाँ नग्न रूप में भी दर्शायी जाती थीं, परन्तु गुप्तकालीन मूर्तियों को उचित वस्त्रों से ढका गया है। धातु से निर्मित मूर्ति के निर्माण में भी गुप्त काल विकसित अवस्था में दिखता है। उदाहरण के लिए, बिहार के सुल्तानगंज से एक टन की बुद्ध की काँसे की मूर्ति प्राप्त हुई है।

गुप्तोत्तरकालीन मूर्तिकला

■ **पल्लव कला**

पल्लवों के अधीन बड़ी संख्या में पहाड़ों को काटकर मंदिर बनाए गए थे। इन मंदिरों में देवताओं की मूर्तियाँ भी स्थापित की गईं, जो काफी भव्य प्रतीत होती हैं तथा बेहतर मूर्तिकला का उदाहरण प्रस्तुत करती हैं। उदाहरण के लिए,

नरसिंहवर्मन प्रथम के द्वारा निर्मित रथ मंदिर में अनेक सुंदर मूर्तियाँ निर्मित की गई हैं। द्रौपदी रथ में दुर्गा की मूर्ति है तथा अर्जुन रथ में शंकर की मूर्ति, उसी प्रकार धर्मराज रथ में स्वयं नरसिंहवर्मन प्रथम की मूर्तियाँ स्थापित हैं।

■ **चोल मूर्तिकला**

ऐसा माना जाता है कि पल्लव कालीन कला ने चोल काल तक आकर क्लासिकल मानदंड ग्रहण किए। उसी प्रकार, मूर्तिकला भी इसका अपवाद नहीं है। चोल काल में बड़ी संख्या में मंदिर बनाए गए तथा उसमें मूर्तियाँ स्थापित की गईं। उदाहरण के लिए, आरंभिक मंदिर में हम नर्तमलाई के विजयालय चोलेश्वर मंदिर की चर्चा कर सकते हैं। इसमें प्रस्तर की भव्य मूर्ति स्थापित की गई थी। चूँकि चोल शासक शैव धर्म के उपासक थे, इसलिए इस काल के मंदिरों में, विशेषकर शिव की मूर्तियाँ मिलती हैं। साथ ही, राजा की मूर्तियाँ भी बनती थीं। राजराज प्रथम का बृहदेश्वर मंदिर मूर्ति निर्माण कला की दृष्टि से एक महत्वपूर्ण चरण को व्यक्त करता है।

किंतु चोल कालीन मूर्तिकला विशेषकर ताँबे एवं काँसे की मूर्तियों के निर्माण के लिए जानी जाती हैं। बड़ी संख्या में देवताओं, राजाओं एवं दाताओं की मूर्तियाँ बनाई गईं। सबसे बढ़कर, शिव नटराज की मूर्ति कांस्य कला का बेहतर उदाहरण प्रस्तुत करती है। जहाँ प्रस्तर की मूर्ति मंदिर में निर्मित हुई, वहीं काँसे की मूर्ति मंदिर से बाहर मिलती है।

■ **पालकालीन मूर्तिकला**

यह मूर्तिकला 8वीं, 9वीं सदी में पाल शासकों के अधीन बंगाल तथा पूर्वी भारत में विकसित हुई। ये मूर्तियाँ काले बेसाल्ट पत्थर की बनाई गईं हैं। इस काल की मूर्तिकला से जुड़े हुए दो महान कलाकारों को संरक्षण मिला था, ये कलाकार थे– धीमन तथा विठपाल।

■■■

प्राचीन भारत में चित्रकला का विकास
(Development of Paintings in Ancient India)

चित्रकला का विकास (Fresco Painting)

↓

आरंभिक रूप स्तम्भकला

↓

भीमबेटका का गुफा चित्र

↓

बाघ चित्रकला | **अजन्ता के चित्र**

सातवाहन, वाकाटक, गुप्त, चालुक्य
(द्वितीय ई.पू. से 7वीं सदी तक)
30 गुफाएँ - 16, 17, 19 की गुफाएँ

(बौद्ध पंथ)

↓

बादामी चित्रकला

चालुक्य वंश (7वीं-8वीं सदी)

↓

एलोरा के गुफा चित्र

34 गुफाएँ - राष्ट्रकूट वंश - 10वीं सदी

(ब्राह्मण, बौद्ध, जैन पंथ)

↓

10वीं सदी के पश्चात् गुफा चित्रकला अथवा स्तम्भ चित्रकला का पतन एवं लघु चित्रकारी (Miniature painting) का विकास।

↓

जैन चित्रकला (गुजरात एवं राजस्थान)

↓

पट्ट चित्रकला (कपड़े पर चित्रकारी)
(उत्तर प्रदेश, नेपाल, तिब्बत)

↓

प्रकृति के चित्र पर बल → **गुजराती शैली** (14वीं-15वीं सदी)
कागज का प्रचलन

↓

चौरपंचशिका शैली (एक ही साथ कथा एवं चित्र)

↓

पोथी शैली

ललितकलाओं की विविध शैलियों में चित्रकला एक महत्वपूर्ण शैली का प्रतिनिधित्व करती है। आदिमानव ने भी सर्वप्रथम अपने आप को चित्रकला के माध्यम से अभिव्यक्त करने का प्रयास किया था। जब मानव ने अपने आस-पास के परिवेश के साथ साहचर्य स्थापित किया तथा उन्होंने जो महसूस किया, तो उसे सर्वप्रथम चित्रों के माध्यम से ही व्यक्त करने का प्रयास किया। उदाहरण के लिए, उच्च पुरापाषाण काल एवं मध्यपाषाण काल के मानव ने अपने मनोभाव को भीमबेटका के गुफा चित्रों के रूप में व्यक्त किया।

चित्रकला के विकास में सातवाहन शासकों का विशेष योगदान रहा था। बताया जाता है कि अजन्ता के आरम्भिक गुफा चित्र सातवाहन शासकों से जुड़े रहे थे। उदाहरण के लिए, गुफा संख्या 9 एवं 10 आरम्भिक गुफाओं से संबंधित हैं तथा इन गुफाओं का विकास सातवाहन शासकों के द्वारा किया गया था। ऐसा माना जाता है कि सातवाहनों के अधीन भज तथा अमरावती से जो मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं, उन्हीं की अभिव्यक्ति सातवाहनकालीन चित्रकला में भी हुई है।

इस काल में कुषाणों के द्वारा भी चित्रकला के विकास में अपना योगदान दिया गया। वस्तुतः उत्तर-पश्चिम में चित्रकला की जो शैली विकसित हुई थी, उस पर यूनानी, रोमन तथा ईरानी शैली का प्रभाव था। फिर इसमें कुषाणों ने चीनी तत्वों को भी शामिल कर दिया। इस प्रकार, उत्तर पश्चिम में कुषाणों के अधीन चित्रकला की एक मिश्रित शैली विकसित हुई। उदाहरण के लिए, उत्तर-पश्चिम से महात्मा बुद्ध का एक ऐसा चित्र मिलता है जिनके वक्ष पर 'श्रीवत्स' अंकित है। उसी प्रकार, एक कुषाणकालीन चित्र में एक महिला को सरोवर से निकलते हुए दिखाया गया है जिसके साथ एक शिशु भी है।

■ **अजन्ता के गुफा चित्र**

अजन्ता के गुफा चित्र प्राचीनकालीन भारतीय चित्रकला की महान धरोहर हैं। इसके विकास में विभिन्न राजवंशों का योगदान रहा है। यथा- सतावाहन वंश, वाकाटक वंश, गुप्त वंश तथा चालुक्य वंश। अजन्ता में कुल 30 गुफाओं का निर्माण किया गया, इनमें 29 गुफाएँ पूर्ण निर्मित हैं, वहीं एक गुफा अर्द्धनिर्मित। गुफा संख्या 9 और 10 सातवाहन काल से संबद्ध हैं, जबकि गुफा संख्या 16, 17, 19 गुप्तकाल से।

गुफा संख्या 16 में कुछ अनुपम चित्र बनाए गये हैं, इनमें एक महत्वपूर्ण चित्र है मरणासन्न राजकुमारी की। इसमें एक राजकुमारी अपने पति की विरह में मर रही है, जबकि उसके परिजन चारों ओर से उसे घेरकर खड़े हैं। इस चित्र में मानव करूणा का अद्वितीय चित्रण हुआ है। गुफा संख्या 17 को 'चित्रशाला' का नाम दिया जाता है क्योंकि इसमें अनेक सुंदर चित्र उकेरे गये हैं। एक अद्भुत चित्र बुद्ध एवं उनकी पत्नी यशोधरा के संबंधों को व्यक्त कर रहा है। यशोधरा के द्वारा अपने पुत्र राहुल को महात्मा बुद्ध को अर्पित करते हुए दिखाया गया है। यहाँ भी मानव संवदेना का बड़ा ही सजीव चित्रण मिलता है।

अजन्ता के चित्रों पर बौद्ध धर्म का गहरा प्रभाव देखा जा सकता है। इन चित्रों में महात्मा बुद्ध तथा बोधिसत्वों को अभिव्यक्त किया गया है। वस्तुत: अजन्ता चित्रकला क्लासिकल मानदंड ग्रहण कर लेती है तथा यह आने वाले युगों में भारतीय चित्रकला पर गहरा प्रभाव छोड़ती है।

■ **बाघ चित्रकला**

बाघ चित्रकला से संबंधित गुफाएँ ग्वालियर के पास स्थित हैं। यहाँ से गुप्तकाल के अनेक महत्वपूर्ण चित्र प्राप्त हुए हैं। वैसे तो बाघ में 9 गुफाएं मिली हैं, किंतु गुफा संख्या 2, 4 और 5 अत्यधिक महत्वपूर्ण हैं। अगर हम बाघ चित्रकला की तुलना अजन्ता चित्रकला से करते हैं, तो पाते हैं कि जहाँ अजन्ता चित्रकला का विषय धार्मिक था, वहीं बाघ चित्रकला का विषय लौकिक। उसी प्रकार, जहाँ अजन्ता चित्रकला विशेषकर अभिजात्य वर्ग से संबंधित थी, तो बाघ चित्रकला सभी वर्गों से।

■ **बादामी चित्रकला**

बादामी चित्रकला का विकास चालुक्य शासकों के अधीन हुआ था। चालुक्य शासक मंगलेश ने कई गुफाओं का निर्माण कराया तथा उन गुफाओं में मूर्तियों के साथ-साथ चित्र भी बनाये गये। इन गुफाओं में संख्या-4 अधिक महत्वपूर्ण है। इसमें विष्णु के विभिन्न रूपों के चित्र अंकित किए गए हैं।

■ **एलोरा और एलिफेंटा की चित्रकारी**

एलोरा महाराष्ट्र में स्थित है तथा एलोरा से मूर्तिकला के साथ चित्रकला के साक्ष्य भी प्राप्त होते हैं। एलोरा में चित्रकला के विकास में चालुक्य तथा राष्ट्रकूट शासकों का विशेष योगदान रहा है। यहाँ से प्राप्त कुछ चित्रों में कैलाशनाथ, इन्द्रसभा तथा कुछ अन्य चित्रकारी महत्वपूर्ण है। महाराष्ट्र में एलिफेंटा मुम्बई के पास स्थित है। इसे पहले 'धारानगरी' के नाम से जाना जाता था, किंतु आगे पुर्तगीजों ने हाथियों के आकार की बड़ी-बड़ी चट्टानों को देखकर इसका नामकरण एलिफेंटा रख दिया। एलिफेंटा से मूर्तिकला का भी साक्ष्य मिलता है, किंतु इसके साथ-साथ यहाँ से चित्रकला के उदाहरण भी प्राप्त होते हैं। उदाहरण के लिए, अर्द्धनारीश्वर के रूप में शिव, पुरूष तथा प्रकृति (जीव तथा शरीर) का मिलन आदि।

■ **पल्लव कालीन चित्रकला**

पल्लवों के अधीन चित्रकला की एक शैली विकसित की गई, इस पर अजन्ता चित्रकारी का प्रभाव भी देखा जा सकता है। आगे पल्लव चित्रकला चोलकला के रूप में विकसित हुई। पल्लव शासकों में महेन्द्रवर्मन प्रथम ने कुछ गुफाओं का निर्माण कराया तथा चित्रकारी को भी प्रोत्साहन दिया। आगे महेन्द्रवर्मन की परम्परा को नरसिंहवर्मन द्वितीय अथवा राजसिंह ने आगे बढ़ाया। उसने कैलाशनाथ मंदिर की दीवारों पर चित्रों का निर्माण कराया। इनमें विभिन्न देवताओं का प्रतिनिधित्व मिलता है। ये चित्र पल्लव चित्रकला के ज्वलंत उदाहरण हैं।

■ **चोलकालीन चित्रकला**

इस काल में पल्लव कालीन चित्रकला और भी विकसित होकर आई थी। इस काल के चित्र मंदिरों की दीवारों पर मिलते हैं। आरम्भिक मंदिरों में नर्तमलाई में विजयालय चोलेश्वर मंदिर महत्वपूर्ण हैं। इसकी दीवारों पर विभिन्न देवी देवताओं के चित्र बनाये गये, किंतु सबसे महत्वपूर्ण चित्र तंजौर के वृहदेश्वर मंदिर की दीवारों पर अंकित है, जो राजराज प्रथम के काल में निर्मित किये गये थे। ये चित्र आंतरिक गर्भगृह के चारों ओर प्रदक्षिणा पथ की दीवारों पर बनाये गये हैं। ये चित्र ढक गये थे क्योंकि इनके ऊपर नायक के काल की चित्रकारी प्राप्त होती है। किंतु गोविन्द स्वामी नामक महत्वपूर्ण विद्वान (विशेषज्ञ) ने इन चित्रों को खोज निकाला। इन चित्रों में नटराज शिव का चित्र अत्यधिक महत्वपूर्ण है। इसके साथ-साथ त्रिपुरांतक (तीन किलों को नष्ट करने वाले) के रूप में शिव का चित्र अंकित किया गया है।

■ **चित्रकला के विकास का दूसरा चरण (लघु चित्रकला)**

आरम्भिक चित्र तालपत्र पर बनाए गए, उसके बाद कागज एवं वस्त्रों पर लघु चित्र बनाए जाने लगे। ऐसा माना जाता है कि एलोरा गुफा चित्रकला के पश्चात् स्तम्भ चित्रकारी का पतन हो गया और उसकी जगह लघु चित्रकला आरम्भ हुई। इसका आरम्भिक विकास तालपत्र पर देखा गया। इसके विकास में जैनियों का योगदान रहा है। गुजरात और बंगाल इस चित्रकला के प्रमुख केन्द्र थे। गुजरात जैनियों का केन्द्र था। **जैन चित्रकला** का विकास 7वीं सदी से आरम्भ हुआ।

■ **जैन चित्रकला**- 9वीं से 12वीं शताब्दी तक सम्पूर्ण भारत को प्रभावित करने वाली शैलियों में जैन शैली का प्रमुख स्थान है। इस शैली का प्रथम प्रमाण सित्तनवासल की गुफा में बनी पाँच जैन मूर्तियों से प्राप्त होता है। भारतीय चित्रकलाओं में कागज पर की गई चित्रकारी का उत्कृष्ट स्थान है। इस कला का नमूना जैन ग्रंथों के ऊपर लगी दफ्तियों या लकड़ी की पटरियों पर भी मिलता है। इस शैली पर मुगल और ईरानी शैली का भी प्रभाव है।

■ **पट्ट चित्रकला**

चित्रकला की यह शैली बंगाल में विकसित हुई, किंतु इसका प्रसार उत्तर प्रदेश, नेपाल, तिब्बत आदि क्षेत्रों में भी देखा गया। इस चित्रकारी से जुड़े हुए महत्वपूर्ण कलाकार नीलमणि दास, गोपालदास, बलरामदास आदि थे। इस शैली के अंतर्गत रामायण, महाभारत तथा पुराणों से संबंधित कथाओं को कपड़ों पर अंकित किया जाता था, इसलिए इसका नाम पट्ट चित्रकला पड़ गया।

■ **गुजराती चित्रकला**

यह चित्रकला इस रूप में विलक्षण थी कि इसमें स्तम्भ चित्रकारी की जगह तालपत्रों पर चित्र बनाये जाने लगे। ये चित्र पुस्तकों के रूप में बनाये जाते थे, अत: इसे 'पोथी' शैली का नाम दिया गया। गुजराती चित्रकला में प्रकृति के चित्रण पर भी बल दिया गया था। उदाहरण के लिए, अग्नि, जल, बादल, आकाश आदि के चित्र निर्मित किये गये तथा इन्हें तालपत्रों पर उकेरा गया। आगे इसका प्रभाव चित्रकला की राजपूत शैली पर देखा जा सकता है।

■ **पाल शैली:** 9वीं से 12वीं शताब्दी तक बंगाल में पालवंश के शासकों-धर्मपाल और देवपाल के शासन काल में विशेष रूप से विकसित होने वाली पाल शैली की चित्रकला की विषयवस्तु बौद्ध धर्म से प्रभावित रही है। प्रारंभ में ताड़-पत्र और बाद में कागज पर बनाये जाने वाले चित्रों में वज्रयान बौद्ध धर्म के दृश्य चित्रित हैं। दृष्टांत शैली की प्रधानता वाली इस शैली ने तिब्बत और नेपाल की चित्रकला को भी प्रभावित किया है। इसका प्रमुख केन्द्र पूर्वोत्तर भारत ही रहा, परन्तु वर्तमान में इस शैली के चित्र देश के विभिन्न भागों में स्थित संग्रहालयों में भी देखे जा सकते हैं।

प्रश्न- कला के क्षेत्र में बौद्धों के योगदान का निरूपण कीजिए।

बौद्ध कला

चैत्य, स्तूप,	**मूर्तिकला**	**चित्रकला**	**भारत से बाहर**
विहार एवं आगे मंदिर	गांधार कला तथा सारनाथ कला	अजन्ता एवं बाघ + एलोरा जैन, बौद्ध, ब्राह्मण	मध्य एशिया, पूर्व एवं दक्षिण-पूर्व एशिया में मूर्तिकला एवं चित्रकला पर प्रभाव

प्रश्न- अजन्ता भारतीय संस्कृति की महान धरोहर है। इस कथन पर टिप्पणी कीजिए।

अजन्ता

स्थापत्य कला	**मूर्तिकला**	**चित्रकला**
(बौद्ध मंदिर)	(बुद्ध एवं बोधिसत्व की मूर्तियाँ)	(बुद्ध एवं बोधिसत्व तथा शासक)

अजन्ता भारतीय कला के विकास में एक महत्वपूर्ण विभाजक रेखा बनकर आता है। अजन्ता के काल तक भारत की कई कला शैलियां इतनी प्रौढ़ हो गईं कि इन्होनें न केवल परवर्ती काल की भारतीय कला पर, वरन् भारत के बाहर भी कला शैलियों पर अपना प्रभाव छोड़ा।

अजन्ता न केवल चित्रकला, बल्कि स्थापत्य एवं मूर्तिकला के क्षेत्र में भी भारत की महान कलात्मक उपलब्धि है। यह दूसरी सदी ईसा पूर्व तथा 7वीं सदी के बीच लगभग एक हजार वर्षों के विकास के इतिहास को दर्शाता है। अजन्ता में 30 गुफाओं का अवशेष मिलता है। इनमें कुछ चैत्य हैं एवं कुछ विहार। पहली बार अजन्ता में चैत्य एवं विहार दोनों साथ-साथ निर्मित दिखाई पड़ते हैं। चैत्य बौद्ध गुफा मंदिर है, गुप्तकालीन गुफा मंदिर चैत्य गुफा मंदिर का उत्कृष्टतम उदाहरण है।

मूर्तिकला के क्षेत्र में भी अजन्ता का योगदान रहा है। यहाँ बुद्ध एवं बोधिसत्वों की अनेक मूर्तियाँ मिलती हैं जो दर्शाती हैं कि अजन्ता की मूल उत्प्रेणा बौद्ध पंथ से मिली थी। गुप्तकालीन मूर्तिकला, सारनाथ कला के निकट है।

सबसे बढ़कर चित्रकला के क्षेत्र में अजन्ता विकास की चरम अवस्था को दर्शाता है। अजन्ता की गुफा संख्या-16, 17 एवं 19 जो गुप्त काल से सम्बद्ध हैं, चित्रकला के क्षेत्र में क्लासिकल मानदण्ड को प्रदर्शित करती हैं। अजन्ता कला को विभिन्न राजवंशों का संरक्षण मिला; यथा-शुंग वंश, कुषाण वंश, सातवाहन, गुप्त, चालुक्य वंश आदि। फिर भी अजन्ता की कला केवल राजकीय दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति नहीं है। इसके विकास में जनसामान्य की भी अहम भूमिका रही है। साधु, संन्यासी, तपस्वी, स्वतंत्र कलाकार सभी ने इसमें अपना योगदान दिया। इसलिए अजन्ता के चित्रों में विविधता है। इसमें ग्रामीण जीवन से लेकर नगरीय जीवन, सभी की अभिव्यक्ति है। भारतीय कला के इतिहास में इसका महत्व इस बात में भी निहित है कि इसने पूर्वी एशिया की कला पर भी अपनी छाप छोड़ी।

प्रश्न- एलोरा न केवल भारतीय संस्कृति की महान धरोहर है, बल्कि यह धार्मिक समन्वय का भी एक अनुपम उदाहरण है। इस कथन पर टिप्पणी कीजिए।

एलोरा			**पंथ**		
स्थापत्य	मूर्तिकला	चित्रकला	ब्राह्मण	बौद्ध	जैन

एलोरा के अध्ययन के बिना भारतीय कला का इतिहास अधूरा रह जाएगा। यह अजन्ता से लगभग 50 किमी. दूर स्थित है और यहाँ से 34 गुफाएँ मिली हैं। इन गुफाओं की विलक्षणता इस बात में है कि ये गुफायें ब्राह्मण, बौद्ध एवं जैन तीनों धार्मिक पंथों से सम्बद्ध हैं। भारत में ऐसे बहुत कम केन्द्र हैं जहाँ धार्मिक समरसता का ऐसा बेहतरीन उदाहरण मिलता है। मथुरा के बाद एलोरा ऐसा ही एक महत्वपूर्ण केन्द्र है।

एलोरा, कला की भिन्न शैलियों के विकास को दर्शाता है। पहली शैली है- स्थापत्य कला। एलोरा में निर्मित गुफाएँ स्थापत्य कला के विकास का प्रमाण हैं। यह गुफा वास्तुकला का विकसित रूप है जिसका आरम्भिक साक्ष्य हमें अशोककालीन गुफा के रूप में देखने को मिलता है।

एलोरा से मूर्तिकला और चित्रकला, दोनों के साक्ष्य भी मिलते हैं। यहाँ से ब्राह्मण देवता, बुद्ध एवं तीर्थंकर सभी की मूर्तियाँ प्राप्त होती हैं। इन मूर्तियों पर सारनाथ कला का प्रभाव देखा जा सकता है।

एलोरा की चित्रकला पर अजन्ता के चित्रकला का प्रभाव देखा जा सकता है, परन्तु एलोरा के चित्रों में भावों की वह गहराई नहीं है, जो हम अजन्ता में पाते हैं।

एलोरा की कलाकृतियों का अध्ययन करते हुए हम पाते हैं कि विभिन्न धार्मिक पंथों के द्वारा जो मूर्तिकला एवं चित्रकला विकसित की गई है उसमें अभिव्यक्ति की समानता है। भले ही धार्मिक विश्वास अलग-अलग हों, परन्तु कला संबंधी दृष्टि एक है। इसलिए एलोरा, 'विविधता में एकता' का ज्वलंत उदाहरण बन जाता है।

KHAN GLOBAL STUDIES
Most Trusted Learning Platform
KHAN SIR

नृत्य कला

भारत में नृत्य कला के विकास का लगभग 2500 वर्षों का इतिहास रहा है। गंधर्व वेद में हमें नृत्य कला का आरम्भिक साक्ष्य मिलता है। परंपरा के अनुसार, भारत के प्रथम नर्तक नटराज शिव हैं। उनसे नृत्य की दो आरम्भिक शैलियाँ विकसित हुईं। प्रथम शैली थी- **तांडव**, जो उग्र तथा संहार से संबंधित नृत्य है। इसमें शिव का आक्रोश व्यक्त होता है। इस नृत्य को सम्पन्न करते हुए शिव के दायें हाथ में डमरू और बायें हाथ में अग्नि होती है। इसी अवस्था में उन्होंने कामदेव को भस्म कर दिया था। वर्तमान में कत्थक शास्त्रीय नृत्य पर हमें शिव के तांडव का प्रभाव दिखता है।

किंतु शिव का एक सौम्य रूप भी है। कई बार एक ही मूर्ति में रौद्र एवं सौम्य रूप, दोनों को दर्शाया जाता है। उनके सौम्य रूप से एक दूसरा नृत्य जुड़ा हुआ है, जिसे **लास्य** नृत्य के नाम से जाना जाता है। वर्तमान में शास्त्रीय नृत्य की जितनी भी शैलियाँ हैं, उन पर तांडव और लास्य दोनों का प्रभाव देखा जा सकता है।

नृत्य दो प्रकार के होते हैं- **शास्त्रीय नृत्य और लोक नृत्य**। अगर हम शास्त्रीय नृत्य पर दृष्टिपात करते हैं तो उनकी संख्या आधा दर्जन से अधिक है, किंतु इनका मौलिक आधार एक है और वह है भरत का नाट्यशास्त्र (ईसा की आरम्भिक शताब्दियाँ)। उसी प्रकार, इन नृत्यों में कथायें भी समान पृष्ठभूमि से ली गई हैं और वे हैं रामायण, महाभारत, कुरान, गीत गोविन्द आदि। इसलिए कुछ ऊपरी स्तर की विविधता के बावजूद भी भारतीय संस्कृति की एकता की बात की जाती है।

प्रश्न- आरम्भिक भारतीय शिलालेखों में अंकित 'ताण्डव' नृत्य की विवेचना कीजिए। (100 शब्द, UPSC-2013)

उत्तर- 'तांडव' नृत्य सृजन एवं विध्वंश की ब्रह्माण्डीय व्यवस्था तथा जीवन एवं मृत्यु की गति को प्रतिबिम्बित करता है। परंपरा के अनुसार भारत के प्रथम नर्तक नटराज शिव हैं। उनसे नृत्य की दो आरंभिक शैलियाँ विकसित हुईं- तांडव एवं लास्य। तांडव नृत्य के विषय में सूचना हमें पौराणिक कथाओं के साथ-साथ प्राचीन शिलालेखों एवं मंदिरों में स्थापित मूर्तियों से मिलती है।

'तांडव' नृत्य में शिव का आक्रोश व्यक्त होता है। चूँकि यह आक्रोश एवं संहार का नृत्य है, अतः नृत्य को संपन्न करते हुए शिव के दाएँ हाथ में डमरू तथा बाएँ हाथ में अग्नि होती है। नृत्य के मध्य उनका तृतीय नेत्र भी खुल जाता है। बताया जाता है कि इसी अवस्था में उन्होंने कामदेव को भस्म कर दिया था। वर्तमान में कत्थक शास्त्रीय नृत्य पर हमें शिव के तांडव का प्रभाव दिखता है।

■ भरतनाट्यम

भरतनाट्यम, तमिलनाडु का नृत्य नाट्य है, जो इस प्रदेश के तंजौर तथा तिरूनेलवेली जिलों में शताब्दियों से प्रचलित रहा है। इस नृत्य के हाव-भाव एवं मुद्राएं दक्षिण भारत की कांस्य मूर्तियों से मिलती-जुलती हैं। यह नृत्य आरंभ में देवदासियों के द्वारा मंदिरों में किया जाता था। इसलिए भरतनाट्यम को **देवदासी अट्टम** भी कहा जाता है। यह धार्मिक नृत्य है जिसकी कथा प्रायः कृष्ण लीला, रामायण तथा अन्य धार्मिक ग्रंथों से ली जाती है। जैसा कि नाम से ही विदित होता है इसकी शास्त्रीय शैली तथा शब्दावली भरत मुनि के नाट्यशास्त्र से ली गयी है। इसके तहत संगीत का संचालन नृत्यांगना के गुरू के द्वारा किया जाता है, किंतु अब यह नृत्य पुरूष के द्वारा भी किया जाने लगा है। पिछले 40 वर्षों में भरतनाट्यम को विश्वभर में प्रसिद्धि मिली है। इसके मुख्य कलाकारों में श्रीमती बालसरस्वती, रूक्मणी देवी, यामिनी कृष्णमूर्ति, रामगोपाल, वैजयन्तिमाला तथा सोनल मानसिंह हैं।

■ कथकली

कथकली केरल प्रदेश के मालाबार क्षेत्र का नृत्य है। कथकली का अर्थ है कहानी का प्रदर्शन। कथकली को वर्तमान रूप देने का श्रेय त्रावणकोर के महाराज वीर केरल वर्मा को है। उन्होंने 17वीं सदी में अनेक रचनाएं लोकभाषा मलयालम में लिखीं और यह नृत्य-नाट्य उन्हीं रचनाओं पर आधारित है। इस नृत्य की परंपरा लगभग 2000 वर्ष पुरानी है। कथकली की विषयवस्तु रामायण, महाभारत तथा शैव साहित्य की कथाओं से ली जाती है।

यह नृत्य खुले में किया जाता है तथा सारी रात चलता है। प्रदर्शन के दौरान कथावचक, कथा कहते हैं जिसका मुख्य अभिनय नर्तक केवल मुद्राओं द्वारा करते हैं। कथकली में नर्तक चुप रहता है क्योंकि उसके लिए बोलना या गाना वर्जित है। पारम्परिक रूप में कथकली केवल पुरूषों एवं नवयुवकों के द्वारा किया जाता है, जो स्त्रियों की भूमिका निभाते हैं। इस नृत्य में लड़कियों और स्त्रियों को भाग लेने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि यह नृत्य कठिन है। प्रत्येक कथकली नर्तक को तांडव तथा लास्य शैली में निपुणता होनी चाहिए। फिर अद्भुत रूप सज्जा एवं विचित्र वेशभूषा इस नृत्य की प्रमुख विशेषता है। मुख का अलंकरण इस नृत्य की मुख्य विशेषता है। मुख पर लाल, हरे, काले या पीले रंग का लेप किया जाता है एवं आँखों के चारों ओर सफेद रंग की रेखाएं खींची जाती हैं। वर्तमान युग में कथकली के सबसे प्रसिद्ध एवं महान कलाकार कुंजु कुरूप हैं।

■ **कत्थक**

कत्थक, उत्तर भारत का मुख्य शास्त्रीय नृत्य है, जिसका विकास भारतीय संस्कृति पर मुगलों के प्रभाव से हुआ। इस शास्त्रीय नृत्य शैली को मुख्य प्रेरणा मथुरा और वृंदावन के मंदिरो में होने वाली पारंपरिक कृष्ण और राधा की लीलाओं से प्राप्त हुई। आगे फिर अवध के नवाब के दरबार में इस नृत्य का विकास हुआ।

जैसाकि नाम से प्रसिद्ध है- 'कथा कहे सो कत्थक कहलाए।' कत्थक नृत्य का आरंभ भागवत पुराण की कथाओं से हुआ। यह नृत्य प्रायः राधा-कृष्ण के प्रेम पर आधारित है। इसलिए इसे 'नटवरी' कहते हैं। लास्य एवं तांडव दोनों भाव होने के कारण यह नृत्य स्त्रियों एवं पुरूषों दोनों में लोकप्रिय हैं। इस नृत्य में पुरूष और स्त्री दोनों भाग लेते हैं, इसलिए इसका जनजीवन से निकट संबंध रहा है। कत्थक नृत्य की वेशभूषा पर मुगलों का प्रभाव स्पष्ट दिखायी देता है। वर्तमान में कत्थक के तीन घराने हैं- लखनऊ घराना, जयपुर घराना तथा बनारस घराना। लखनऊ घराने के अच्छन जी महाराज, शम्भू महाराज तथा लच्छू महाराज अभिनय के सम्राट माने जाते हैं, किंतु वर्तमान में बिरजू महाराज कत्थक नृत्य के महानतम कलाकार रहे हैं, जिनका 17 जनवरी, 2022 को निधन हो गया।

■ **मणिपुरी**

मणिपुरी देश के उत्तरी-पूर्वी क्षेत्र में स्थित मणिपुर राज्य का एक संवेदनशील नृत्य है। इसका विकास लगभग 2500 वर्ष पूर्व हुआ तथा यह भरत के नाट्यशास्त्र पर आधारित है। इस नृत्य की कथावस्तु सामान्यतः राधा-कृष्ण एवं गोपियों के जीवन से ली गयी है। आगे इस पर शैव तथा वैष्णव विचारधाराओं का भी प्रभाव देखा गया। इस नृत्य के भी दो पक्ष हैं- लास्य तथा तांडव। नृत्य में जयदेव, चैतन्य तथा विद्यापति की रचनाएं भी गायी जाती हैं। रासलीला को मणिपुरी की आत्मा कहते हैं। मणिपुरी नृत्य की महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि इसे एकल, युगल तथा समूह, सभी प्रकार से किया जा सकता है। मणिपुरी नर्तकों की वेशभूषा भी विचित्र है। वेशभूषा में नृत्यांगना लम्बा-चमकीला घाघरा पहनती है जिसके फैलाव के लिए नीचे गत्ता लगा होता है। फिर उस पर गोल-गोल शीशे के टुकड़े लगे होते हैं। इस नृत्य शैली को प्रतिष्ठित करने तथा लोकप्रिय बनाने का श्रेय महाकवि रवीन्द्रनाथ टैगोर को है। इसे विश्व प्रसिद्ध बनाने में श्री उदयशंकर का भी बहुत बड़ा योगदान रहा है। वर्तमान कलाकरों में नैनाजवेरी तथा उसकी बहनें मणिपुरी नृत्य की महान कलाकार मानी जाती हैं।

■ **ओडिसी**

ओडिसी नृत्य, उड़ीसा का 2000 वर्ष पुराना नृत्य है तथा यह भी भरत के नाट्यशास्त्र पर आधारित है। प्रारंभ में इसका विकास मंदिरों में हुआ, परंतु बाद में यह नृत्य दरबारों में किया जाने लगा। यह भुवनेश्वर, कोणार्क तथा पुरी के मंदिरों में प्रचलित रहा है तथा इनकी दीवारों पर भी यह नृत्य अंकित है। यह नृत्य मूलतः भरतनाट्यम से ही जुड़ा हुआ है। संजुक्ता पाणिग्रही, सोनल मानसिंह, माधुरी मुद्गल इस नृत्य शैली के प्रसिद्ध कलाकार हैं।

■ **कुचिपुड़ी**

यह नृत्य-नाट्य आंध्रप्रदेश के कुचिपुड़ी गाँव का है जिसकी विषय-वस्तु रामायण, महाभारत आदि महाकाव्यों से ली जाती है। इसका आरंभ सिद्धयेन्द्र योगी ने किया। उन्होंने ही इस कला का सर्वप्रथम प्रशिक्षण कुचिपुड़ी ब्राह्मण बालकों को दिया। इस नृत्य के कार्यक्रम का आरंभ पूजा अनुष्ठान से किया जाता है।

■ **अन्य शास्त्रीय शैलियाँ**

इनमें भगवत मेला, मोहिनीअट्टम तथा कुरुवंकी प्रसिद्ध है। भगवत मेला तमिलनाडु प्रदेश के मेल्लाट्टूर गाँव में हर वर्ष नरसिंह जयंती के अवसर पर मनाया जाता है।

मोहिनीअट्टम हिंदू पौराणिक कथाओं पर आधारित है जिसमें मोहिनी, शिव को आकर्षित करने के लिए मोहिनी विमोहक की भूमिका निभाती है। मोहिनीअट्टम, भरतनाट्यम तथा कथकली का मिश्रण है जिसमें कर्नाटक संगीत के साथ-साथ मलयालम गीतों का प्रयोग होता है। इस नृत्य में स्वर्गीय चिन्नामु अम्मा तथा कल्याणी कुट्टी अम्मा ने काफी प्रसिद्धि अर्जित की है। उसी प्रकार, **कृष्णा अट्टम** केरल प्रदेश का एक सुंदर नृत्य है। कुरूवंकी तमिलनाडु की प्रचलित लयमायी नृत्य नाटिका है जिसमें 4 से 8 स्त्रियाँ भाग लेती हैं। यह नृत्य भारतीय नृत्य की लोक तथा शास्त्रीय शैलियों का मिश्रण है।

■ **असम का सत्रीया नृत्य**

असमिया भाषा में सत्रस, मठ या विहार को कहते हैं। पारंपरिक रूप में यह नृत्य मठों और विहारों में किया जाता था। इस नृत्य की रचना असम के महान वैष्णव संत शंकर देव ने 15वीं शताब्दी में की। लगभग 500 वर्षो तक सत्रीया नृत्य मठों तथा विहारों की सीमाओं में बंद था, परंतु हाल ही में सत्रीया नृत्य भारतीय शास्त्रीय नृत्य के रूप में स्वीकार किया गया है और यह नृत्य मंच पर प्रस्तुत किया जाने लगा है।

■ **यक्षगान**

कर्नाटक में प्रचलित यह मूलतः ग्रामीण प्रकृति का नृत्य है, जो नृत्य और नाट्य का मिश्रण है। इसकी आत्मा 'गान' अर्थात् संगीत है। लगभग 400 वर्षो से प्रचलित इस नृत्य के विषय हिन्दू महाकालों से संबंधित होते हैं। इसकी भाषा कन्नड़ है, परन्तु वेशभूषा कथकली के समान होती है। इसमें भी विदूषक तथा सूत्रधार मुख्य भूमिका निभाते हैं।

संगीत कला

■ प्राचीन काल

भारत में संगीत के विकास का एक लंबा इतिहास रहा है। सर्वप्रथम वैदिक काल में एक गंधर्व वेद की चर्चा मिलती है, जिसमें संगीत एवं नृत्य का वर्णन है। उससे पूर्व सामवेद को भी संगीत पर एक महत्वपूर्ण ग्रंथ माना गया है। फिर आगे ईसा की आरंभिक शताब्दियों में भरत के द्वारा नाट्यशास्त्र लिखा गया। यह संगीत, नृत्य और नाट्य तीनों कलाओं पर प्रकाश डालता है।

प्राचीन काल के भारतीय शासकों में समुद्रगुप्त के विषय में यह बताया जाता है कि उसे संगीत में विशेष रुचि थी, क्योंकि उसके एक सिक्के पर उसे वीणा बजाते हुए दिखाया गया है। आगे एक परमार शासक भोज ने संगीत को विशेष संरक्षण दिया। उसी प्रकार, पूर्व मध्यकाल में कुछ अन्य राजपूत शासकों के द्वारा भी संगीत को प्रोत्साहन दिया गया था। इसके परिणामस्वरूप भारत में शास्त्रीय संगीत का विकास हुआ। भारतीय संगीत की उत्पत्ति ब्रह्मा से बताई जाती है तथा महादेव ने भारतीय संगीत को स्थायित्व दिया। भारतीय शास्त्रीय संगीत में 6 राग तथा 30 रागनियों का जिक्र मिलता है। ये 6 राग इस प्रकार हैं- भैरवी, हिंडोला, मेघ, श्रीराग, दीपक, मालकोश।

भारतीय संगीत परंपरा क्रमबद्ध रूप में विकसित होती रही। भारत में लगभग तीन महत्वपूर्ण विद्वानों के द्वारा संगीत पर ऐसे ग्रंथ लिखे गए, जिन्हें 'संगीत रत्नाकर' के नाम से जाना गया। ये विद्वान थे- भोज परमार, चालुक्य शासक सोमेश्वर तथा यादव दरबार में सारंगदेव।

दक्षिण में अलवार और नयनार संतों ने अपने ढंग से संगीत को प्रोत्साहन दिया। इन्होंने ईश्वर के साथ अपने भावनात्मक लगाव दर्शाए तथा उन्हें अपने गीतों के माध्यम से व्यक्त किया। आगे इन संतों की वाणी को आधार बनाते हुए 15वीं सदी में दक्षिण भारत के एक महत्वपूर्ण संत ने कर्नाटक संगीत को औपचारिक रूप में स्थापित किया।

■■■

प्राचीन भारत में विज्ञान एवं तकनीकी का विकास
(Development of Science & Technology in Ancient India)

यह मानना उचित नहीं है कि प्राचीन भारत के लोग परलोक के चिन्तन में ही उलझे रहे थे तथा उन्होंने इस संसार के प्रति तिरस्कार का भाव रखा। हमारा ध्यान केवल बुद्ध, महावीर एवं शंकराचार्य जैसे धर्माचार्यों पर नहीं हो, अपितु आर्यभट्ट, ब्रह्मगुप्त एवं चरक जैसे वैज्ञानिक चिन्तकों पर भी रहे। फिर हमें ज्ञात होगा कि सांसारिक-भौतिक जगत में प्राचीन भारत के लोगों ने कितनी व्यापक उपलब्धियाँ हासिल की थीं।

■ **गणित**- गणित के क्षेत्र में प्राचीन काल के भारतीयों की तीन विशिष्ट उपलब्धियाँ हैं– अंकन पद्धति, दशमलव पद्धति और शून्य का प्रयोग।

- गणित के क्षेत्र में यूरोपीय लोगों ने **अंकमाला** का ज्ञान भारत से ही प्राप्त किया था। इसका प्रयोग अशोक के अभिलेखों में पाया गया है जो ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी का है।
- भारतीयों ने **'शून्य'** का आविष्कार ईसा पूर्व दूसरी सदी में किया। शून्य का प्रयोग केवल प्राचीन भारत के लोग ही करना जानते थे। प्राचीन यूरोप के लोगों को यह ज्ञान नहीं था।
- इसी तरह, **दशमलव पद्धति** का प्रयोग सबसे पहले भारतीयों ने किया। प्रख्यात गणितज्ञ आर्यभट्ट इससे परिचित थे। चीनी लोगों ने यह पद्धति बौद्ध धर्म प्रचारकों से सीखी।
- हड़प्पा सभ्यता की ईंटों को देखने से ही पता चलता है कि पश्चिमोत्तर भारत के लोगों को मापन एवं **ज्यामिति** का अच्छा ज्ञान था। बाद में वैदिक लोगों ने इस ज्ञान से लाभ उठाया होगा, जो ईसा पूर्व की पाँचवीं सदी के आस-पास **शुल्व सूत्र** में दिखाई देता है।
- भारतीय गणितज्ञों ने **वर्गमूल एवं घनमूल** की प्रणालियों को भी विकसित किया।
- आर्यभट्ट ने **त्रिकोणमिति** का विकास किया था।
- उसी तरह, **बीजगणित** में भारतीयों तथा यूनानियों, दोनों का योगदान रहा, परन्तु पश्चिम यूरोप में इसका ज्ञान यूनान से नहीं, बल्कि अरब से मिला जो भारत से प्राप्त था।
- ब्रह्मगुप्त एवं भाष्कराचार्य ने भी गणित के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया था। ब्रह्मगुप्त ने **ऋणात्मक अंकों का प्रयोग** शुरू किया।

■ **खगोलशास्त्र**- प्राचीन काल में धर्म और विज्ञान एक-दूसरे से जुड़े हुए थे। ग्रहों को देवता समझा जाता था। यही वजह है कि प्राचीन काल से ही ग्रहों के अवलोकन में भारतीयों की रूचि थी। ग्रहों का अध्ययन इसलिये भी आवश्यक था क्योंकि उनका सम्बन्ध ऋतुओं एवं मौसम से था और इन परिवर्तनों की जानकारी विकसित हो रही कृषि अर्थव्यवस्था के लिये आवश्यक थी।

- प्राचीन काल में खगोलशास्त्र में आर्यभट्ट और वराहमिहिर दो महान विद्वान हुए। आर्यभट्ट ने चन्द्रग्रहण एवं सूर्यग्रहण जैसी खगोलीय घटना का पता लगाया। उन्होंने अनुमान के आधार पर पृथ्वी की परिधि का मान निकाला जो आज भी कुछ परिवर्तनों के साथा शुद्ध माना जाता है। उन्होंने बताया कि सूर्य स्थिर है, परंतु पृथ्वी घूमती है। आर्यभट्ट ने अपने इस सिद्धांत को अपनी पुस्तक 'आर्यभट्टीयम्' में स्थान दिया है।
- वराहमिहिर की सुविख्यात कृति वृहद्संहिता छठी सदी में लिखी गई। वराहमिहिर ने बताया कि चन्द्र, पृथ्वी का चक्कर लगाता है।
- एक अन्य खगोलशास्त्री ब्रह्मगुप्त भी था, जिसने 'ब्रह्मसिद्धांत' नामक पुस्तक की रचना की।

■ **भौतिक शास्त्र**- प्राचीन भारत में भौतिक शास्त्र धर्मों और धार्मिक सिद्धांत से प्रभावित था। भौतिक शास्त्र की मान्यतायें एवं परिभाषायें भी सम्प्रदायगत थीं, जो एक-दूसरे से भिन्न थीं। फिर भी, लगभग समस्त धर्मो का मानना था कि इस पृथ्वी का निर्माण पंच तत्वों से हुआ है- पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु एवं आकाश। अधिकांश धार्मिक सम्प्रदायों की मान्यता थी कि जितने तत्व हैं, उतने ही प्रकार के परमाणु हैं। परमाणु मिलकर अणु का निर्माण करते हैं। इन अणुओं को वैशेषिक दर्शन तो अनीश्वर मानते हैं, जबकि बौद्ध उन्हें प्रकृति का एक अंग मानते हैं जो चक्र के रूप में प्रकट होते हैं, फिर गायब हो जाते हैं। इस प्रकार, वैशेषिक दर्शन के द्वारा परमाणु सिद्धान्त पर बल दिया गया।

■ **रसायन शास्त्र**- रसायन शास्त्र के क्षेत्र में भी प्राचीन भारत के लोग काफी विकसित रहे थे।

- वैदिक आर्यो द्वारा पशुओं की खाल एवं चमड़े से विभिन्न प्रकार की वस्तुओं का निर्माण करना संभव था।
- चरक संहिता एवं सुश्रुत संहिता में विभिन्न वनस्पतियों के रसों से औषधि बनाए जाने की सूचना मिलती है। इसलिए यह औषधिशास्त्र के साथ-साथ चिकित्साशास्त्र पर ग्रंथ है।
- फिर, रसायनशास्त्र के क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण उपलब्धि मानी जा सकती है विभिन्न प्रकार के रंगों का विकास। प्राचीन भारत के लोगों को नीले रंग के साथ-साथ टिकाऊ रंग (Lasting Colour) का भी ज्ञान था। अजन्ता के मनमोहक चित्रों पर आज तक चमक विद्यमान है।

■ **औषधि या चिकित्सा शास्त्र**

- अथर्ववेद, चिकित्सा शास्त्र पर एक महत्वपूर्ण ग्रंथ है। इसमें अतिसार, ज्वर, जलोदर इत्यादि रोग तथा उसके निदान की चर्चा मिलती है।
- मगध सम्राट बिम्बिसार के राजवैद्य जीवक का चिकित्सा के क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान रहा था।
- ईसा की दूसरी सदी में दो महान चिकित्सक सुश्रुत और चरक थे। इन्होंने क्रमशः सुश्रुत संहिता एवं चरक संहिता नामक ग्रंथों की रचना की। शल्य चिकित्सा के विकास का श्रेय सुश्रुत को दिया जाता है। चरक संहिता को भारतीय 'चिकित्सा शास्त्र का विश्वकोष' माना जाता है। इन ग्रंथों से कई प्रकार की बीमारियों, जिसमें छूत की बीमारी भी शामिल है, के साथ-साथ औषधियों की भी जानकारी मिलती है।
- आगे गुप्तकाल में चिकित्सा के क्षेत्र में धन्वंतरि एवं भागवत जैसे चिकित्सकों के योगदान महत्वपूर्ण हैं।
- गुप्तकाल में पशु विज्ञान पर एक ग्रंथ 'हस्तायुर्वेद' की रचना हुई। उसी प्रकार, औषधिशास्त्र पर एक 'नवनीतकम्' नामक ग्रंथ लिखा गया।

■ **प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में विकास**

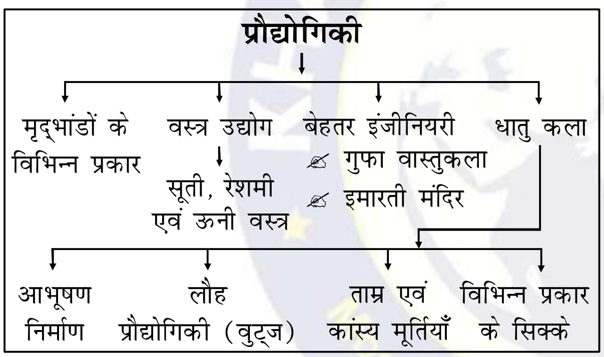

- **मृद्भांडों के विभिन्न प्रकार**- प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में प्राचीन भारत के लोग पीछे नहीं थे। नवपाषाण काल से ही मृद्भांडों (Potteries) का निर्माण आरंभ हो गया था। फिर हड़प्पा तथा विभिन्न ताम्रपाषाण कालिक संस्कृतियों में मृद्भांडों का निर्माण व्यापक रूप में देखा जा सकता है; यथा- काले एवं लाल मृद्भांड, चित्रित धूसर मृद्भांड, गैरिक मृद्भांड उत्तरी काले पॉलिशदार मृद्भांड। इनमें उत्तरी काले पॉलिशदार मृद्भांड (NBPW) बहुत ही बेहतरीन प्रकार का मृद्भांड था। विशेषकर मालवा संस्कृति तो मृद्भांडों की विशेषता के लिये ही जानी जाती है।
- **वस्त्र उद्योग**- प्राचीन काल के लोग वस्त्र बनाने में सूत, रेशम तथा ऊन आदि का प्रयोग करते थे। ऋग्वेद में उल्लेख है कि गान्धार तथा सिंध प्रदेश में सुंदर ऊनी वस्त्र का उत्पादन होता था। मौर्य काल में वस्त्र निर्माण एक महत्वपूर्ण उद्योग था। अर्थशास्त्र के अनुसार कपास के अतिरिक्त वस्त्र निर्माण के लिए ऊन एवं रेशम का भी उपयोग होता था। फिर मौर्योत्तर काल में मथुरा एक विशेष प्रकार के वस्त्र 'शाटक' के उत्पादन के लिए प्रसिद्ध था। अजन्ता की गुफाओं में बने चित्रों में बेहतर किस्म के वस्त्र प्रयोग का साक्ष्य मिलता है।
- **विकसित इंजीनियरी तकनीकी**- इंजीनियरी तकनीकी में प्राचीन भारत के लोग काफी आगे थे। उनके द्वारा निर्मित बेहतर किस्म के चैत्य, विहार एवं मंदिर विकसित इंजीनियरी तकनीकी की सूचना देते हैं। पहाड़ों को काटकर गुफा बनाये जाने की जो तकनीकी मौर्यों के अधीन विकसित हुई, उसकी पराकाष्ठा हम एलोरा स्थित कैलाश मंदिर में देखते हैं। उसी प्रकार, स्वतन्त्र रूप से बनाए गए मन्दिर की एक अद्भुत तकनीकी का उदाहरण चोलकालीन वृहदेश्वर मंदिर में देखने को मिलता है।
- **आभूषण निर्माण**- पाषाण काल से ही लोग आभूषण का प्रयोग करने लगे थे। 'महादहा' नामक स्थल से प्राप्त पशुओं के सींग से निर्मित कंठाहार इसका प्रमाण है। फिर हड़प्पा काल में आभूषण के रूप में बेहतरीन किस्म के मनके बनाये जाते थे। आगे गुप्तकाल में जेवरात तथा आभूषणों का निर्माण भी महत्वपूर्ण शिल्पों में शामिल था। वात्स्यायन के कामसूत्र में भी आभूषण निर्माण को 64 कलाओं में शामिल किया गया है।
- **लौह प्रौद्योगिकी**- लौह एवं इस्पात उद्योग में भारतीय काफी आगे थे। भारतीय इस्पात पूरी दुनिया में बेजोड़ माना जाता था। इसे 'वुट्ज' के नाम से जाना जाता था। आगे मौर्य, मौर्योत्तर तथा गुप्त काल तक आते-आते धातु कला ने अपनी उत्कृष्टता को और भी सिद्ध कर दिया। गुप्तकाल में निर्मित मेहरौली (दिल्ली) स्थित लौह स्तंभ अपनी मजबूती तथा सुंदरता के लिये विख्यात है। यह स्मरणीय है कि भारत की तलवार का विश्व में कोई जवाब नहीं था।
- **ताम्र एवं कांस्य प्रौद्योगिकी**- ताम्र एवं कांस्य प्रगलन विधि का विकास भी प्राचीन भारतीय प्रौद्योगिकी विकास के उच्च स्तर को दर्शाता है। हड़प्पा सभ्यता के लोगों ने ताँबे और टिन को मिलाकर काँसा बनाने की तकनीकी सीख ली थी। मोहनजोदड़ो से प्राप्त काँसे से निर्मित एक नाचती हुई लड़की की मूर्ति विशेष रूप से उल्लेखनीय है। यह द्रवी मोम विधि के द्वारा बनायी गयी थी। आगे, गुप्तकाल में बिहार के सुल्तानगंज से प्राप्त बुद्ध की एक टन की काँस्य मूर्ति प्राचीन धातुकर्म का एक अनूठा उदाहरण है।
- **विभिन्न प्रकार के सिक्कों का निर्माण**- विभिन्न आकृति की मुद्रा प्राचीन काल में धातु तकनीकी की श्रेष्ठता साबित करती है। प्राचीन भारत में नियमित रूप में सिक्कों का निर्माण लगभग पाँचवीं शताब्दी ई.पू. में आहत सिक्कों के निर्माण के साथ आरंभ हुआ। ये सिक्के चाँदी अथवा ताँबे या चाँदी एवं ताँबे जैसी मिश्रित धातु से निर्मित होते थे। इन सिक्कों पर विभिन्न प्रकार के चित्र उकेरे जाते थे। आगे सिक्कों के निर्माण

में कलात्मक निपुणता गुप्तकालीन सिक्कों में देखने को मिलती है। इस काल में सिक्कों के निर्माण में बेहतरीन टंकन पद्धति देखने को मिलती है। सिक्कों पर शासक एवं विभिन्न देवताओं के चित्र उकेरे जाते थे। गुप्तकालीन मूर्तिकला एवं चित्रकला में जो उत्कृष्टता देखने को मिलती है, वह गुप्तकालीन सिक्कों पर बने चित्रों में भी उभरकर आती है। चन्द्रगुप्त प्रथम के 'सम्राट एवं साम्राज्ञी' कोटि के सिक्कों के पृष्ठ भाग में सिंह पर बैठी दुर्गा का चित्र है। समुद्रगुप्त के द्वारा जारी किए गए विभिन्न प्रकार के सिक्कों में अश्वेमध प्रकार, व्याघ्र प्रकार एवं वीणा-वादन प्रकार के सिक्के महत्वपूर्ण हैं। उसी प्रकार, चंद्रगुप्त द्वितीय के धनुर्धर प्रकार के सिक्के तथा कुमारगुप्त प्रथम के सिक्कों पर कमल पर बैठी हुई लक्ष्मी का चित्र उत्कृष्ट कला के उदाहरण हैं।

अभ्यास प्रश्न-

1. *'विज्ञान के क्षेत्र में भी प्राचीन भारत के लोगों की उपलब्धियाँ अतुलनीय रही हैं।' इस कथन का परीक्षण कीजिए।*
2. *प्राचीन भारत के लोगों की प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में महत्वपूर्ण उपलब्धियों पर प्रकाश डालिए।*
3. *अशोक के द्वारा निर्मित गुफाएँ स्थापत्य कला के इतिहास में मील का पत्थर सिद्ध हुईं। टिप्पणी कीजिए।*

KHAN GLOBAL STUDIES
Most Trusted Learning Platform
KHAN SIR

प्राचीन भारत के अध्ययन के स्रोत

- पुरातात्विक साक्ष्य
  - अभिलेख
  - सिक्के
  - विभिन्न कला रूप- अध्ययन स्रोत के रूप में अधिक प्रामाणिक क्योंकि इसमें फेरबदल करने की गुंजाइश बहुत कम।
- साहित्यिक साक्ष्य — प्रचुरता से जानकारी प्रदान करना, परन्तु विचार को सावधानी से अपनाने की जरूरत।
  - देशी साहित्य
  - विदेशी साहित्य —
    - भारतीय इतिहास के कुछ कालों की जानकारी इनके माध्यम से ही संभव। उदाहरण के लिए, चौथी सदी ई. पू. में उत्तर-पश्चिम भारत का इतिहास।
    - देशी लेखकों की तुलना में ये जाति एवं क्षेत्रीय पूर्वाग्रह से मुक्त होकर लिखते थे।
    - यूनानी एवं रोमन लेखक
      - सिकन्दर के इतिहासकार
        - नियार्कस
        - अरिस्टोबुलस
        - अनासिक्रिटिज, मेगस्थनीज
      - रोमन लेखक (ईसा की आरम्भिक सदी)-
        - स्ट्रैबो, टॉलेमी, डायोडोरस, एरियन
    - चीनी लेखक
      - फाह्यान (गुप्तकाल चौथी सदी)- पाटलिपुत्र एवं मध्यदेश
      - ह्वेनसांग
    - अरबी लेखक
      - सुलेमान
      - अल-मसूदी
      - अलबरुनी

पुरातात्विक स्रोत

प्राचीन भारत के इतिहास के अध्ययन के लिये पुरातात्विक साक्ष्यों का अपना महत्त्व है। पुरातात्विक स्रोत कहीं-कहीं पर स्वतंत्र रूप से, तो कहीं-कहीं साहित्यिक स्रोत के पूरक के रूप में अध्ययन को सरल बनाते हैं, खासकर ऐसे काल में जिसका साहित्यिक साक्ष्य अस्पष्ट और भ्रामक होता है। पुरातात्विक साक्ष्यों में अभिलेख, सिक्के, स्मारक तथा भवन, मूर्तियाँ, चित्रकला एवं अन्य अवशेषों को रखा जा सकता है।

■ अभिलेख

पुरातात्विक स्रोतों में **अभिलेख** सर्वाधिक महत्त्व का है। प्राचीन भारत में अधिकांश अभिलेख मुहरों, प्रस्तर स्तंभों, स्तूपों, चट्टानों, ताम्रपत्रों, मंदिर की दीवारों, मूर्तियों या ईंटों पर मिलते हैं। अभिलेखों के अध्ययन की सबसे बड़ी विशेषता होती है कि इनकी लिखावट में छेड़छाड़ की गुंजाइश कम रहती है। अत: अध्ययन स्रोत के रूप में इसे सबसे प्रामाणिक माना जाता है। भारत में ज्ञात सबसे प्राचीन अभिलेख अशोक के हैं। ये अभिलेख बहुधा प्रस्तर स्तंभों या शिलाओं पर खुदे हुए हैं तथा साम्राज्य के कोने-कोने तक विस्तृत हैं। इस अभिलेख से अशोक के शासनकाल, उसके शासन की प्रकृति तथा प्रशासन के स्वरूप पर इतना प्रकाश पड़ता है कि उसे प्राप्त साहित्यिक स्रोतों से मिलाकर पढ़ने पर मौर्य काल को समझने में दिक्कत नहीं आती। अशोक के मास्की तथा गुर्जरा जैसे अभिलेखों के माध्यम से ही उसके नाम का पता चल पाया है।

इसके अलावा, ताम्र-पत्र पर अंकित भूमि अनुदान-पत्र, मंदिरों तथा मूर्तियों पर उत्कीर्ण निजी अभिलेख भी पाये गये हैं। इससे तत्कालीन भारत की सामाजिक, राजनीतिक व आर्थिक व्यवस्था पर काफी प्रकाश पड़ता है। इसके अतिरिक्त, कलिंग के शासक खारवेल का हाथीगुम्फा अभिलेख, रूद्रदामन का जूनागढ़ अभिलेख आदि भारतीय इतिहास की अनेक विस्मृत घटनाओं से हमारा परिचय कराते हैं।

इसी प्रकार, समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति, राजा चंद्र का मेहरौली अभिलेख, हर्षवर्द्धन का मधुबन एवं बाँसखेड़ा अभिलेख, दक्षिण भारत के सातवाहनों, चोलों, चालुक्यों, राष्ट्रकूटों आदि के अभिलेखों से राजनीतिक इतिहास के अतिरिक्त प्रशासनिक, सामाजिक, आर्थिक, शैक्षणिक एवं धार्मिक स्थिति की जानकारी मिलती है। अभिलेखों में तिथि रहने से काल निर्धारण की समस्या भी नहीं रह जाती है। जहाँ तिथि नहीं भी है, वहाँ लिपि के आधार पर काल निर्धारण किया जा सकता है। अभिलेखों से अनेक साहित्यिक विवरणों की भी पुष्टि हो जाती है।

■ सिक्के

प्राचीन भारत के सिक्कों का अध्ययन अपने आप में दिलचस्पी का विषय है। इन सिक्कों के अध्ययन से हमें एक

साथ कई बातों की जानकारी प्राप्त होती है। एक तरफ सिक्कों की उपस्थिति बेहतर व्यापारिक गतिविधियों की सूचना देती है। सिक्कों पर राजाओं के नाम शासकों की वंशावली को स्पष्ट करते हैं। उसी प्रकार, सिक्कों पर देवताओं के चित्र धार्मिक विश्वास को दर्शाते हैं। सबसे बढ़कर सिक्कों की बनावट धातु विज्ञान तथा कलात्मक उपलब्धियों की ओर भी संकेत करती है।

प्राचीन भारत में आहत सिक्कों का प्रचलन लगभग पाँचवीं शताब्दी ई.पू. में आरंभ हुआ। चूँकि ये सिक्के, व्यापारिक निगमों के द्वारा जारी किए जाते थे, इसलिए इस पर किसी राजा का नाम अंकित नहीं होता। राजाओं के नाम पर सिक्के जारी करने वाले भारत के प्रथम शासक इण्डो-ग्रीक शासक थे, अत: ये सिक्के राजनीतिक इतिहास जानने के भी साधन बन गए। हम सिक्कों के आधार पर ही जान पाते हैं कि भारत में 30 इण्डोग्रीक शासकों ने शासन किया था। फिर इस काल में सिक्कों पर देवताओं के चित्र भी उकेरे जाने लगे। इण्डोग्रीक शासकों के सिक्कों पर कृष्ण एवं बलराम के चित्र अंकित थे। मौर्योत्तर काल में आगे शक, कुषाण एवं सातवाहनों ने विभिन्न प्रकार के सिक्के जारी किए। इन सिक्कों पर राजाओं के चित्र के साथ-साथ देवताओं के चित्र भी अंकित हैं। इन सिक्कों के निर्माण में धातुओं की विविधता के साथ-साथ बनावट में भी विविधता बनी रही।

आगे सिक्कों के निर्माण में कलात्मक निपुणता गुप्तकालीन सिक्कों में देखने को मिलती है। इस काल में छोटे मूल्य के सिक्कों के बजाय बड़े मूल्य वाले सिक्कों की प्रधानता बनी रही। सर्वप्रथम गुप्त शासक चंद्रगुप्त प्रथम ने कुषाण मॉडल पर स्वर्ण सिक्के जारी किए थे। आगे उसके उत्तराधिकारी समुद्रगुप्त एवं चंद्रगुप्त विक्रमादित्य ने भारतीय मॉडल पर भी स्वर्ण सिक्के जारी किए। वस्तुत: प्राचीन काल में सर्वाधिक संख्या में स्वर्ण सिक्के गुप्त शासकों के द्वारा ही जारी किए गए।

गुप्त काल में सर्वप्रथम चाँदी का सिक्का जारी करने का श्रेय गुप्त शासक चंद्रगुप्त विक्रमादित्य को दिया जाता है। उसने शक शासक को पराजित कर गुजरात विजय के उपलक्ष्य में चाँदी के सिक्के जारी किए थे। आगे गुप्त शासक स्कंदगुप्त ने कार्षापण मॉडल पर सिक्के निर्गत किए। इस काल में ताँबे के सिक्के अपेक्षाकृत कम मिलते हैं। सबसे बढ़कर, गुप्तकालीन सिक्के कलात्मक उत्कर्ष को दर्शाते हैं। इस काल में सिक्कों के निर्माण में बेहतरीन टंकण पद्धति देखने को मिलती है। सिक्कों पर शासक एवं विभिन्न देवताओं के चित्र उकेरे गए। गुप्तकालीन मूर्तिकला एवं चित्रकला में जो उत्कृष्टता देखने को मिलती है, वह गुप्तकालीन सिक्कों पर बने चित्रों में भी उभरकर आती है। चन्द्रगुप्त प्रथम के 'सम्राट एवं साम्राज्ञी' कोटि के सिक्कों के पृष्ठ भाग में सिंह पर बैठी दुर्गा का चित्र है। समुद्रगुप्त के द्वारा भी कई प्रकार के सिक्के जारी किए गए। इनमें अश्वेमध प्रकार, व्याघ्र प्रकार एवं वीणा-वादन प्रकार के सिक्के महत्वपूर्ण हैं। उसी प्रकार, चंद्रगुप्त द्वितीय के धनुर्धर प्रकार के सिक्के तथा कुमारगुप्त प्रथम के सिक्कों पर कमल पर बैठी हुई लक्ष्मी का चित्र उत्कृष्ट कला के उदाहरण हैं।

परंतु गुप्त काल के पश्चात् इन बेहतरीन सिक्कों के नमूने लगभग गायब से प्रतीत होते हैं। आगे के काल में न तो सिक्कों की बहुलता दिखती है और न ही धातु की शुद्धता और न ही सिक्कों पर खुदे हुए चित्रों की विविधता। गुप्त काल के पश्चात्, जैसा कि आर. एस. शर्मा जैसे विद्वान मानते हैं कि न केवल सिक्कों का, वरन् सिक्के बनाने वाले साँचे की भी कमी पड़ गई। आगे पाल शासकों के कुछ सिक्के तथा गहड़वाल शासकों के सिक्के मिले हैं।

इसके कारणों की व्याख्या के मुद्दे पर विद्वानों के बीच मतभेद है। आर. एस. शर्मा इसे व्यापार के पतन से जोड़कर देखते हैं, वहीं दूसरी तरफ कुछ विद्वान इस मत को अस्वीकार करते हुए कहते हैं कि सिक्कों का प्रचलन बना हुआ था, परंतु सिक्कों के स्वरूप में परिवर्तन आ चुका था अर्थात् संभवत: सिक्कों के निर्माण में धातु के बदले कुछ अन्य वस्तुओं का प्रयोग होने लगा था।

अभ्यास प्रश्न- ***आप इस विचार को, कि गुप्तकालीन सिक्का शास्त्रीय कला की उत्कृष्टता का स्तर बाद के समय में नितांत दर्शनीय नहीं है, किस प्रकार सही करेंगे? (UPSC-2017, 150 शब्द)***

- **स्थापत्य कला, मूर्तिकला एवं चित्रकला**

विभिन्न प्रकार के **स्मारकों, भवनों, मंदिरों, मूर्तियों तथा चित्रकला की शैली** आदि से भी प्रचुर अध्ययन सामग्री प्राप्त हो जाती है। विभिन्न प्रकार के स्मारक से जहाँ उसकी शैली का ज्ञान होता है, वहीं उनके निर्माता के विषय में भी सूचना मिल जाती है तथा यह सूचना भी प्राप्त होती है कि उनके निर्माण का प्रयोजन क्या था? यही बात मंदिर तथा मूर्तियों पर भी लागू होती है। हड़प्पा तथा मोहनजोदड़ो की खुदाई से जिस नगर का अवशेष मिलता है, उसी के आधार पर हड़प्पा सभ्यता का पुनर्निर्माण संभव हो पाया है। इन्हीं अवशेषों से ज्ञात हो पाया है कि समाज, आर्थिक रूप से विभाजित था। इसी प्रकार विभिन्न बंदरगाहों की खुदाई (अरिकामेडु) से तथा वहाँ मिलने वाले पुरावशेषों से ज्ञात होता है कि किन-किन देशों से भारत के व्यापारिक संबंध थे।

इसी प्रकार, नालंदा एवं विक्रमशिला के खंडहरों से इन स्थानों की गरिमा प्रकट होती है। तक्षशिला और मथुरा से प्राप्त मूर्तियों के आधार पर गांधार और मथुरा मूर्तिकला की जानकारी

मिलती है। साँची, भरहुत के स्तूप, अजंता, एलोरा, एलिफेंटा, बाघ की गुफाएँ तथा दक्षिण भारत के मंदिर प्राचीन शिल्पकला एवं चित्रकला के विकास पर प्रकाश डालते हैं।

इन सबके अलावा कुछ अन्य पुरातात्विक अवशेष भी कभी-कभी अध्ययन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हो जाते हैं। उदाहरण के लिए, विभिन्न प्रकार के मृद्भांड, खिलौनों तथा मुहरों आदि से भी हड़प्पा काल के अध्ययन में सहायता मिलती है। मोहनजोदड़ो तथा अन्य हड़प्पाई स्थलों से प्राप्त 500 मुहरों के आधार पर ही सिंधु सभ्यता के धार्मिक विश्वास की व्याख्या हो सकी है। इस प्रकार की मुहरों से तत्कालीन आर्थिक व्यवस्था तथा वाणिज्य-व्यापार का भी ज्ञान होता है।

साहित्यिक स्रोत

अध्ययन स्रोत के रूप में साहित्यिक साक्ष्य किसी काल विशेष के सभी आयामों की विस्तार से जानकारी प्रदान करता है, परंतु इसके द्वारा दी गयी सूचनाओं का बहुत ही सतर्कता से उपयोग करने की जरूरत होती है। प्राचीन भारत के इतिहास के अध्ययन में साहित्यिक स्रोतों को अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से दो भागों में रखकर समझा जा सकता है- देशी साहित्य एवं विदेशी साहित्य। फिर देशी साहित्य को भी दो भागों में बाँट सकते हैं-धार्मिक साहित्य तथा गैर-धार्मिक साहित्य।

■ **धार्मिक साहित्य**

धार्मिक साहित्य को **ब्राह्मण साहित्य, बौद्ध साहित्य तथा जैन साहित्य** के रूप में विभाजित किया जा सकता है। ब्राह्मण साहित्य में सर्वश्रेष्ठ स्थान **वेदों या श्रुति अथवा संहिता** को दिया गया है। इनकी संख्या चार है- ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद। इन ग्रंथों से आर्यों के विस्तार एवं उनकी धार्मिक मान्यताओं तथा संस्कृति के साथ-साथ उनके राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक विकास की झलक मिलती है। **उपनिषद्** उत्तरवैदिक काल की रचना है जो किसी न किसी वेद से संबद्ध है। इसमें आर्यो के प्राचीनतम दार्शनिक ज्ञान की झलक मिलती है।

आगे उपलब्ध साहित्यिक स्रोतों में **महाभारत, रामायण और पुराण** अध्ययन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। महाभारत का अंतिम संकलन लगभग 400 ई. के आस-पास माना जा सकता है। महाभारत की रचना का श्रेय महर्षि व्यास को दिया जाता है। आरंभ में रचना के समय इसमें 8800 श्लोक मात्र थे, परंतु अंतिम संकलन के समय इसके श्लोकों की संख्या बढ़कर 24000 हो गई। इसकी मूल कथा कौरवों तथा पांडवों के मध्य हुए युद्ध की है जो उत्तर वैदिक काल तक की हो सकती है। रामायण की रचना संभवत: ई.पू. पाँचवीं सदी में प्रारम्भ होकर ईसा की बारहवीं सदी तक चलती प्रतीत होती है। इस ग्रंथ में अयोध्या (कोशल) के शासक राम द्वारा लंका विजय का वर्णन है। इसमें आर्य तथा द्रविड़ भौगोलिक क्षेत्रों के अलावा वहाँ की सामाजिक तथा राजनीतिक पृष्ठभूमि को भी बखूबी दिखाया गया है, खासकर पितृसत्तात्मक परिवार, विभिन्न भाईयों के मध्य प्रेम, स्त्रियों की स्थिति तथा मनुष्य का प्रकृति से लगाव आदि विषय को आकर्षक ढंग से प्रस्तुत किया गया है।

पुराणों की संख्या मुख्य रूप से **अट्ठारह** बताई गई है। इनमें मत्स्य, मार्कण्डेय, विष्णु, वायु, ब्रह्माण्ड तथा गरूड़ पुराण प्रमुख हैं। सबसे प्राचीन पुराण में मत्स्य पुराण की गिनती होती है। मत्स्य, वायु तथा विष्णु पुराणों में राजवंशों का वर्णन है। यद्यपि इन पुराणों में राजवंशों के संबंध में दिये गये विवरण परस्पर भिन्न हैं, तथापि महाभारत युद्ध के पश्चात् जिन राजवंशों ने ईसा की छठी शताब्दी तक राज किया, उसके विषय में जानकारी प्राप्त करने का एकमात्र साधन पुराण ही हैं।

प्राचीन भारतीय इतिहास के अध्ययन के स्रोत के रूप में **बौद्ध साहित्य** की महत्वपूर्ण भूमिका दिखती है। बौद्ध ग्रंथ का मूल **त्रिपिटक** है। इसमें **सुत्त पिटक, विनय पिटक तथा अभिधम्म पिटक** शामिल हैं। सुत्त पिटक में भगवान बुद्ध के वचनों तथा धार्मिक विचारों को शामिल किया गया है। विनय पिटक में बौद्ध संघ के नियमों का उल्लेख है। अभिधम्म पिटक में गूढ़ बौद्ध दर्शन का विवेचन है। इन बातों के अलावा, तीनों पिटक बुद्ध की मृत्यु के समय तथा उनके उपरांत की राजनीतिक, सामाजिक स्थितियों पर भी प्रकाश डालते हैं।

इसके अलावा **जातक कथा** से भी तत्कालीन समाज पर प्रकाश पड़ता है। जातक कथा में बुद्ध के पूर्वजन्म की कहानी है। **वंश साहित्य** (दीपवंश, महावंश) से श्रीलंका के इतिहास का ज्ञान होता है। **पिटकेत्तर साहित्य** में **मिलिन्दपञ्हो** महत्वपूर्ण ग्रंथ है। इसमें हिन्द यूनानी राजा मिनाण्डर तथा बौद्ध भिक्षु नागसेन के मध्य दार्शनिक वाद-विवाद उद्धृत है। इसी ग्रंथ से प्राचीन शाकल (स्यालकोट) नगर की भव्यता तथा उसके आर्थिक महत्व का पता चलता है। इसी तरह अंगुत्तर निकाय से सोलह महाजनपदों का विवरण मिलता है। बौद्ध साहित्य भारत के अन्य देशों से वैदेशिक संबंध के बारे में भी महत्वपूर्ण सूचना देता है।

जैन ग्रंथों का अंतिम संकलन ईसा की छठी सदी में हुआ। अनेक महत्वपूर्ण जैन ग्रंथों से तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक स्थिति की जानकारी मिलती है, जैसे-भगवती सूत्र से जहाँ एक तरफ भगवान महावीर के जीवन पर कुछ प्रकाश पड़ता है, वहीं दूसरी तरफ सोलह महाजनपदों का भी उल्लेख मिलता है। भद्रबाहुचरित से चन्द्रगुप्त मौर्य के राज्यकाल की घटनाओं पर कुछ प्रकाश पड़ता है। इसके अलावा, हेमचंद्र कृत परिशिष्टपर्वन, हरिभद्रसूरी के समरादित्यकथा तथा जिनसेन के आदिपुराण जैसे ग्रंथ भी अध्ययन के स्रोत के रूप में महत्वपूर्ण हैं।

■ गैर-धार्मिक साहित्य

अध्ययन के स्रोत के रूप में **गैर-धार्मिक साहित्यिक साक्ष्यों** का अपना महत्वपूर्ण स्थान रहा है। ऐसे साहित्यों में अपने समय की राजनीतिक, सामाजिक गतिविधियों की प्रचुर झलक मिलती है। जैसे- **पाणिनि कृत अष्टाध्यायी** से हमें पूर्व मौर्यकाल की जानकारी प्राप्त हो जाती है। **विशाखदत्त के मुद्राराक्षस** से मौर्य काल की घटनाओं पर प्रकाश पड़ता है। मौर्यकाल के लिये जानकारी का सबसे अच्छा स्रोत **कौटिल्य** की रचना **अर्थशास्त्र** को माना जाता है। इस ग्रंथ से मौर्यकालीन राजनीतिक आदर्शों, आर्थिक साधन बढ़ाने के उपायों, तत्कालीन समाज की स्थिति आदि की विस्तृत चर्चा मिलती है।

इसके अतिरिक्त, **गार्गी संहिता** से भारत पर होने वाले यवन आक्रमण का उल्लेख मिलता है। **पतंजलि के महाभाष्य** से शुंग वंश के इतिहास का पता चलता है। **कालिदास के मालविकाग्निमित्रम्** से शुंग कालीन राजनीतिक एवं सामाजिक जीवन की झलक मिलती है। यहीं से पता चलता है कि अग्निमित्र ने किस प्रकार यवन आक्रमण को भारत के अन्य भागों में प्रसारित होने से रोका। साहित्यिक साक्ष्यों में विभिन्न विद्वानों द्वारा अपने संरक्षकों के लिए लिखी जीवनी का महत्वपूर्ण योगदान है। जैसे-**बाणभट्ट के हर्षचरित** से हर्षवर्द्धन के राज्यकाल की गूढ़ जानकारी प्राप्त होती है।

■ विदेशी साहित्य

देशी साहित्यों के अतिरिक्त प्राचीन भारत के इतिहास को जानने का प्रमुख स्रोत है विदेशी लेखकों का विवरण। प्राचीन काल में भी भारत शेष विश्व से कटा नहीं रहा था। बाह्य विश्व से इसका निरंतर संपर्क रहा था। अत: समय-समय पर विदेशी यात्री भारत आते रहे तथा अपने यात्रा वृत्तांत छोड़ते रहे हैं, जो कि प्राचीन भारत के इतिहास को जानने का प्रमुख स्रोत बन गया है। हम सुविधा की दृष्टि से विदेशी विवरण को कई समूह में बाँटकर देख सकते हैं-

• यूनानी-रोमन लेखक

सिकंदर के साथी इतिहासकारों; यथा- नियार्कस, अरिस्टोबुलस, अनासिक्रीट्ज आदि के विवरण के माध्यम से ही हम चौथी सदी ई.पू. में उत्तर-पश्चिम भारत के इतिहास को समझ पाते हैं। इतना ही नहीं, जब एक ब्रिटिश विद्वान विलियम जोंस ने यूनानी विवरण में सेंड्रोकोटस की पहचान चंद्रगुप्त मौर्य से की, तो भारत की इतिहास की गुत्थी सुलझ गई। फिर आगे चन्द्रगुप्त मौर्य के दरबार में यूनानी शासक सेल्यूकस निकेटर के राजदूत मेगस्थनीज द्वारा लिखित पुस्तक 'इंडिका' से मौर्यकालीन प्रशासन, कर प्रणाली, आर्थिक गतिविधियों, समाज एवं धार्मिक गतिविधियों पर प्रकाश पड़ता है। ईसा की आरंभिक शताब्दियों में भारत के संदर्भ में रोमन लेखकों का विवरण प्राप्त होने लगता है। ये लेखक थे-प्लिनी, स्ट्रैबो, डायोडोरस, एरियन आदि। इन लेखकों के विवरण से भारत एवं रोम के बीच व्यापार, सामुद्रिक गतिविधियाँ, बंदरगाह आदि की सूचना प्राप्त होती है।

• चीनी लेखक

भारत आने वाले चीनी विद्वानों में फाह्यान तथा ह्वेनसांग प्रमुख हैं। फाह्यान चौथी सदी के अंत में गुप्त शासक चंद्रगुप्त विक्रमादित्य के काल में भारत आया था। वह मुख्यत: यहाँ बौद्ध संघों का अवलोकन तथा महत्वपूर्ण बौद्ध ग्रंथों की पांडुलिपियों के संग्रह के लिए आया था। उसने उत्तर भारत एवं मध्य देश की यात्रा की थी। उसने पाटलिपुत्र का भी विवरण दिया है। उसके लेखन से तात्कालिक धर्म, समाज तथा प्रशासनिक आदर्शों पर प्रकाश पड़ता है। लेकिन कहीं-न-कहीं उसके विवरण पर धर्म का गहरा रंग चढ़ा हुआ दिखाई देता है, उदाहरण के लिए, भारतीय प्याज-लहसुन नहीं खाते थे, भारत में दंड विधान अत्यधिक नरम था, आदि।

एक अन्य चीनी यात्री, जिसका विवरण सातवीं सदी का इतिहास जानने का एक प्रमुख स्रोत है, वह है ह्वेनसांग। ह्वेनसांग भी धार्मिक उद्देश्य से प्रेरित होकर बौद्ध ग्रंथों की पांडुलिपि की खोज करते हुए भारत आया था। उसने उत्तर भारत से दक्षिण भारत तक विभिन्न क्षेत्रों का दौरा किया। उसने भारत के अपने अनुभव एवं अवलोकन को 'पश्चिम के रिकॉर्ड' (सी-यू-की) के नाम से संकलित किया। फाह्यान की तुलना में ह्वेनसांग का विवरण अधिक व्यापक एवं प्रभावशाली है। ह्वेनसांग ने राजनीतिक घटनाक्रम में भी रुचि ली है। उसके विवरण से हर्षवर्द्धन तथा उसके काल के राजनीतिक घटनाक्रम के साथ-साथ आर्थिक सामाजिक घटनाओं की भी सूचना मिलती है। वह नालंदा विश्वविद्यालय से जुड़ा रहा था तथा दक्षिण में काँचीपुरम् में उसने शिक्षा प्राप्त की। उसने कुछ नगरों की पतनोन्मुख अवस्था का भी उल्लेख किया है। उदाहरण के लिए, पाटलिपुत्र। यद्यपि कहीं-कहीं ह्वेनसांग भी धर्म के प्रभाव में अतिशयोक्तिपूर्ण विवरण देता है। उदाहरण के लिए, ह्वेनसांग के अनुसार हर्षवर्द्धन ने अपने साम्राज्य में पशु हत्या पर पाबंदी लगा दी थी, भारत में लोग अपने माता-पिता का अत्यधिक आदर करते हैं।

• अरबी लेखक

विदेशी यात्रियों की श्रृंखला में अरबी लेखकों के विवरण का भी अपना अलग महत्व है। अरबों की सिंध विजय के पश्चात् अरब विश्व से भारत का नियमित संपर्क हुआ।

9वीं सदी में भारत की यात्रा करने वाला एक प्रमुख अरब विद्वान सुलेमान था। उसने जिस समय भारत की यात्रा की थी, उस समय पूर्वी भारत में पाल वंश का शासन था। वह राष्ट्रकूट शासक अमोघवर्ष का बड़ा प्रशंसक था। उसके अनुसार अमोघवर्ष

ने अपने राज्य में मुसलमानों को धार्मिक स्वतंत्रता दी थी तथा उन्हें मस्जिद बनाने की भी अनुमति दी थी। सुलेमान ने अमोघवर्ष की गणना चार महान शासकों में की है।

एक अन्य अरब यात्री, अलमसूदी ने 10वीं सदी में भारत की यात्रा की थी। वह विद्वान होने के साथ-साथ भूगोलवेत्ता एवं इतिहासवेत्ता भी था। उसे अरब क्षेत्र का 'हेरोडोटस' भी कहा जाता है। उसका जिस समय भारत में आगमन हुआ था, उस समय कन्नौज एक प्रतिहार शासक, मिहिरभोज, के अधीन था।

फिर भारत आने वाले अरब यात्रियों में से सबसे महत्वपूर्ण यात्री था अबुरेहान अलबरूनी। वह 11वीं सदी के आरंभ में महमूद गजनी के साथ भारत आया था। उसने अपने विवरण को अरबी में लिखित अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'किताब-उल-हिंद' में संकलित किया है। उसका विवरण 11वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के सामाजिक, सांस्कृतिक इतिहास को जानने का प्रमुख स्रोत है। उसे भारतीय संस्कृति में इतनी गहरी रुचि थी कि उसने भारतीय संस्कृति को समझने के लिए संस्कृत सीखी। वह भारत की वर्णव्यवस्था के अलावा सती प्रथा एवं बहुविवाह जैसी सामाजिक बुराईयों की भी चर्चा करता है।

अभ्यास प्रश्न- भारत के इतिहास की पुनर्रचना में चीनी और अरबी यात्रियों के वृत्तान्तों के महत्व का आकलन कीजिए। (UPSC-2018, 150 शब्द)

प्रश्न- भारतीय संस्कृति का प्रसार भारतीय उपमहाद्वीप तक ही सीमित नहीं रहा, बल्कि भारतीय उपमहाद्वीप से बाहर भी इसने पहुँच बनायी। अथवा

भारतीय कला के अध्ययन के बिना पूर्वी एशिया एवं दक्षिण एशिया की कला का इतिहास अधूरा रह जाएगा। इस कथन का परीक्षण कीजिए।

उत्तर- बाह्य विश्व के साथ प्राचीन भारत के आर्थिक संबंधों का पर्याप्त अध्ययन हुआ है, परन्तु सांस्कृतिक संबंधों का अपेक्षित अन्वेषण नहीं हो पाया है। हमें यह ज्ञात होना चाहिए कि जिन क्षेत्रों के साथ भारत के आर्थिक संबंध रहे, उनके साथ सांस्कृतिक संबंध भी स्थापित हुए तथा व्यापारियों, ब्राह्मणों, बौद्ध भिक्षुओं, जैन-संतों एवं स्वतंत्र उद्यमियों के माध्यम से भारतीय संस्कृति का अन्य क्षेत्रों में भी प्रसार हुआ।

कुषाणों के काल में रेशम मार्ग से भारत का प्रत्यक्ष सम्पर्क था, अतः इस काल में मध्य एशिया और पूर्वी एशिया में भारतीय संस्कृति का प्रसार हुआ। एक बौद्ध विद्वान कुमारजीव ने चौथी सदी में उस क्षेत्र की यात्रा की। इस काल में चीन में बौद्ध धर्म का प्रसार हुआ, फिर वहाँ से यह धर्म जापान एवं तिब्बत में फैल गया। धर्म के साथ-साथ बौद्ध साहित्य एवं चित्रकला का भी प्रसार हुआ। अश्वघोष की अधूरी नाट्यकृति सारिपुत्रप्रकरण मध्य एशिया से प्राप्त हुई है। उसी प्रकार, मध्य एशिया में एक स्थल तांग हुआंग से बौद्ध गुफा चित्रकला का साक्ष्य मिलता है।

आगे दक्षिण-पूर्व एशिया में भी भारतीय संस्कृति का प्रसार हुआ। इन क्षेत्रों में बौद्ध संस्कृति एवं ब्राह्मण संस्कृति दोनों का योगदान रहा। बताया जाता है कि उत्तर-भारत के एक महाकाव्य रामायण का देशी संस्करण दक्षिण-पूर्व एशिया में विकसित हुआ। रामकथा के प्रभाव का अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि प्राचीन काल में थाईलैण्ड की राजधानी का नाम आयुथिया रखा गया है, जो अयोध्या से समानता रखता है। ब्राह्मण धर्म एवं संस्कृति को फैलाने में पल्लव एवं चोल शासकों की भी महत्वपूर्ण भूमिका रही थी। कम्बोडिया के अंगकोरवाट में एक भव्य विष्णु मंदिर का निर्माण किया गया। उसी प्रकार, इण्डोनेशिया के बोरोबुदूर नामक स्थान पर विश्व का सबसे बड़ा बौद्ध मंदिर निर्मित हुआ।

परन्तु भारतीय उपमहाद्वीप से बाहर भारतीय संस्कृति के प्रसार का अध्ययन करते हुए दो बातों पर गौर करना आवश्यक है। प्रथम, भारतीय संस्कृति क्षेत्रीय स्तर पर मौलिक रूप में स्थापित नहीं हुई, बल्कि क्षेत्रीय तत्वों के साथ सम्पर्क के परिणामस्वरूप इसका स्वरूप बदल गया। दूसरे, यह एक तरफा प्रसार नहीं था क्योंकि बदले में इसने भारत को भी प्रभावित किया। वर्तमान में भारत में पान एवं सुपाड़ी का इतना व्यापक प्रचलन दिखता है, परन्तु यह दक्षिण-पूर्व एशिया से ही लिया गया है।

वर्तमान में भारत के इस प्राचीन सम्पर्क सूत्र का व्यापक महत्व है। इसने दक्षिण-पूर्व एशियाई देशों के साथ भारत के संबंधों के आधार को बदल दिया तथा इसने सांस्कृतिक कूटनीति का आधार निर्मित किया। भारत एवं दक्षिण-पूर्व एशिया की साझी संस्कृति का ज्वलंत उदाहरण है- नालंदा यूनिवर्सिटी प्रोजेक्ट।

प्रश्न- प्राचीन काल में भारतीय संस्कृति के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए यह निर्धारित कीजिए कि यह विविधता में एकता का उदाहरण कैसे बना?

उत्तर-

धर्मः

- ईसा की आरम्भिक शताब्दियों तक धर्म के क्षेत्र में **आर्य एवं गैर-आर्य तत्वों का मिश्रण** तथा अवतारवाद के माध्यम से आर्य एवं गैर-आर्य देवताओं के बीच एकीकरण।
- **उत्तर एवं दक्षिण भारत के बीच नियमित धार्मिक आदान-प्रदान-** उत्तर से ब्राह्मण धर्म, बौद्ध धर्म एवं जैन धर्म का दक्षिण में आगमन हुआ, फिर उत्तर से पुराणों पर आधारित भक्ति दक्षिण गई और वहाँ संगम साहित्य में भक्ति का एक नया संस्करण तैयार हुआ। इसने 600-700 वर्षों के बाद उत्तर-भारत पर भी गहरा प्रभाव छोड़ा। फिर

भक्ति, मंदिर एवं मूर्ति पूजा, ये सभी उत्तर एवं दक्षिण दोनों समाज के लक्षण बन गये।

भाषा-साहित्य:

- उत्तर में आर्य भाषा, जबकि दक्षिण में द्रविड़ भाषा विकसित हुई, परन्तु उत्तर की महत्वपूर्ण आर्य भाषा संस्कृत को दक्षिण में भी स्वीकृति मिली। साथ ही, संस्कृत के कुछ महत्वपूर्ण ग्रंथ दक्षिण में लिखे गये। हमें यह ज्ञात हो कि अद्वैत चिंतन पर शंकराचार्य की टीका एवं रामानुज की रचना दक्षिण में ही लिखी गई थी। इसके अतिरिक्त द्रविड़ भाषाओं में लिखे साहित्य पर भी जहाँ-तहाँ उत्तर का प्रभाव देखा जा सकता था।

कला:

- **स्थापत्य कला**- द्रविड़ शैली के विकास में नागर शैली के प्रभाव को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। उसी प्रकार, नागर शैली ने भी द्रविड़ शैली की कुछ विशेषताओं को अपनाया। उदाहरण के लिए, मण्डप का निर्माण। उसी प्रकार, वेसर शैली का विकास, नागर शैली और द्रविड़ शैली के बीच सामंजस्य के परिणामस्वरूप हुआ है।
- **चित्रकला**- अजन्ता चित्रकला के विकास में दक्षिण के राजवंशों का भी योगदान रहा है। अजन्ता चित्रकला ने एलोरा तथा सित्तनवासल की पल्लव चित्रकला तथा तंजौर स्थित चोल चित्रकला पर निर्णायक प्रभाव छोड़ा।
- **मूर्तिकला**- सारनाथ कला ने एलोरा की मूर्तिकला, पल्लव एवं चोल कालीन मूर्तिकला पर भी अपना प्रभाव छोड़ा।

भारत का न केवल विशाल भौगोलिक आकार रहा है, बल्कि यहाँ सांस्कृतिक विविधता भी रही है, परन्तु इस 'विविधता के बीच एकता' का सूत्र खोजना कठिन नहीं है।

प्रश्न- भारत में विविधता के किन्हीं चार सांस्कृतिक तत्वों का वर्णन कीजिए और एक राष्ट्रीय पहचान के निर्माण में उनके आपेक्षिक महत्व का मूल्य निर्धारण कीजिए।

(UPSC-2015)

प्रश्न का अर्थ-अन्वेषण:- *इस प्रश्न का दायरा बहुत विस्तृत है। यह अपने स्वरूप में बहुआयामिक है तथा प्राचीनकाल से लेकर वर्तमान भारत तक एकता के सूत्र को खोजने का प्रयास करता है। इस प्रश्न में भारतीय राष्ट्रवाद के विशिष्ट स्वरूप की ओर भी संकेत है, जिसे 'विविधता में एकता' का नाम दिया जाता है।*

उत्तर- संस्कृति राष्ट्र-निर्माण में न केवल प्रमुख अवयव का कार्य करती है, अपितु राष्ट्र के चरित्र को भी निर्धारित करती है। अत: भारत के बहु-सांस्कृतिक रूप ने भारतीय राष्ट्र को एक पृथक चरित्र प्रदान किया है।

भारत में विविधता के चार प्रमुख सांस्कृतिक तत्व के रूप में हम धर्म तथा दर्शन, भाषा-साहित्य एवं कला को ले सकते हैं। धार्मिक विविधता, भारतीय संस्कृति का महत्वपूर्ण अभिलक्षण रही है। जिसे हम 'हिंदू धर्म' के नाम से जानते हैं, वह किसी विशेष काल खंड में विकसित नहीं हुई और न ही इसमें एक खास तत्व का योगदान है। आर्य तथा गैर-आर्य धार्मिक पंथों के मिश्रण से हिंदू धर्म का विकास हुआ। भक्ति, अवतारवाद तथा मूर्तिपूजा सभी गैर-आर्य पंथ की देन हैं। यहाँ धार्मिक विविधता का एक महत्वपूर्ण प्रमाण यह है कि भारत के अधिकांश भाग में देवी दुर्गा की पूजा होती है, तो कुछ क्षेत्रों में महिषासुर की पूजा भी होती है। कम्बन के तमिल रामायण का झुकाव रावण की ओर है। आगे मध्यकाल में भी एकीकरण एवं समन्वय की प्रक्रिया चलती रही। इसका ज्वलंत प्रमाण है भक्ति तथा सूफी आंदोलन। मध्यकाल में हिंदू एवं मुस्लिम दोनों ने साथ-साथ रहते हुए समन्वित संस्कृति का निर्माण किया। भक्ति एवं सूफी आंदोलन उसी समन्वित संस्कृति की अभिव्यक्ति है।

इसी प्रकार की विविधता दर्शन के क्षेत्र में भी मौजूद रही है। प्राचीन भारत में स्वतंत्र वाद-विवाद की लम्बी परंपरा रही है। अमर्त्य सेन ने अपनी पुस्तक 'Argumentative Indian' में इस मुद्दे को उठाया है। विविधता का एक प्रमाण यह है कि हमारे कुछ प्राचीन चिंतक आत्मा को मानते हैं, तो कुछ अनात्मवादी हैं। उसी प्रकार, कुछ चिंतक कर्म एवं पुनर्जन्म की अवधारणा को मानते हैं, तो कुछ उन्हें अस्वीकार करते रहे हैं।

फिर भाषा-साहित्य के क्षेत्र में विविधता तो विदेशियों को भी अचम्भित करती रही है। भारत में अनेक भाषाएँ प्रचलित रही हैं, यथा- हिंदी, बांग्ला, उड़िया, मैथिली, मराठी, गुजराती, तेलुगु, तमिल, कन्नड़ आदि। इसके अतिरिक्त कला के क्षेत्र में कम विविधता देखने को नहीं मिलती। प्राचीन काल में स्थापत्य कला की दो प्रमुख शैलियाँ नागर एवं द्रविड़ विकसित हुई थीं, फिर इन दोनों को मिलाकर वेसर शैली का विकास हुआ। समन्वय की प्रक्रिया मध्यकाल में भी चलती रही। मुस्लिम शासन के अंतर्गत मेहराबी तथा शहतीरी शैली के बीच सामंजस्य देखने को मिलता है। उसी प्रकार, मूर्तिकला, चित्रकला आदि क्षेत्र में भी अभिजात्य तथा लोकतत्व के बीच सामंजस्य दिखता है।

सबसे दिलचस्प तथ्य यह है कि स्वतंत्रता के पश्चात् हमने इस विविधता को अपनी कमजोरी बनाने के बदले उसे अपनी शक्ति बना लिया। हमारे संविधान निर्माताओं ने भी इस विविधता का सम्मान किया तथा संविधान की आठवीं अनुसूची में 14 भाषाओं को जगह दी। पश्चिमी राष्ट्र के विपरीत, जिसने एक भाषा एक राष्ट्र का नारा दिया था, भारत 14 राष्ट्रभाषाओं पर आधारित (वर्तमान में 22 भाषाएँ) राष्ट्र बना। इस प्रकार, भारत ने वैकल्पिक राष्ट्रवाद का मॉडल प्रस्तुत किया तथा इसे 'विविधता में एकता' का नाम दिया गया।

प्रश्न- हर्षवर्द्धन का सांस्कृतिक योगदान बताइए।

उत्तर- हर्षवर्द्धन कन्नौज के शासक के रूप में तब स्थापित हुआ, जब उत्तर भारत में विघटन की प्रक्रिया चल रही थी। हर्षवर्द्धन ने न केवल उस राजनीतिक विघटन की प्रक्रिया पर अंकुश लगाया, बल्कि उसने साहित्य एवं कला को भी संरक्षण दिया।

1. **धार्मिक सद्‌भाव की नीति-** हर्षवर्द्धन एवं उसके पूर्वज सूर्य के उपासक थे, परन्तु हर्ष ने महायान बौद्ध धर्म को ग्रहण किया और उसे संरक्षण दिया।
2. **लोक कल्याणकारी कार्य-** मार्ग निर्माण, कुआँ खुदवाना, मार्ग के किनारे छायादार वृक्ष लगवाना आदि।
3. **शिक्षा को संरक्षण-** नालन्दा विश्वविद्यालय के संचालन के लिए 100 गाँव अनुदान के रूप में देना।
4. **विद्वानों को संरक्षण-** हर्षवर्द्धन स्वयं एक बड़ा विद्वान था। हर्ष ने नागानन्द, प्रियदर्शिका तथा रत्नावली की रचना की। इसके अतिरिक्त उसने अन्य विद्वानों को भी संरक्षण दिया। जैसे- बाणभट्ट, मयूर।
5. **स्थापत्य निर्माण-** अनेक स्तूपों एवं मंदिरों का निर्माण। उदाहरण के तौर पर, कन्नौज एवं नालंदा में बौद्ध विहार की स्थापना तथा सिरपुर में एक लक्ष्मण मंदिर का निर्माण।

■■■

KHAN GLOBAL STUDIES
Most Trusted Learning Platform
KHAN SIR

खंड-3
(Part-III)

- ■ **सल्तनत काल (1200 ई.–1526 ई.)**
- ■ **मुगल काल (1526 ई. के पश्चात्)**

- **राजनीतिक :** 1. राजनीतिक विस्तार (राज्य, साम्राज्य एवं राजवंश)
  2. प्रशासन
- **आर्थिक :** कृषि, उद्योग, व्यापार, मुद्राएँ एवं नगरीकरण
- **सामाजिक :** समाज का क्षैतिज एवं लम्बवत् विभाजन तथा महिलाओं की स्थिति।
- **सांस्कृतिक :** धर्म (भक्ति एवं सूफी), भाषा एवं साहित्य, स्थापत्य कला, चित्रकला एवं संगीत।

सल्तनत काल

इस्लाम की स्थापना के काल से ही इस्लाम की सेना हिन्दुस्तान जीतने का निरन्तर प्रयास कर रही थी। इस क्रम में अरब आक्रमणकारियों को 712 ई. में केवल सिंध विजय का अवसर मिला था, आगे उसने उत्तर भारत में विस्तार करना चाहा, तो उसे सफलता नहीं मिली। परन्तु मध्य एशिया से आए हुए तुर्कों ने अपेक्षाकृत अधिक सफलता प्राप्त की। 11वीं सदी के आरम्भ में महमूद गजनी ने पंजाब को आधार बनाकर उत्तर भारत पर निरन्तर आक्रमण किया था, परन्तु उसने उत्तर भारत को प्रत्यक्ष नियंत्रण में नहीं लिया था। इसके विपरीत मुहम्मद गोरी ने 1192 ई. में तराईन का द्वितीय युद्ध जीतकर अजमेर और दिल्ली पर कब्जा कर लिया। इस प्रकार, उत्तर भारत में तुर्की राज्य की स्थापना हुई।

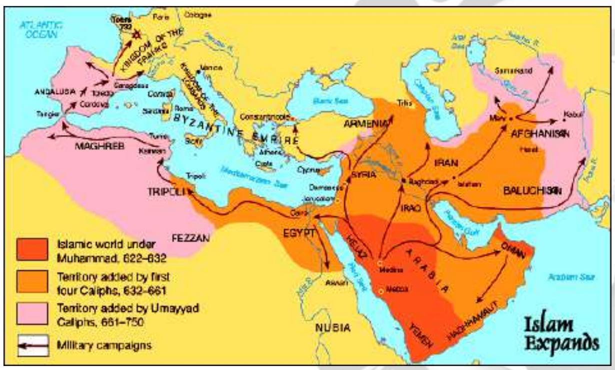

इस्लाम का विस्तार

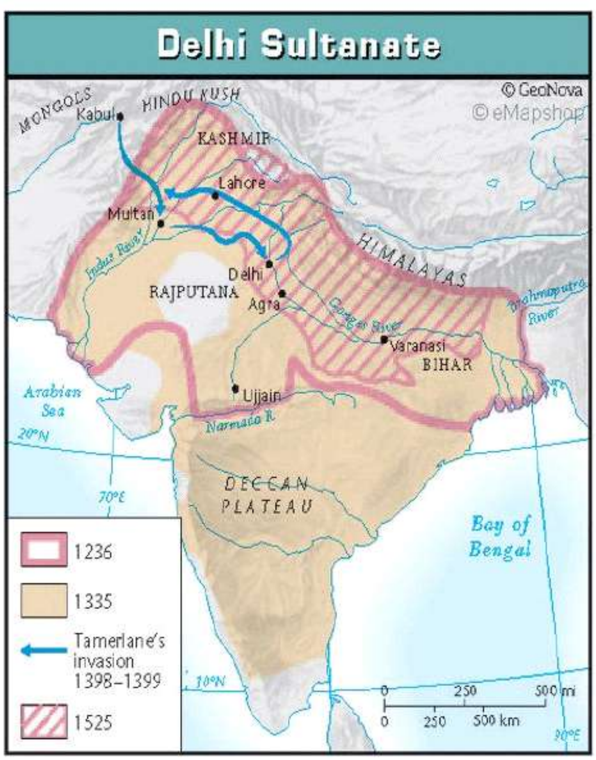

इल्बरी या मामलुक वंश
(1192 ई.-1290 ई.)

इस वंश का संस्थापक मुहम्मद गोरी (1192-1206) था, परन्तु मुहम्मद गोरी की मुख्य दिलचस्पी गजनी एवं गौर क्षेत्र में ही रही। हिन्दुस्तान में वास्तविक प्रशासन का काम उसके दास कुतुबुद्दीन ऐबक ने किया। मुहम्मद गोरी ने 1194 ई. में चंदावर की लड़ाई में जयचंद को पराजित कर कन्नौज पर कब्जा कर लिया। 1206 ई. में मुहम्मद गोरी की मृत्यु हो गई।

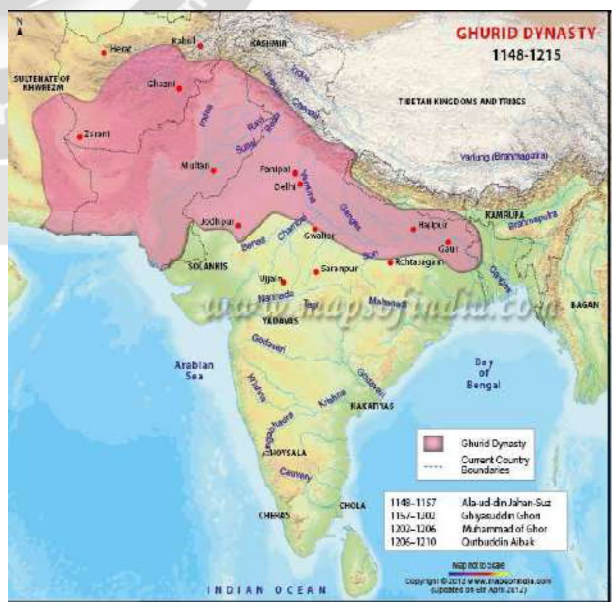

■ **कुतुबुद्दीन ऐबक (1206 ई.-1210 ई.)**- कुतुबुद्दीन ऐबक ने लाहौर को अपनी राजधानी बनाया था। वह गंगा-यमुना के ऊपरी दोआब में विस्तार का कार्य करता रहा। इसके दरबार में हसन निजामी नामक विद्वान था, जिसने 'ताज-उल-मासिर' नामक ग्रंथ की रचना की थी। 1210 ई. में उसकी आकस्मिक

मृत्यु हो गई।

■ **इल्तुतमिश (1211 ई.-1236 ई.)**- इसे दिल्ली सल्तनत का संगठनकर्त्ता माना जाता है क्योंकि इसने न केवल स्वतंत्र हो चुके भारतीय राज्यों को दोबारा जीता, बल्कि इसने प्रशासनिक पुनर्गठन का भी काम किया। इसने 'तुर्क-ए-चहलगानी' नामक संगठन का निर्माण किया, जो 40 अमीरों का संगठन था और उन्हें महत्वपूर्ण पद दिए गए थे। फिर इसने गंगा-यमुना दोआब के आर्थिक महत्व को समझते हुए वहाँ मुस्लिम जनसंख्या को बसाया। यह पहला सुल्तान था जिसने खलीफा से शासन करने की खिल्लत प्राप्त की। यह सल्तनत काल का पहला वैधानिक सुल्तान था।

■ **रजिया (1236 ई.-1240ई.)**- रजिया एक योग्य शासिका सिद्ध हुई, परन्तु अमीरों और उलेमाओं की ईर्ष्या के कारण वह अधिक समय तक पद पर नहीं बनी रह सकी और 1240 ई. के कैथल के युद्ध के बाद रजिया की हत्या हो गई।

■ **बहराम शाह (1240-1242ई.)**- इसके काल में 1241 में तैर बहादुर के नेतृत्व में मंगोलों का पहला आक्रमण हुआ।

■ **मसूद शाह (1242-1246 ई.)**

■ **नसीरुद्दीन मुहम्मद (1246-1266 ई.)**-यह इल्तुतमिश का सबसे छोटा पुत्र था। इसके काल में वास्तविक शक्ति तुर्क-ए-चहलगनी के एक सदस्य बलबन ने अपने हाथों में ले ली थी। इसके दरबार में 'मिन्हाज-उस-सिराज' नामक लेखक को संरक्षण मिला था जिसने फारसी रचना 'तबकात-ए-नासिरी' लिखी।

■ **बलबन (1266-1286 ई.)**- बलबन को दिल्ली सल्तनत का वास्तविक संगठनकर्त्ता माना जाता है। यद्यपि वह तुर्क-ए-चहलगनी का सदस्य रहा था, फिर भी उसने सुल्तान के पद को मजबूत बनाने के लिए तुर्क-ए-चहलगनी की शक्ति को तोड़ दिया। उसने ही सल्तनत काल में मंगोल नीति की नींव डाली थी तथा मंगोल आक्रमण के विरुद्ध उत्तर-पश्चिम में दो सुरक्षा पंक्तियाँ बनवाईं।

■ **कैकुबाद (1286-90) :**

बलबन की मृत्यु के पश्चात् उसका पौत्र कैकुबाद उसका उत्तराधिकारी हुआ। वह एक कमजोर एवं अयोग्य शासक था। उसके समय में राजनीतिक अराजकता की स्थिति उत्पन्न हो गई, जिसका लाभ उठाकर समाना के मुक्ती जलालुद्दीन खिलजी ने दिल्ली पर कब्जा कर लिया।

खिलजी वंश
(1250 ई.-1320 ई.)

■ **जलालुद्दीन खिलजी (1290-96 ई.)**- इस वंश का संस्थापक जलालुद्दीन खिलजी था। उसने 1290 ई. से 1296 ई. के बीच शासन किया था। उसके भतीजे तथा दामाद, अलाउद्दीन खिलजी, ने उसे गद्दी से हटाकर सत्ता पर कब्जा कर लिया।

■ **अलाउद्दीन खिलजी (1236-1314 ई.)**- इसके सिंहासनारोहण के साथ हिन्दुस्तान में साम्राज्यवाद का युग आरम्भ हुआ। इसके अन्तर्गत जो साम्राज्यवादी विस्तार की प्रक्रिया आरम्भ हुई, वह मुहम्मद-बिन-तुगलक के काल में अपने चरम पर पहुँच गई।

सर्वप्रथम उसने उत्तर भारत में गुजरात (1299 ई.), रणथम्भौर (1301 ई.), चित्तौड़ (1303 ई.), मालवा (1305 ई.) आदि को जीतकर एक साम्राज्य का निर्माण किया। फिर उसने मलिक काफूर नामक सेनापति के नेतृत्व में दक्षिण भारत में सैनिक अभियान भेजे- पहला सैन्य अभियान 1306-07 ई. में देवगिरी एवं वारंगल के विरुद्ध और दूसरा सैन्य अभियान द्वारसमुद्र एवं पांड्य राज्य के विरुद्ध। अलाउद्दीन खिलजी इन राज्यों से राजस्व एवं उपहार प्राप्त करता रहा, परन्तु दक्षिण के राज्यों को उसने प्रत्यक्ष नियंत्रण में नहीं लिया।

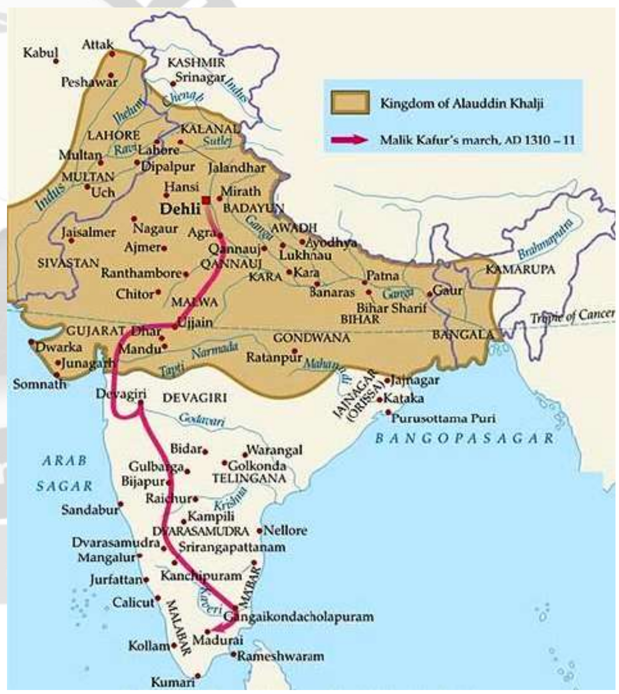

■ **मुबारक शाह खिलजी (1316-1320 ई.)**- मुबारक शाह खिलजी प्रथम सुल्तान था जिसने अपने को खलीफा घोषित किया तथा 'अल-बसिक-बिल्लाह' की उपाधि धारण की। इसके अतिरिक्त उसने अलाउद्दीन खिलजी के सीमित विस्तार कि नीति को उलटते हुए देवगिरि को जीतकर दिल्ली सल्तनत में मिला लिया।

■ **खुसरो शाह (1320 ई.)** - मुबारक शाह खिलजी की मृत्यु के पश्चात् उसके मंत्री खुसरो ने 'खुसरोशाह' के नाम से अपने को सुल्तान घोषित कर दिया। 1320 ई. में दीपालपुर के गवर्नर गाजी मलिक ने दिल्ली पर आक्रमण कर खुसरो को मार डाला और तुगलक वंश की नींव डाली।

तुगलक वंश
(1320 ई.-1412 ई.)

■ **गयासुद्दीन तुगलक (1320-25 ई.)**- गाजी मलिक गयासुद्दीन तुगलक नाम से सुल्तान बना और उसके काल में ही उसके पुत्र जौना खाँ ने 1324 ई. में वारंगल को जीतकर दिल्ली सल्तनत में मिला लिया। 1325 ई. में बंगाल अभियान से लौटते हुए एक दुर्घटना में गयासुद्दीन तुगलक की मृत्यु हो गई।

■ **मुहम्मद-बिन-तुगलक (1325-51 ई.)**- मुहम्मद-बिन-तुगलक का काल इतिहास का एक बड़ा ही विवादास्पद काल रहा है। यद्यपि उसकी सोच प्रगतिशील थी, परन्तु उसकी नीति विफल होती चली गई। इस कारण उसके विरुद्ध विद्रोह हुआ और इसका साम्राज्य विघटित हो गया।

उसने सुदूर दक्षिण तक अपने साम्राज्य का विस्तार कर एक अखिल भारतीय साम्राज्य की स्थापना की। फिर उसने अनेक प्रयोग किए, यथा- राजधानी परिवर्तन, सांकेतिक मुद्रा का प्रचलन, दोआब में प्रगतिशील खेती, खुरासान सैनिक अभियान तथा कराचिल अभियान। उसके सभी प्रयोग क्रमिक रूप से विफल होते चले गए। फिर उसके साम्राज्य में विघटन की प्रक्रिया शुरू हो गई-

- 1335 ई. में अहसान शाह के नेतृत्व में माबर (मदुरा) राज्य स्वतंत्र।
- 1336 ई. में हरिहर एवं बुक्का के अधीन विजयनगर राज्य स्वतंत्र।
- 1338 ई. में फकरुद्दीन मुबारक शाह के अधीन बंगाल स्वतंत्र।
- 1347 ई. में बहमन शाह के अन्तर्गत बहमनी राज्य स्वतंत्र।

■ **फिरोजशाह तुगलक (1351-1388 ई.)**- फिरोजशाह तुगलक का बल निम्नलिखित नीतियों पर रहा था -

1. उसने धार्मिक कट्टरता की नीति अपनाई, ताकि असन्तुष्ट उलेमाओं को खुश कर सके।
2. उसने राज्य को लोक कल्याणकारी स्वरूप दिया।
3. उसने व्यापक निर्माण कार्य पर बल दिया तथा संगीत पर कुछ संस्कृत ग्रंथों का फारसी में अनुवाद कराया।
4. उसने सिंचाई के विकास के लिए विशेष रूप में कार्य किया तथा यमुना और सतलज से नहर निकलवाई।

■ **फिरोजशाह तुगलक के पश्चात्**

फिरोजशाह तुगलक के बाद कमजोर शासकों का युग आरम्भ हुआ और एक के बाद दूसरे शासक बदलते रहे। इस वंश का अन्तिम शासक था नसीरुद्दीन महमूद। इसी के काल में 1398 ई. में हिन्दुस्तान पर तैमूर का आक्रमण हुआ। इसके बाद उसकी बची हुई प्रतिष्ठा भी धूमिल हो गई और फिर साम्राज्य के विघटन को बल मिला। 1401 ई. तक जाफर खान के नेतृत्व में गुजरात, दिलावर खान के नेतृत्व में मालवा तथा ख्वाजा जहाँ के नेतृत्व में जौनपुर स्वतंत्र हो गए। चूँकि ख्वाजा जहाँ को 'मलिक-उस-शर्क' की उपाधि मिली थी, इसलिए जौनपुर के शासक 'शर्की राजवंश' के कहलाए। 1412 ई. में नसीरुद्दीन महमूह की मृत्यु हो गई। फिर तैमूर के पंजाब स्थित गवर्नर खिज्र खाँ ने दिल्ली पर कब्जा कर लिया।

सैय्यद वंश
(1414 ई.-1451 ई.)

इस वंश का संस्थापक तैमूर का एक अधिकारी खिज्र खाँ था। खिज्र खाँ का उत्तराधिकारी मुबारक शाह हुआ। उसके दरबार में ही याहिया-बिन-अहमद 'सरहिन्दी' नामक लेखक ने 'तारिख-ए-मुबारकशाही' लिखी। इस वंश का अन्तिम शासक आलम खान हुआ, जिसने अपने सेनापति बहलोल लोदी के पक्ष में गद्दी त्याग दी। इस प्रकार लोदी वंश की स्थापना हुई।

लोदी वंश
(1451 ई.-1526 ई.)

यह हिन्दुस्तान में प्रथम अफगान वंश था और इसका संस्थापक बहलोल लोदी था। उसका उत्तराधिकारी सिकन्दर लोदी (1489-1517 ई.) एक योग्य सुल्तान था। उसने जौनपुर को जीतकर दिल्ली सल्तनत में मिलाया था। पूर्वी राजस्थान पर नियंत्रण के लिए उसने 1504 ई. में आगरा की स्थापना की थी। उसने अपने अमीरों को भी अनुशासित करने का प्रयत्न किया था। वह साहित्यिक जगत में 'गुलरुखी' के नाम से कविता लिखता था।

उसका उत्तराधिकारी इब्राहिम लोदी (1517-1526 ई.) हुआ। उसने अफगान अमीरों को अनुशासित करने का प्रयत्न किया था, अतः उन अमीरों ने विद्रोह करना शुरू कर दिया। 1518 ई. में उसने मेवाड़ के शासक महाराणा सांगा पर आक्रमण किया, परन्तु खटोली/खतोली के युद्ध में पराजित हो गया। इस

प्रकार, उत्तर भारत पर वर्चस्व स्थापित करने के लिए राजपूतों और अफगानों के बीच संघर्ष हो रहा था, तभी बाबर हिन्दुस्तान के दरवाजे पर दस्तक दे रहा था। 1526 ई. में पानीपत के प्रथम युद्ध में बाबर के विरूद्ध लड़ता हुआ वह मारा गया।

गौरतलब है कि, 16वीं शताब्दी का काल उत्तर भारत में राजनीतिक संक्रमण का काल था। इस समय भारत की राजनीतिक स्थिति विकेन्द्रीकृत थी जो किसी भी आक्रमणकारी के लिए उपयुक्त परिस्थिति होती है। इस समय दिल्ली का सुल्तान इब्राहिम लोदी एक केन्द्रीकृत साम्राज्य बनाने की कोशिश कर रहा था, तो वहीं दूसरी तरफ पंजाब का सूबेदार दौलत खाँ लोदी एवं इब्राहिम लोदी का चाचा आलम खाँ लोदी उसके इस कार्य को चुनौती प्रस्तुत कर रहे थे। इनके साथ-साथ राजपूत शासक राणा सांगा भी इब्राहिम की सत्ता को चुनौती दे रहा था। इब्राहिम को दिल्ली की सत्ता से उखाड़ने हेतु दौलत खाँ ने अपने पुत्र दिलावर खाँ के नेतृत्व में एक प्रतिनिधिमण्डल बाबर के पास भेजा ताकि बाबर दिल्ली से इब्राहिम को हटाकर आलम खाँ लोदी को शासक बना दे। इस घटना का विवरण बाबर स्वयं अपने जीवनी में देता है और कहता है कि "जब मैं काबुल में था तभी आलम खाँ लोदी और राणा सांगा के राजदूत आकर मुझसे मिले।" अत: इस स्थिति से स्पष्ट है कि आपसी राजनीतिक संघर्ष ने सल्तनत की राजनीति में बाबर के प्रवेश को आमंत्रित किया और आगे बाबर ने इब्राहिम को पराजित कर भारत में मुगल सत्ता की नींव डाली।

मुगल काल (1526 ई. के पश्चात्)

बाबर के आक्रमण के समय भारतीय उपमहाद्वीप का परिदृश्य

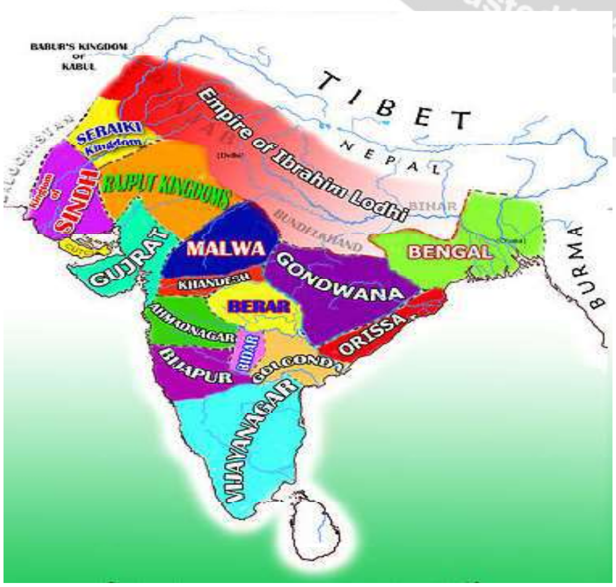

■ **बाबर (1526-1530 ई.)**- बाबर 1504 ई. में काबुल विजय करने के बाद निरन्तर हिन्दुस्तान की ओर देख रहा था। 1518 ई. में उसने भीरा के किले को जीता, जिस पर पहली बार तोपखाने का प्रयोग किया गया। फिर 1525 ई. में उसने पंजाब को जीत लिया। 1526 ई. में इब्राहिम लोदी के साथ पानीपत का प्रथम युद्ध लड़ा गया जिसमें उसने तुलगमा प्रणाली के साथ तोपखाने को जोड़कर युद्ध जीत लिया। फिर 1527 ई. में खानवा के युद्ध में महाराणा सांगा को पराजित किया। 1528 ई. में उसने अलवर को जीता और 1529 ई. में उसने अफगानों से घग्घर का युद्ध जीता। परन्तु काबुल के विद्रोह को दबाने के लिए जाते समय 1530 ई. में लाहौर में उसकी मृत्यु हो गई।

■ **हुमायूँ (1530-1556 ई.)**- हुमायूँ को सिंहासनारोहण के शीघ्र बाद ही कई चुनौतियों का सामना करना पड़ा। इनमें सबसे बड़ी चुनौती थी पश्चिमी अफगान एवं पूर्वी अफगान की चुनौती। एक तरफ उसके महत्वाकांक्षी भाई कामरान ने काबुल और कंधार के साथ-साथ लाहौर, पंजाब एवं हिसार-फिरोजा पर कब्जा कर लिया। दूसरी तरफ, उसने पूर्वी अफगानों को 1532 ई. के दौराह के युद्ध में पराजित किया। फिर पश्चिमी अफगानों में बहादुर शाह से उसे चुनौती मिली, परन्तु 1534 ई. तक उसने मालवा और गुजरात की विजय की। यद्यपि ये दोनों क्षेत्र उसके हाथ से निकल गए, परन्तु बहादुर शाह की शक्ति टूट गई।

पूरब में उसे सबसे अधिक चुनौती शेरशाह से मिली। 1539 ई. में चौसा के युद्ध और 1540 ई. में कन्नौज के युद्ध में शेरशाह के हाथों पराजित होने के बाद वह ईरान की ओर पलायन कर गया।

ईरान की सहायता से उसने अपने खोए हुए क्षेत्रों को पुन: प्राप्त किया। उसने कामरान से कांधार (1545 ई.) और काबुल (1553 ई.) प्राप्त कर लिया। फिर शेरशाह की मृत्यु के पश्चात् विघटित अफगान साम्राज्य से लाभ उठाकर उसने पंजाब (1555 ई.) तथा दिल्ली और आगरा (1555 ई.) जीत लिया, परन्तु जनवरी 1556 ई. में एक दुर्घटना में उसकी मृत्यु हो गई।

■ **अकबर (1556-1605 ई.)**- अकबर, भारत के महानतम शासकों में से एक था। वह न केवल साम्राज्य निर्माता था, अपितु उसने राज्य-नीति को एक पृथक दिशा दी। शासक बनने के शीघ्र बाद उसने बैरम खाँ की सहायता से सर्वप्रथम हेमू के विरूद्ध पानीपत का द्वितीय युद्ध जीता। फिर उसने 1556 ई. और 1560 ई. के बीच अजमेर, ग्वालियर और जौनपुर को जीता।

1562 ई. में उसके द्वारा मेड़ता विजय के पश्चात् अन्य राजपूत राज्य भी समर्पण करने लगे। फिर उसने 1573 ई. में गुजरात, 1575-76 ई. में बिहार, 1585 ई. में काबुल, 1586 ई. में कश्मीर का अधिग्रहण किया। 1601 ई. तक उसका साम्राज्य उत्तर में कश्मीर से लेकर दक्षिण में बरार, बालाघाट एवं खानदेश तक तथा पश्चिम में कांधार से लेकर पूरब में बंगाल तक फैल गया था।

■ **जहाँगीर (1605- 1627 ई.)**- जहाँगीर के काल में कोई बड़ा विस्तार नहीं हुआ। दक्षिण में शाहजादा खुर्रम ने अहमदनगर, बीजापुर और गोलकुंडा की सेना को पराजित किया इस पर खुश होकर जहाँगीर ने उसे 'शाहजहाँ' की उपाधि दी। जहाँगीर के काल में ही पहली बार सिसोदिया वंश के शासक और महाराणा प्रताप के उत्तराधिकारी अमर सिंह ने समर्पण किया था, परंतु 1622 ई. में जहाँगीर के काल में कंधार पर ईरानियों ने कब्जा कर लिया था।

■ **शाहजहाँ (1628-1658 ई.)**- शाहजहाँ के समय बुंदेला सरदार जुझार सिंह ने विद्रोह किया था, फिर दक्कन के सूबेदार खान-ए-जहाँ लोदी ने विद्रोह कर दिया। अब शाहजहाँ ने अहमदनगर को जीतने का निर्णय लिया और फिर 1633 ई. में अहमदनगर को जीतकर मुगल साम्राज्य में मिला लिया।

यद्यपि एक बार 1638 ई. में शाहजहाँ ने कंधार को प्राप्त कर लिया था, परन्तु 1648 ई. में मुगलों ने अंतिम रूप में कंधार को खो दिया।

■ **औरंगजेब (1659-1707 ई.)**- 1658 ई. में शाहजहाँ की बीमारी का फायदा उठाकर औरंगजेब अपने भाईयों के साथ उत्तराधिकार का युद्ध लड़ता रहा। फिर 1659 ई. में उसका सिंहासनारोहण हुआ। उसका शासनकाल अत्यधिक विवादास्पद है क्योंकि उसके विरुद्ध अनेक विद्रोह हुए, यथा- जाट विद्रोह, सतनामी विद्रोह, अफगान विद्रोह, राजपूत विद्रोह, सिख विद्रोह तथा मराठों के साथ संघर्ष।

सबसे बढ़कर वह दक्षिण में मराठा समस्या में उलझ गया। फिर उसने दूसरी गलती यह की कि दक्षिण में उसने अनियंत्रित विस्तार पर बल दिया तथा बीजापुर (1686 ई.) एवं गोलकुंडा (1687 ई.) को जीतकर मुगल साम्राज्य में मिला लिया। फिर उसने कृष्णा नदी से दक्षिण विस्तार की नीति अपनाई, परन्तु उसकी नीति विनाशक सिद्ध हुई और फिर वह दक्षिण में 25 वर्षों के एक लम्बे संघर्ष में उलझ गया तथा 1707 ई. में उसकी मृत्यु हो गई।

मध्यकालीन प्रशासन
(Administration during Medieval Period)

सल्तनतकालीन प्रशासन

■ केन्द्रीय प्रशासन

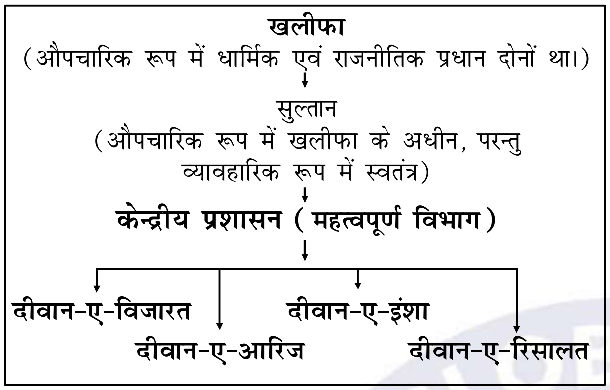

दिल्ली सल्तनत के प्रशासन का मुख्य केन्द्र सुल्तान होता था। सैद्धान्तिक रूप से सुल्तान खलीफा के अधीन होता था, किन्तु व्यावहारिक रूप में वह सिविल, सैनिक तथा न्यायिक मामलों का प्रधान होता था। सुल्तान के अतिरिक्त केन्द्रीय प्रशासन में बरनी निम्नलिखित चार प्रमुख विभागों की चर्चा करता है-

1. **दीवान-ए-विजारत**- यह विभाग 'वजीर' नामक अधिकारी के अंतर्गत होता था। औपचारिक रूप में वजीर को प्रधानमंत्री की हैसियत प्राप्त होती थी। यह विभाग भू-राजस्व का आकलन एवं अन्य प्रकार के राजस्वों का लेखा-जोखा तथा उनकी वसूली के लिए उत्तरदायी था।

2. **दीवान-ए-आरिज**- चूँकि राज्य की शक्ति का आधार एक सक्षम सैन्य तंत्र था, अतः 'दीवान-ए-आरिज' एक महत्वपूर्ण विभाग था। बलबन ने इस विभाग का गठन किया था। यह विभाग सैनिकों की नियुक्ति, उनका रख-रखाव एवं प्रशिक्षण, तनख्वाह का आबंटन आदि से सम्बद्ध था। यद्यपि मुख्य सेनापति सुल्तान ही होता था और वही युद्ध में सेना का नेतृत्व करता था, किन्तु सुल्तान के बाद 'अर्ज-ए-मुमालिक' ही सैनिक मामलों का प्रधान होता था।

3. **दीवान-ए-इंशा**- यह राजकीय पत्राचार विभाग था। इससे सम्बद्ध अधिकारी 'दबीर-ए-मुमालिक' होता था। यही विभाग विदेशी पत्राचार में मुख्य भूमिका अदा करता था। यह विभाग राजकीय फरमानों को जारी करता था तथा राजकीय आदेश, प्रान्तीय अधिकारियों तक प्रेषित करता था।

4. **दीवान-ए-रिसालत**- यह एक धार्मिक विभाग था, जो विद्वानों को सहायता और अनुदान प्रदान करता था। इसका प्रधान सद्र-उस-सुद्र था। वह धार्मिक आचरणों से संबंधित मुकदमों की सुनवाई भी करता था। इसी से सम्बद्ध काजी का विभाग भी होता था जो न्यायिक कार्य देखता था। यद्यपि वह न्याय की अन्तिम अपील नहीं था क्योंकि न्याय की अंतिम अपील स्वयं सुल्तान था। अधिकतर स्थिति में काजी और सद्र के पद एक ही व्यक्ति को दिये जाते थे।

■ विभिन्न सुल्तानों के द्वारा समय-समय पर स्थापित विभिन्न विभाग:

1. **दीवान-ए-वकुफ**- इस विभाग की स्थापना जलालुद्दीन खिलजी ने की थी। यह विभाग दीवान-ए-विजारत के अन्तर्गत कार्य करता था और यह विभाग व्यय के आकलन से सम्बद्ध था।
2. **दीवान-ए-मुस्तखराज**- इस विभाग की स्थापना अलाउद्दीन खिलजी ने की थी। यह विभाग भी दीवान-ए-विजारत के अन्तर्गत कार्य करता था और यह बकाया राशि की वसूली से सम्बद्ध था। अलाउद्दीन खिलजी ने भू-राजस्व की वसूली के लिए सरकारी अधिकारियों को अधिकृत किया था।
3. **दीवान-ए-रियासत**- अलाउद्दीन खिलजी ने बाजार नियंत्रण व्यवस्था के सफल संचालन के लिए इस विभाग की स्थापना की।
4. **दीवान-ए-कोही**- गंगा-यमुना दोआब में प्रगतिशील खेती के संचालन के लिए मुहम्मद-बिन-तुगलक ने इस विभाग की स्थापना की। यह विभाग भी दीवान-ए-विजारत के संरक्षण में ही कार्य करता था।
5. **दीवान-ए-खैरात**- निर्धन मुसलमानों को उनकी पुत्री की शादी में अनुदान देने के लिए फिरोजशाह तुगलक के द्वारा इस विभाग की स्थापना की गई थी।
6. **दीवान-ए-इश्तिहाक**- फिरोजशाह तुगलक के द्वारा वृद्ध जनों की देखभाल के लिए एक पेंशन विभाग की स्थापना की गई थी। यह विभाग उसी से संबंधित था।
7. **दीवान-ए-बंदगान**- दासों के रखरखाव के लिए फिरोजशाह तुगलक के द्वारा इस विभाग की स्थापना की गई थी। उसने दासों के निर्यात पर पाबंदी लगा दी थी।

■ दिल्ली सल्तनत के अधीन कुछ ऐसे अधिकारी, जो किसी विभाग से जुड़े हुए नहीं थे अर्थात् जिन्हें स्वतंत्र प्रभार दिया गया था-

1. **नायब-ए-ममलिकात**- यह सुल्तान के अधीन नायब सुल्तान (उप-सुल्तान) का पद था। सामान्यतः जब सुल्तान की स्थिति कमजोर होती, तो फिर इस पद का सृजन किया जाता था।
2. **सर-ए-जानदार**- यह सुल्तान के व्यक्तिगत अंगरक्षक दल का प्रधान होता था।

3. **अमीर-ए-मजलिस**- यह राजकीय उत्सव एवं समारोहों से संबद्ध प्रधान अधिकारी था।
4. **मीर-ए-आतिश**- तोपखाने का प्रधान।
5. **बरीद-ए-मुमालिक**- गुप्तचर विभाग का प्रधान।
6. **दीवान-ए-बयुतत**- राजकीय कारखाने का प्रधान।
7. **अमीर-ए-हाजिब**- यह अधिकारी दरबार के अनुशासन एवं अमीरों के पदानुक्रम के निर्धारण से संबद्ध था।

■ **प्रांतीय प्रशासन (इक्ता प्रशासन)**

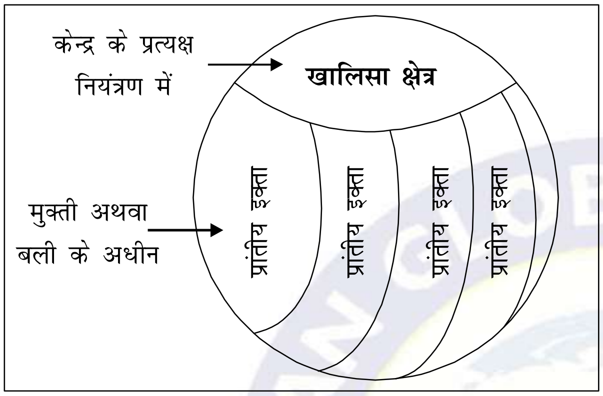

सल्तनत काल में कोई मानक प्रांतीय प्रशासन का विकास नहीं हुआ था, अपितु दूरवर्ती क्षेत्रों से राजस्व के संग्रह के लिए इक्ता व्यवस्था को आरम्भ किया गया था। इक्ता का अर्थ होता है-भूमि खंड। इसे राज्य के द्वारा विभिन्न अमीरों के बीच आबंटित किया जाता था। इक्ता व्यवस्था को व्यवस्थित करने का श्रेय इल्मुतमिश को दिया जाता है। साम्राज्य को बड़े-बड़े प्रांतीय इक्ता में बाँट दिया जाता था। उसका प्रधान मुक्ती अथवा वली कहलाता था। उससे अपेक्षा की जाती थी कि वह संबंधित क्षेत्र में राजस्व की वसूली करे और उससे अपने प्रशासनिक और सैनिक खर्च को पूरा करे तथा फवाज़िल रकम (बची हुई राशि) को केन्द्रीय खजाने में जमा करा दे। मुक्ती का पद वंशानुगत नहीं होता था तथा स्थानान्तरणीय था।

दूसरी तरफ, खालिसा भूमि, वह भूमि होती थी जिसकी आय सुल्तान के लिये सुरक्षित रखी जाती थी। खालिसा क्षेत्र का प्रशासन इक्ता प्रणाली से भिन्न होता था। इन क्षेत्रों पर नियंत्रण सदैव ही शहना, अमीर या मलिक नामक अधिकारी के माध्यम से किया जाता था।

■ **स्थानीय प्रशासन**

स्थानीय प्रशासन
↓
शिक → शिकदार
↓
परगना → चौधरी
↓
ग्राम → मुकद्दम (मुखिया)
→ पटवारी (अर्द्ध-सरकारी अधिकारी)

सल्तनत काल में हमें स्थानीय प्रशासन के बारे में स्पष्ट सूचना नहीं मिल पाती, किंतु ऐसा अनुमान किया जाता है कि इस काल में शिक और परगना जैसी प्रशासनिक इकाईयों का विकास हो गया था। प्रांत का विभाजन शिक में होता था। शिक के ऊपर 'शिकदार' नामक अधिकारी की नियुक्ति होती थी। शिक का विभाजन परगनों में होता था और इसके अधिकारी के रूप में 'चौधरी' का जिक्र मिलता है। प्रशासन की सबसे छोटी इकाई गाँव होती थी। गाँव का शासन कार्य चलाने के लिये मुकद्दम अथवा मुखिया होते थे। उसके सहयोग के लिए एक अर्द्ध-सरकारी अधिकारी, 'पटवारी' की नियुक्ति की जाती थी जिसके पास भूमि के कागजात होते थे।

मुगलकालीन प्रशासन

■ **केन्द्रीय प्रशासन**

मुगलकालीन प्रशासनिक संरचना
↓
बादशाह अथवा पादशाह
↓
केन्द्रीय विभाग
↓
- वकील अथवा वजीर (सम्मानजनक पद)
- दीवान-ए-आला अथवा दीवान-ए-कुल
- मीर बख्शी
- मीर-ए-समां अथवा खान-ए-समां
- सद्र-उस-सुद्र

सल्तनत काल से मुगल काल तक प्रशासनिक संरचना में निरंतरता तथा परिवर्तन के तत्व दृष्टिगत होते हैं। सल्तनत काल में फारसी संस्थाओं को देशी परिस्थितियों के अनुकूल ढालने का प्रयास किया गया। मुगल काल में प्रचलित संस्थाओं में सुधार लाकर उन्हें एक सुदृढ़ आधार प्रदान किया गया। मुगल प्रशासनिक ढाँचे की महत्त्वपूर्ण विशेषताएँ थीं- प्रशासनिक एकरूपता तथा रोक और संतुलन अर्थात् केंद्रीय प्रशासन में विभिन्न विभाग एक-दूसरे पर रोक और संतुलन स्थापित करते थे।

प्रशासन के शीर्ष पर बादशाह होता था। व्यवहार में वह अक्षुण्ण शक्ति का उपयोग करता था, वही राज्य का अंतिम कानून निर्माता, शासन व्यवस्थापक, न्यायाधीश और सेनापति था। मुगल काल में निम्नांकित विभाग कार्यरत थे-

1. **वकील या वजीर**- मध्य एशियाई तथा तैमूरी परंपरा में वकील को अत्यधिक शक्ति एवं प्रतिष्ठा प्राप्त थी। वह सरकार की विभिन्न शाखाओं, जिनमें राजस्व विभाग एवं सेना विभाग भी शामिल थे, निगरानी करता था। फिर आगे वकील के पद पर बैरम खाँ की नियुक्ति के साथ वकील की शक्ति और भी बढ़ गई। परंतु बैरम खाँ के विद्रोह के पश्चात् इस पद की महत्ता घटने लगी तथा यह पद औपचारिक रूप से बना तो रहा, परंतु इसकी शक्ति सीमित हो गई।

2. दीवान-ए-आला या दीवान-ए-कुल- वकील (वजीर) से वित्तीय शक्तियाँ वापस लेकर इस विभाग की स्थापना की गई थी। यह राजस्व निर्धारण, राजस्व की वसूली तथा आय-व्यय के ब्यौरे से संबद्ध विभाग था। राजकीय कोष का निरीक्षण तथा लेखा संबंधी जाँच करना उसका प्राथमिक कार्य था। वह प्रत्येक विभाग में होने वाले सभी लेन-देन एवं भुगतानों का व्यक्तिगत तौर पर निरीक्षण करता था। उसके अनुमोदन के बिना नियुक्ति तथा पदोन्नति संबंधी कोई नया आदेश जारी नहीं किया जा सकता था। दीवान के पद के महत्व को कम करने के लिये एक से अधिक दीवान की नियुक्ति की जाती थी, ताकि वे एक-दूसरे पर उचित रोक और संतुलन स्थापित कर सकें।

3. मीर बख्शी- मुगलकालीन केन्द्रीय प्रशासन का तीसरा महत्त्वपूर्ण विभाग मीर बख्शी का विभाग था। सल्तनत काल में भी यह विभाग मौजूद था, परंतु यह 'दीवान-ए-अर्ज' के नाम से जाना जाता था। मीर बख्शी साम्राज्य का सर्वोच्च भुगतान अधिकारी होता था। वह साम्राज्य के सभी सैनिक एवं असैनिक अधिकारियों को भुगतान करता था। वह मनसबदारों की नियुक्ति के लिये सिफारिश तथा उनके लिये जागीर की अनुशंसा करता था, जबकि जागीर देने का काम बादशाह की स्वीकृति के बाद दीवान-ए-आला करता था। इस प्रकार रोक एवं संतुलन के द्वारा दोनों एक-दूसरे को नियंत्रित करते थे। इसके अतिरिक्त, वह व्यक्तिगत तौर पर घोड़ों के दाग तथा सैनिकों की उपस्थिति की जाँच करता था। मीर बख्शी सम्राट के समक्ष सैन्य विभाग संबंधी सभी मामले रखता था।

4. मीर-ए-समाँ अथवा खान-ए-समाँ- सल्तनत काल में राजघराने की देख-रेख के लिए ऐसा कोई अलग विभाग नहीं था, परंतु मुगल काल में शाही हरम के प्रधान मीर-ए-समाँ को एक अलग विभाग का प्रधान माना जाता था। मीर-ए-समाँ अथवा खान-ए-समाँ राजकीय कारखानों का अधिकारी होता था। राजकीय महल की वस्तुओं की खरीद एवं उसके भंडारण की जिम्मेदारी भी उसी की थी। इसके अतिरिक्त, युद्ध के अस्त्र से लेकर विलास की वस्तुओं तक के उत्पादन का निरीक्षण करना भी उसका उत्तरदायित्व था। इस पद पर रोक एवं संतुलन स्थापित करने की उचित व्यवस्था की गई थी। उदाहरण के लिए, इस विभाग के द्वारा प्रस्तुत लेख, परीक्षण के लिए दीवान के विभाग में भी भेज दिया जाता था।

5. सद्र-उस-सुद्र - केंद्रीय प्रशासन से संबंधित एक महत्त्वपूर्ण विभाग सद्र-उस-सुद्र का विभाग था। सद्र-उस-सुद्र धार्मिक मामलों से संबंधित विभाग का अध्यक्ष था। यह बादशाह का मुख्य धार्मिक परामर्शदाता होता था। इसका मुख्य कार्य शरीयत के कानून का संरक्षण था। धार्मिक अनुदान का वितरण करना भी उसी के जिम्मे था। यह धार्मिक मामलों से संबंधित मुकद्दमे भी देखता था।

■ प्रांतीय प्रशासन

प्रांतीय प्रशासन (सूबा प्रशासन)
↓ रोक एवं संतुलन

सूबेदार अथवा नजीम (सामान्य प्रशासन)	प्रांतीय दीवान (भू-राजस्व प्रशासन)	प्रांतीय बख्शी (सैनिक कार्य)	प्रांतीय सद्र (धार्मिक विभाग)

मुगल काल में व्यवस्थित रूप में प्रांतीय प्रशासन की शुरुआत हुई। इसका श्रेय अकबर को दिया जाता है। अकबर ने अपने साम्राज्य को बारह सूबों में विभाजित किया था जो उसके शासन काल के अंत तक बढ़कर पंद्रह हो गए। अकबर की प्रशासनिक नीति दो सिद्धांतों द्वारा निर्देशित थी- प्रशासनिक एकरूपता तथा रोक एवं संतुलन।

1. सूबेदार अथवा नजीम- प्रांतीय प्रशासन, केन्द्रीय प्रशासन का ही प्रतिरूप था। प्रांतीय प्रशासन का प्रमुख नजीम, सूबेदार अथवा सरसूबा होता था। उसकी नियुक्ति सम्राट की आज्ञा से केन्द्रीय दीवान की अनुशंसा पर 3 वर्षों के लिए होती थी। वह प्रांतीय सेना का सेनापति था। वह कानून-व्यवस्था को बनाए रखने, सामान्य प्रशासन तथा प्रजा के कल्याण के लिए भी उत्तरदायी था।

2. प्रांतीय दीवान- केन्द्रीय दीवान की अनुशंसा पर बादशाह प्रांतीय दीवान की नियुक्ति करता था। वह एक स्वतंत्र अधिकारी था तथा सीधा केंद्र के प्रति उत्तरदायी था। वह सूबे के राजस्व विभाग का प्रमुख था। प्रांतीय दीवान, सूबे से की गयी राजस्व की वसूली का निरीक्षण करता था। वह सूबे के अधिकारियों और कर्मचारियों के वेतन आदि का पूरा ब्यौरा एवं अन्य व्यय संबंधी विवरण भी रखता था। इस प्रकार दीवान को सूबेदार से अलग करके तथा दीवान के हाथों में वित्तीय मामलों को देकर मुगल शासक सूबेदारों की शक्ति पर अंकुश लगाने में सक्षम हुए।

3. प्रान्तीय बख्शी- केन्द्रीय बख्शी की अनुशंसा पर इसकी नियुक्ति होती थी। वह केंद्र में कार्य कर रहे मीर बख्शी के समान प्रांतों में सेना की देखरेख करता था। वह सूबे में मनसबदारों द्वारा रखे गए घोड़ों और सैनिकों की जाँच और निरीक्षण करता था। वह मनसबदारों और सैनिकों का वेतन-पत्र जारी करता था। वह गुप्तचर सेवा का प्रधान भी होता था तथा साम्राज्य की सुरक्षा से संबंधित कतिपय संवेदनशील सूचना सीधा मीर बख्शी को प्रेषित करता था।

4. प्रांतीय सद्र- केंद्रीय सद्र के मॉडल पर प्रांत में भी एक सद्र के पद को स्थापित किया गया। सद्र आलिम फाजिलों के लिए अनुदानों की सिफारिश करता था तथा वह न्याय विभाग का भी प्रधान था।

■ स्थानीय प्रशासन

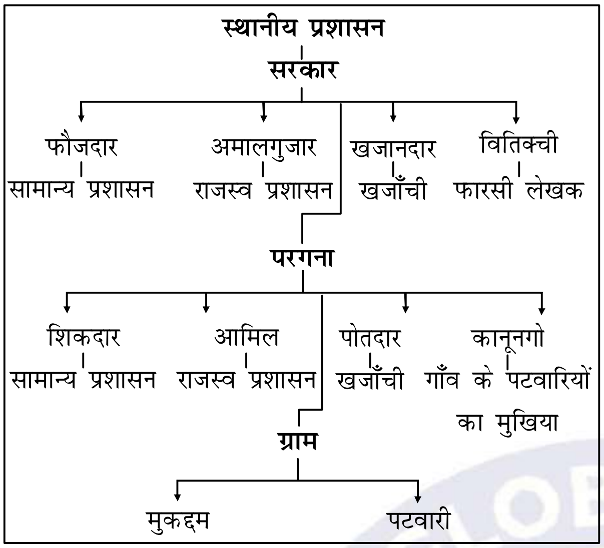

सरकार– प्रांत से नीचे की इकाई सरकार थी। सरकार स्तर पर प्रमुख अधिकारी थे– फौजदार, अमालगुजार, खजानदार एवं वितिक्ची।

- **फौजदार**– स्थानीय प्रशासन में फौजदार को मुगल साम्राज्य का सीधा प्रतिनिधि माना जाता था। फौजदार सरकार का कार्यकारी प्रधान होता था। उसका दायित्व मुख्य रूप से कानून और व्यवस्था बनाए रखना था, किंतु वह राजस्व की उगाही में आमिल या अमालगुजार की सहायता भी करता था। वह स्थानीय फौजों का भी निरीक्षण करता था। कभी-कभी एक सरकार में कई फौजदार होते थे और कभी-कभी दो सरकारों पर एक ही फौजदार की नियुक्ति होती थी।
- **अमालगुजार**– फौजदार के बाद सरकार में अन्य महत्त्वपूर्ण अधिकारी अमालगुजार था। अमालगुजार सर्वप्रमुख राजस्व समाहर्त्ता था। उसका मुख्य कार्य अपने अधीन अधिकारियों के माध्यम से राजस्व वसूली का निर्धारण और निरीक्षण करना था। एक अच्छे अमालगुजार से यह आशा की जाती थी कि वह अपने क्षेत्रों में कृषि का विस्तार करे और किसानों को बिना जोर-जबरदस्ती के राजस्व देने के लिए प्रेरित करे। सभी प्रकार के लेखा की देखरेख भी उसके जिम्मे थी। वह प्रतिदिन की वसूली तथा व्यय का ब्यौरा प्रांतीय दीवान को भेजता था। अमालगुजार के अंतर्गत दो अन्य अधिकारी होते थे– वितिक्ची तथा खजानदार। 'वितिक्ची' एक फारसी शब्द है जिसका अर्थ होता है 'लेखक'।

परगना– सरकार के नीचे की प्रशासनिक इकाई परगना थी। परगना से जुड़े निम्नलिखित अधिकारी थे–

- **शिकदार**– परगना का कार्यकारी अधिकारी शिकदार था। यह कानून व्यवस्था का संरक्षक था तथा भू-राजस्व के संग्रह में आमिल की सहायता करता था।
- **आमिल**– यह भू-राजस्व प्रशासन से जुड़ा था।
- **पोतदार**– खजाँची
- **कानूनगो**– यह गाँव के पटवारियों का मुखिया तथा स्वयं कृषि भूमि का पर्यवेक्षक होता था। अपने क्षेत्र से संबंधित भूमि का लेखा-जोखा कानूनगो अपने पास रखता था। अबुल फज़ल के अनुसार कानूनगो किसानों का आश्रयदाता था क्योंकि वही फसलों और लोगों इत्यादि का पूरा विवरण रखता था।

ग्राम प्रशासन– प्रशासन की सबसे छोटी इकाई ग्राम होती थी। इससे जुड़े हुए अधिकारी, मुकद्दम तथा पटवारी थे। मुकद्दम गाँव का मुखिया था, जबकि पटवारी ग्राम स्तर पर राजस्व का लेखा-जोखा रखता था। मुगल काल में ग्राम पंचायत की व्यवस्था थी तथा यह मुगल प्रशासनिक व्यवस्था से स्वतंत्र इकाई थी।

मनसबदारी व्यवस्था

'मनसब' फारसी शब्द है जिसका अर्थ होता है 'पद'। अकबर ने यह पद्धति अपने शासन के 19वें वर्ष अर्थात् 1575 ई. में लागू की। मनसबदारी पद्धति को मुगल प्रशासन का इस्पाती ढाँचा करार दिया जा सकता है। मनसबदारी पद्धति के माध्यम से अकबर ने अमीर वर्ग, सिविल अधिकारी तथा सैन्य अधिकारी सभी को एक-दूसरे से जोड़ने का प्रयास किया। मनसबदारी पद्धति के अंतर्गत प्रत्येक अधिकारी का पद जोड़े अंक में व्यक्त होता था– जात और सवार। उदाहरण के लिए–

जात रैंक/सवार रैंक

5000/5000

4000/3000

3000/1000

पहली संख्या (जात) से मनसबदार का व्यक्तिगत वेतन और पदानुक्रम में उसकी हैसियत और स्थान निर्धारित होता था। दूसरी संख्या (सवार) से मनसबदार द्वारा रखे जाने वाले घोड़ों एवं घुड़सवारों की संख्या तय होती थी और इस सेना के रख-रखाव के लिए देय राशि तय की जाती थी।

- अबुल फज़ल के अनुसार, मनसबदारों के कुल 66 ग्रेड थे जो 10 से लेकर 10 हजार के बीच होते थे, परन्तु व्यवहार में केवल 33 ग्रेड थे।
- सामान्यत: 5000 जात रैंक से अधिक मनसबदारी नहीं दी जाती थी। केवल रक्त संबंध के लोग और कुछ महत्वपूर्ण अमीर इसके अपवाद थे। उदाहरण के लिए, अकबर के काल में राजपूत मनसबदार राजा मानसिंह तथा औरंगजेब के काल में सवाई जयसिंह और जसवंत सिंह को सात हजार जात एवं सवार रैंक की मनसबदारी प्राप्त हुई।
- सामान्य तौर पर सवार रैंक, जात रैंक से अधिक नहीं हो सकती थी, परंतु विशेष परिस्थितियों में ऐसा संभव था।

- यद्यपि कुछ मनसबदारों को नकद में वेतन दिया जाता था और वे मनसबदार नकदी मनसबदार कहलाते थे, परंतु बड़े मनसबदारों का वेतन जागीर के रूप में दिया जाता था। इसे 'जागीर-ए-तनख्वाह' के नाम से जाना जाता था। जागीर-ए-तनख्वाह भूमि का आवंटन नहीं, अपितु राजस्व का आवंटन था।

■ **जागीर के प्रकार-**

1. **जागीर-ए-तनख्वाह-** यह सबसे प्रचलित जागीर थी जो मनसबदारों को दी जाती थी। इसमें जात रैंक एवं सवार रैंक के आधार पर किसी मनसबदार की वार्षिक तनख्वाह का निर्धारण होता था। फिर उन्हें उतनी आय की जागीर तनख्वाह के रूप में दी जाती थी।
2. **वतन जागीर-** यह जागीर राजपूत मनसबदार को वंशानुगत रूप में दी जाती थी। वतन जागीर स्वयं उन राजपूत शासकों का अपना क्षेत्र होता था जिस पर राज्य उनका नियंत्रण स्वीकार कर लेता था।
3. **मशरूत जागीर-** यह एक प्रकार की सशर्त जागीर होती थी जो किसी विशिष्ट कार्य के लिए मनसबदार को दी जाती थी, किंतु कार्य पूरा होते ही उसे वापस ले लिया जाता था। इसके माध्यम से अतिरिक्त घुड़सवारों का खर्च पूरा किया जाता था।
4. **अल्तमग्गा जागीर-** यह जागीर वतन जागीर के ही मॉडल पर मुस्लिम मनसबदारों को दी जाती थी।

- **दो अस्पा-सिह अस्पा पद्धति-** यह पद्धति जहाँगीर के काल में आरंभ हुई। इस पद्धति के तहत किसी मनसबदार के जात रैंक को बढ़ाए बिना उसके अधीन सवारों की संख्या दोगुनी (दो अस्पा) अथवा तिगुनी (सिह-अस्पा) की जा सकती थी। इसका उद्देश्य जात रैंक में परिवर्तन के बिना ही कुछ महत्वपूर्ण मनसबदारों की सेवा प्राप्त करना था।

■ **इक्तादारी पद्धति एवं जागीरदारी/मनसबदारी पद्धति में अंतर-** इक्तादारी पद्धति में मुक्ती को पहले इक्ता प्रदान किया जाता था, फिर उन्हें दायित्व दिया जाता था और उसी के अनुरूप उनकी तनख्वाह निर्धारित की जाती थी। परंतु जागीरदारी पद्धति में पहले मनसबदार का दायित्व निर्धारित किया जाता था और उसी के अनुरूप उनकी तनख्वाह का निर्धारण होता था तथा उन्हें जागीर दी जाती थी अर्थात् जागीरदारी व्यवस्था में फ़वाजिल की गुंजाइश नहीं थी। दूसरे, इक्ता व्यवस्था में मुक्ती को प्रशासनिक अधिकार प्रदान किया गया था, परंतु जागीरदारी व्यवस्था में प्रशासन का दायित्व राज्य के अंतर्गत था तथा जागीरदार को केवल अपनी जागीर से राजस्व वसूल करने का अधिकार था।

■ **जागीरदार व जमींदार में अंतर-** जैसा कि हम जानते हैं कि मनसबदार/जागीरदार सरकारी अधिकारी होते थे, जिनकी नियुक्ति राज्य के द्वारा की जाती थी तथा राज्य से उन्हें तनख्वाह प्राप्त होती थी। यह तनख्वाह प्रायः जागीर में दी जाती थी। जागीर में राजस्व हस्तांतरण होता था। दूसरे शब्दों में, जागीर के अंतर्गत कई गाँव का राजस्व शामिल होता था।

ग्रामीण क्षेत्रों में जमींदार भी होते थे जो पुश्तैनी होते थे और मुगल साम्राज्य से पहले से चले आ रहे थे। वे किसानों के उत्पादन के एक भाग पर पुश्तैनी रूप में अपना दावा रखते थे। मुगल साम्राज्य ने उन्हें अनुशासित करने का प्रयत्न किया। उन्हें भू-राजस्व संग्रह से भी जोड़ा तथा उत्पादन का एक अंश (कुल उत्पादन का लगभग 10%) 'नानकर' के रूप में स्वीकार किया। परंतु राज्य ने इस बात का भी ध्यान रखा कि वे ज्यादा शक्तिशाली न हों तथा राज्य के लिए समस्या पैदा न करें। इन जमीदारों की गतिविधियों पर फौजदार व जागीरदार दोनों नजर रखते थे।

■■■

मध्यकालीन अर्थव्यवस्था
(Economy during Medieval Period)

सल्तनतकालीन अर्थव्यवस्था

सल्तनत कालीन अर्थव्यवस्था

कृषि अर्थव्यवस्था
- सिंचाई को प्रोत्साहन
  1. रहट अथवा साकिया अथवा फारसी चक्र का प्रयोग
  2. तुगलक शासकों के काल में नहर-सिंचाई का विकास।
- अफीम, मेंहदी का उत्पादन शुरू हुआ।
- फिरोजशाह तुगलक ने 1200 बागीचे लगवाए।

शिल्प अथवा प्रौद्योगिकी
- धुनकी (मुहम्मद गोरी)
- चरखा- फुतुह-उस-सलातीन (इसामी)
- करघा (मिफ्ताह-उल-फुजाला)
- कागज एवं जिल्दसाजी
- आसवन विधि

व्यापार
- बेहतर कानून व्यवस्था
- साम्राज्य निर्माण
- मानक मुद्रा के रूप में चाँदी का टंका (इल्तुतमिश)
- सड़क एवं मार्गों का निर्माण
- उत्तर भारत का पश्चिम एशिया व मध्य एशिया से संबंध

नगरीकरण

तुर्की शासन की स्थापना ने आर्थिक क्षेत्र में महत्वपूर्ण परिवर्तन लाये तथा कृषि, दश्तकारी, वाणिज्य-व्यापार एवं नगरीकरण को प्रोत्साहन दिया।

कृषि अर्थव्यवस्था

इस काल में कृषि, बेहतर अवस्था में थी। भारत की भूमि उपजाऊ थी। बड़ी संख्या में पशुधन उपलब्ध थे। अत: पशुओं के गोबर का उपयोग बड़े पैमाने पर खाद के रूप में होता रहा होगा। अलाउद्दीन खिलजी के काल का एक अधिकारी ठक्कर फेरू 25 प्रकार की फसलों की चर्चा करता है। इस काल में सिंचाई हेतु साकिया या रहट पद्धति की शुरुआत हुई, जो गियर प्रणाली पर आधारित थी। इसके अतिरिक्त, इस काल में कुएँ से जल निकालने की कई प्रकार की विधियाँ प्रचलित थीं। फिरोजशाह तुगलक ने नहर सिंचाई को प्रोत्साहन दिया। इसके परिणामस्वरूप दिल्ली-हरियाणा क्षेत्र में कृषि उत्पादन में प्रगति हुई तथा खरीफ के अतिरिक्त रबी फसलें भी होने लगीं।

इस काल में परंपरागत फसलों की खेती के साथ-साथ नवीन फसलों के रूप में अफीम, मेंहदी आदि का प्रचलन शुरू हुआ। सबसे बढ़कर, बागवानी फसलों को अत्यधिक प्रोत्साहन मिला। उदाहरण के लिए, फिरोजशाह तुगलक के द्वारा दिल्ली एवं आस-पास के क्षेत्रों में 1200 बगीचों का निर्माण कराया गया।

शिल्प अथवा प्रौद्योगिकी

तुर्कों के साथ भारत में कुछ नवीन शिल्पों का आगमन हुआ। इन शिल्पों ने उत्पादन को प्रोत्साहन दिया। उदाहरण के लिए, मुहम्मद गोरी के काल में ही भारत में **'धुनकी'** का प्रचलन आरम्भ हो गया। इसके माध्यम से रूई को साफ करना आसान हो गया। फिर जैसा कि 14वीं शताब्दी का एक ग्रंथ **'फुतुह-उस-सलातीन'** हमें सूचित करता है कि इस काल में **'चरखा'** का प्रचलन आरंभ हो गया था, चरखे के प्रचलन के साथ सूत की कताई में छ: गुनी वृद्धि हो गयी। उसी प्रकार, **'मिफ्ताह-उल-फुजाला'** नामक ग्रंथ से करघे के उपयोग की सूचना मिलती है। इसके कारण वस्त्रों की बुनाई को प्रोत्साहन मिला। इस काल में कागज एवं जिल्दसाजी का प्रयोग भी आरंभ हुआ। कागज का प्रचलन सर्वप्रथम गुजरात में आरंभ हुआ था। तुर्की लोग अपने साथ निर्माण की एक नवीन तकनीकी लेकर आए थे। इस काल में विनिर्माण कार्य मेहराब तथा गुंबद की तकनीकी पर आधारित था। फिर इस काल में पत्थरों को जोड़ने के लिए गारे के रूप में चूने और जिप्सम का प्रयोग भी आरंभ हुआ। इसके कारण विनिर्माण कार्य को प्रोत्साहन मिला। इस काल में आसवन विधि के प्रयोग की भी सूचना मिलती है। इसके कारण बेहतर किस्म की शराब बनाया जाना संभव हुआ। फिर सल्तनत काल में ही बंगाल में मलबरी रेशम का उत्पादन आरंभ हुआ।

वाणिज्य-व्यापार

वाणिज्य-व्यापार को प्रेरित करने वाले निम्नलिखित कारक थे-

1. एक लंबे काल के पश्चात् फिर एक बार उत्तरी भारत, पश्चिम एशिया एवं मध्य एशिया के क्षेत्र से घनिष्ठ रूप में संबद्ध हो गया।
2. सल्तनत के अंतर्गत कानून व्यवस्था की स्थिति सुदृढ़ हुई तथा राजनीतिक स्थायित्व कायम हुआ।
3. अलाउद्दीन खिलजी एवं मुहम्मद-बिन-तुगलक जैसे सुल्तानों के द्वारा मार्गों के निर्माण को प्रोत्साहन दिया गया।
4. इस काल में एक लंबे काल के पश्चात् मानक मुद्रा (टंका, जीतल) का प्रचलन आरंभ हुआ।
5. इस काल में नवीन तकनीकी के आगमन के परिणामस्वरूप कुछ नवीन उत्पादन केन्द्रों का विकास हुआ।

6. इस काल में एक नए अभिजात्य वर्ग के आगमन ने विलासिता संबंधी वस्तुओं की माँग बढ़ा दी।
7. अलाउद्दीन खिलजी की बाजार नियंत्रण व्यवस्था ने भी अनाजों की मंडी कायम की तथा प्रेरित व्यापार को प्रोत्साहन दिया।

■ **आंतरिक और बाह्य व्यापार**– सल्तनत काल में हम तीन भिन्न प्रकार की व्यापारिक संरचनाएँ देखते हैं–

1. गाँव एवं नगर के बीच– गाँव से अनाज एवं कच्चे माल नगर को पहुँचते थे, परंतु बदले में गाँव को कुछ नहीं मिलता था। ये सामग्रियाँ भू-राजस्व के माध्यम से नगर तक पहुँचती थीं।

2. नगर से नगर के बीच– नगर एवं नगर के बीच भी आंतरिक व्यापार की एक संरचना कायम थी। उदाहरण के लिए, मुल्तान, दिल्ली से चीनी मँगाता था, तो मेरठ एवं अलीगढ़ से शराब।

3. भारत से बाहर के क्षेत्रों के साथ व्यापार– इस काल में विदेश-व्यापार को भी प्रोत्साहन मिला। पश्चिम में भारत का संबंध पश्चिम एशिया, मध्य एशिया तथा पूर्वी अफ्रीका के क्षेत्रों से था, वहीं पूरब में भारत का संबंध चीन तथा दक्षिण-पूर्व एशिया के देशों के साथ था।

■ **मुद्रा व्यवस्था**

मुद्रा के मानकीकरण का काम इल्तुतमिश ने किया। उसने चाँदी से निर्मित टंका तथा ताँबे की मुद्रा जीतल चलायी। फिर उसने ताँबे की छोटी मुद्रा के रूप में दाम व दिरहम को भी स्थापित किया। मुहम्मद-बिन-तुगलक के काल में पहली बार सांकेतिक मुद्रा का प्रयोग हुआ।

नगरीकरण

समकालीन ग्रंथों में जिन प्रमुख नगरों का विवरण मिलता है, वे हैं– दिल्ली, मुल्तान, अन्हिलवाड़ा (पाटन), खम्भात, कड़ा, लखनौती, दौलताबाद तथा लाहौर। इब्नबतूता ने, जो 1333 ई. में भारत आया था, लिखा है कि दिल्ली संपूर्ण पूर्वी इस्लामी साम्राज्य में आकार तथा जनसंख्या के मामले में सबसे बड़ा था। वस्तुतः राजनीतिक, प्रशासनिक और सांस्कृतिक कारकों ने सल्तनत काल में नगरीय अर्थव्यवस्था के विस्तार को विशेष रूप से प्रोत्साहन दिया।

भारत में तुर्की शासक वर्ग के लोग अल्पसंख्यक थे। अतः सुरक्षा को ध्यान में रखकर कुछ खास क्षेत्रों में सैनिक शिविर स्थापित किए गए। जहाँ शासक वर्ग स्थापित थे, उनके आस-पास सैनिक शिविर स्थापित हुए। फिर शासक वर्ग की आवश्यकता के अनुकूल दूरस्थ क्षेत्रों में संसाधनों का आगमन हुआ और फिर देखते-देखते ये क्षेत्र नगर के रूप में विकसित हो गए। दूसरे, प्रशासनिक केन्द्रों का विकास भी नगर के रूप में होने लगा। इक्ता मुख्यालय में भी शासक वर्ग के लोग थे तथा इसका विकास प्रशासनिक केन्द्रों के रूप में हुआ। फिर ये भी नगर के रूप में स्थापित हो गए। तीसरे, मंगोल आक्रमण के कारण हिंदुस्तान में बड़ी संख्या में विद्वानों और साहित्यकारों का आगमन हुआ। अतः सांस्कृतिक गतिविधियों पर आधारित कुछ नगरों का विकास हुआ। फिर, सूफी संतों के दरगाह तथा खानकाह आगे नगर के रूप में विकसित होते चले गए क्योंकि श्रद्धालुओं की भीड़ वहाँ इकट्ठा होने लगी।

अंत में, नगरों के निर्माण में कुछ सुल्तानों ने भी रूचि दिखायी। उदाहरण के लिए, अलाउद्दीन खिलजी ने पूर्वी राजस्थान में 'झाइन' नामक नगर स्थापित किया। यह आगे 'शहर-ए-नौ' के नाम से जाना गया। उसी प्रकार, फिरोजशाह तुगलक ने जौनपुर, फिरोजपुर, हिसार-फिरोजा, फिरोजाबाद और फतेहाबाद अनेक नगरों की स्थापना की। इस तरह सल्तनत के अधीन नगरीकरण का विस्तार देखा गया।

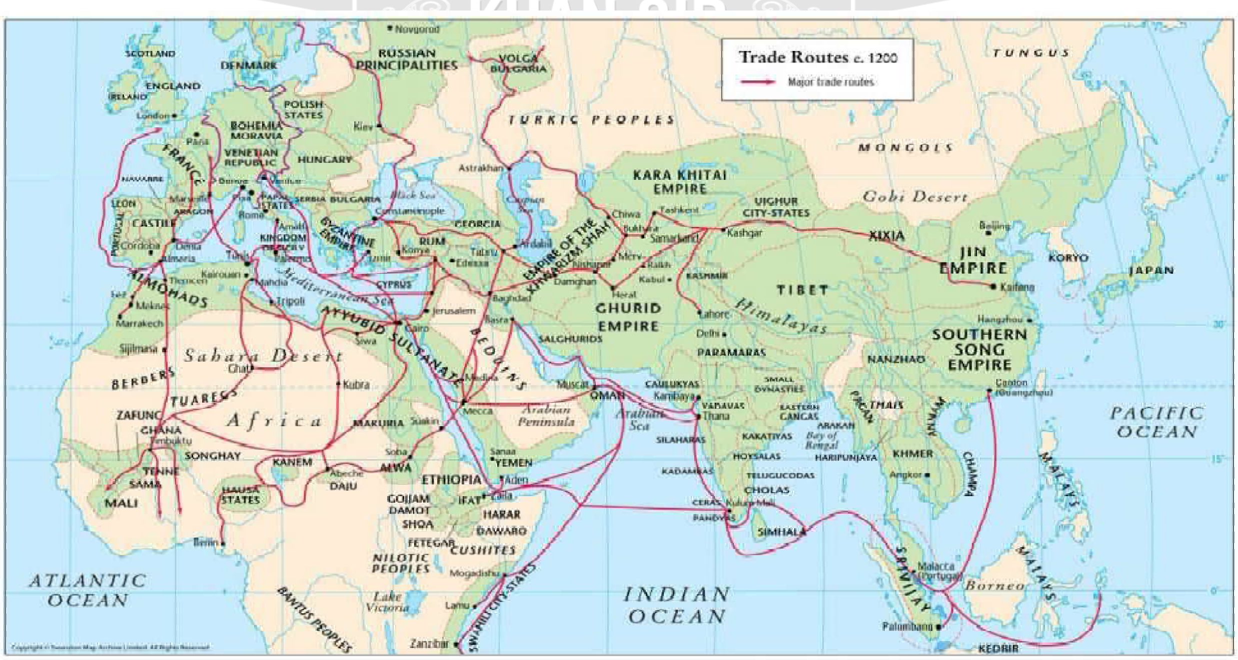

मुगलकालीन अर्थव्यवस्था

कृषि
- बंजर भूमि का विकास।
- किसानों को तकावी ऋण अथवा सोन्धर दिया जाता था। (मुहम्मद-बिन-तुगलक)
- सिंचाई – लीवर प्रणाली का प्रयोग
- फसलों के प्रकार –
  1. तंबाकू एवं मक्का (17वीं सदी)
  2. आलू, लाल मिर्च, काजू, (18वीं सदी) पपीता, अनानास

शिल्प एवं तकनीकी
- अकबर – मेचलॉक की जगह फिंटलॉक तकनीकी का प्रयोग

व्यापार
- काबुल एवं कांधार पर नियंत्रण।
- मानक मुद्रा – रूपया एवं दाम (शेरशाह)
- विश्व स्तर का इन्फ्रास्ट्रक्चर
- बेहतर कानून व्यवस्था
- जहाँगीर के द्वारा व्यापार की सुरक्षा पर बल।
- यूरोपीय कंपनियों की भूमिका।

नगरीकरण

कृषि अर्थव्यवस्था

मुगल काल में भारत विश्व के सबसे आबाद क्षेत्रों में से एक था। भारत के भौगोलिक आकार के कारण यहाँ मिट्‌टी में विविधताएं थीं तथा पर्यावरणीय स्थिति में भी विभिन्न क्षेत्रों के बीच अंतर था। यूरोप की तुलना में भारत की मिट्‌टी उपजाऊ थी। जहाँ यूरोप में एक फसल बोयी जाती थी, वहीं भारत में दो फसलें बोयी जाती थीं तथा फिर कहीं-कहीं दो फसलों के बीच की अवधि में एक तीसरी फसल भी बोयी जाती थी।

कृषि, अर्थव्यवस्था का आधार थी। अत: राजकीय आमदनी में वृद्धि के लिए कृषि का विकास आवश्यक था। उस काल में जनसंख्या कम थी तथा कृष्य भूमि की व्यापक उपलब्धता थी, इसलिए राज्य का बल होता था कि किसान भूमि से बँधे रहे। औरंगजेब के काल के एक फरमान से, जो रसिकदास के नाम से जारी किया गया, यह ज्ञात होता है कि राज्य की यह चिंता थी कि जिस भूमि को किसान खाली कर गए हैं, नए किसानों की सहायता से उसे आबाद किया जाए। राज्य की ओर से अमालगुजारों को यह निर्देश होता था कि वे किसानों को सहायता प्रदान करें तथा फिर राज्य की ओर से किसानों के लिए कृषि ऋण की भी सुविधा थी। राज्य के द्वारा सिंचाई को भी प्रोत्साहन दिया जाता था। इस काल में सिंचाई के साधन के रूप में कुएँ, तालाब, जलाशय के साथ-साथ नहरों के विकास पर भी बल दिया जाता था। कुएँ से पानी निकालने के लिए ढेकुल, चरस तथा साकिया का प्रयोग किया जाता था। इस काल में जागीरदार तथा 'मदद्-ए-माश' प्राप्तकर्त्ता से भी यह अपेक्षा जाती थी कि वे कृषि के विकास में सक्रिय योगदान दें। मुगलकालीन साहित्य में विभिन्न प्रकार की फसलों का जिक्र मिलता है। अबुल फजल की आइन-ए-अकबरी में रबी (19-21) और खरीफ (17-21) फसलों की एक लंबी सूची दी गयी है। इस काल में नगरीय जनसंख्या की आवश्यकता खाद्यान्नों के उत्पादन के माध्यम से पूरी की गयी। इस काल में नकदी फसलों में गन्ना, कपास, नील और अफीम प्रमुख थे। इन्हे 'जिंस-ए-कामिल' कहा जाता था। फिर 17वीं सदी में नकदी फसल के रूप में तम्बाकू और मक्का जुड़ गए। ये फसलें नई दुनिया से आई थीं। 17वीं सदी के उत्तरार्द्ध में कॉफी की खेती भी आरंभ हो गई और 18वीं सदी में आलू, लाल मिर्च तथा टमाटर की खेती प्रारंभ हुई। इस काल में फलों की नई-नई किस्म विकसित हुई क्योंकि कलम लगाने की पद्धति का विकास हुआ। मुगलों के अधीन राजाओं और राजकुमारों के निजी बगीचे होते थे। उनसे उन्हें आर्थिक लाभ प्राप्त होता था। नकदी फसलों की खेती के कारण कृषि अर्थव्यवस्था का मौद्रीकरण हुआ।

शिल्प एवं तकनीकी

मुगल काल में उन्नत वाणिज्य-व्यापार ने शिल्प उत्पादन को प्रोत्साहन दिया। शिल्प उत्पादन की खपत मुख्यत: घरेलू बाजार में होती थी, किन्तु 17वीं सदी में भारतीय हस्तशिल्प उद्योगों को एक बड़ा विदेशी बाजार भी प्राप्त हुआ। इसका कारण था यूरोपीय व्यापारिक कंपनियों की भूमिका। इन्होंने व्यापार में एक प्रकार की क्रांति ला दी। पुर्तगीज कंपनी मुख्यत: मसाला व्यापार से ही संबद्ध रही थी, किन्तु ब्रिटिश एवं डच कंपनियों ने भारत में वस्त्र उद्योग को अत्यधिक प्रोत्साहन दिया। इस काल में सूती वस्त्र उद्योग को व्यापक प्रोत्साहन मिला क्योंकि उसे पश्चिम में एक बड़ा बाजार प्राप्त हुआ। उत्तर भारत में गुजरात एवं बंगाल सूती वस्त्र के महत्वपूर्ण केन्द्र थे। दक्षिण भारत में देवगिरी एवं वारंगल भी सूती वस्त्र उत्पादन के लिए जाने जाते थे। इस काल में सूती वस्त्र उत्पादों की विविधता का अनुमान इस तथ्य से लगाया जा सकता है कि हमीदा नकवी ने पाँच ऐसे सूती वस्त्र उत्पादन केन्द्रों का जिक्र किया है जहाँ 49 प्रकार के कपड़े बनते थे। कपड़ों की छपाई एवं रंगाई भी

महत्वपूर्ण शिल्प थी। फिर इस काल में रेशमी एवं ऊनी वस्त्रों का भी अत्यधिक उत्पादन हुआ। कश्मीर को रेशम उत्पादन का केन्द्र माना जाता था। इसके अतिरिक्त बनारस भी रेशमी वस्त्र उत्पादन का एक केन्द्र था। किन्तु इसका सबसे महत्वपूर्ण केन्द्र बंगाल था। यहाँ 15वीं सदी से ही मलबरी रेशम का उत्पादन होने लगा था।

मुगलकाल में एक महत्वपूर्ण आर्थिक गतिविधि थी – कालीन बुनाई तकनीकी का विकास। अकबर के काल में ईरानी मॉडल पर कालीन बुनाई को प्रोत्साहन मिला तथा उत्तर भारत में लाहौर, आगरा और फतेहपुर सीकरी उसके महत्वपूर्ण केन्द्र के रूप में उभरे। इसके अतिरिक्त दिल्ली, मिर्जापुर, वारंगल और मसूलीपट्टम् में भी कालीनों की बुनाई होने लगी।

इसके अतिरिक्त, बाबर के आगमन के साथ ही भारत में तोड़ेदार बन्दूकों का प्रयोग प्रारम्भ हो गया था। फिर यूरोपीयों के संपर्क में मुगल तकनीकीविद् भी 'व्हील लॉक' तथा 'फ्लिंट लॉक' जैसी विधि से परिचित हो सके, यद्यपि उनका सीमित प्रयोग ही हुआ होगा। उसी प्रकार, अकबर ने एक ऐसी बैलगाड़ी का निर्माण किया, जो सामान ढोने के साथ-साथ अनाज पीसने का काम भी करती थी। उसी तरह, उसे एक ऐसी बंदूक निर्मित करने का भी श्रेय दिया जाता है, जो एक साथ 17 गोलियाँ दागती थी। उसी तरह यूरोपीय प्रभाव में जहाज निर्माण में कीलों का प्रयोग होने लगा तथा लौह लंगर का प्रचलन प्रारम्भ हुआ। भारतीय भी यूरोपियों की तरह जहाजों से पानी निकालने के लिए चेन पंप का प्रयोग करने लगे। इस प्रकार हम देखते हैं कि मुगल काल में विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी का विकास अवरुद्ध नहीं हुआ था। फिर भी यूरोप की तरह इसका व्यापक विस्तार नहीं हो सका, वरन् विज्ञान निजी स्तर पर ही फलता-फूलता रहा।

वाणिज्य-व्यापार

मुगल शासन ने भारत में कुछ ऐसे कारकों को जन्म दिया, जिसके परिणामस्वरूप आंतरिक एवं बाह्य व्यापार दोनों को प्रोत्साहन मिला। आंतरिक व्यापार को निम्नलिखित कारकों ने प्रेरित किया-

प्रथम, मुगलों के अधीन एक शक्तिशाली साम्राज्य की स्थापना हुई। इस मुगल साम्राज्य का महत्वपूर्ण बंदरगाहों पर भी नियंत्रण रहा। फिर इस काल में कानून-व्यवस्था की स्थिति भी सुदृढ़ हुई। इस काल में राज्य के द्वारा नकद में भू-राजस्व की वसूली पर विशेष बल दिया गया। इस प्रकार अर्थव्यवस्था के मौद्रीकरण को विशेष प्रोत्साहन मिला। शेरशाह के द्वारा ही मानक मुद्रा के रूप में रुपया और दाम को स्थापित कर दिया गया था। मानकीकृत मुद्रा ने भी वाणिज्य-व्यापार को अपने ढंग से प्रोत्साहित किया।

परंपरागत रूप में ऐसा माना जाता था कि मुगल मध्य एशिया से आए थे, इसलिए वे व्यापार के प्रति उदासीन थे। परंतु हाल के अनुसंधान में यह स्थापित होता है कि मध्य एशियाई राज्य घास से भरे वृक्षहीन विस्तृत मैदान (स्टेपी) में पड़ते थे, जिसमें कृष्य भूमि का अभाव था, इसलिए उनसे होकर पूरब से पश्चिम तथा उत्तर से दक्षिण जाने वाली सड़कों के उस जाल के महत्व के प्रति वे और भी जागरूक थे, जिन पर व्यापारिक वस्तुओं का आवागमन होता था। यही वजह है कि मुगल शासकों ने वाणिज्य-व्यापार के विकास में व्यक्तिगत रूचि दिखायी। उदाहरण के लिए, जहाँगीर के द्वारा व्यापारियों को अतिरिक्त सुरक्षा प्रदान की गई। फिर यातायात तथा संचार व्यवस्था के विकास ने भी व्यापारिक गतिविधियों को प्रोत्साहन दिया। आंतरिक व्यापार को सड़कों का एक जाल सुगम बनाता था। शेरशाह के पश्चात् लगभग सभी महत्वपूर्ण शासकों ने यातायात सुविधाओं को बढ़ाने का प्रयत्न किया। भारत में परिवहन का प्रबंधन उस काल के यूरोप की तुलना में बेहतर था। मुख्य सड़कों पर आठ-आठ या दस-दस मीलों की दूरी पर सराय बने हुए थे।

उपर्युक्त बातों के अतिरिक्त एक ऐसी वित्त व्यवस्था के विकास से भी माल के संचालन में सुविधा हुई, जिसके अधीन धन को एक स्थान से दूसरे स्थान तक आसानी से पहुँचाया जा सकता था। यह काम हुण्डियों के द्वारा किया जाता था। हुंडी एक साख पत्र थी, जिसका भुगतान एक खास अवधि के बाद बट्टा काटकर किया जाता था। हुंडी में प्रायः बीमे का भी समावेश होता था, जो माल की कीमत, गंतव्य, परिवहन की किस्म आदि के अनुसार अलग-अलग होती थी।

16वीं सदी तथा 18वीं सदी के बीच का काल विदेश व्यापार के विकास की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण काल है। इस काल में कतिपय कारकों ने विदेश व्यापार को भी प्रोत्साहन दिया-

मुगलों के अंतर्गत काबुल तथा कंधार भारतीय साम्राज्य के अंग बन गए थे। ये दोनों क्षेत्र क्रमशः पश्चिम एशिया तथा मध्य एशिया के महत्वपूर्ण व्यापारिक मार्गों पर स्थित थे। इस काल में स्वयं शाही घराना तथा कुछ महत्वपूर्ण कुलीनों के द्वारा वाणिज्य-व्यापार के विकास में विशेष रूचि ली गई। प्रमुख अमीरों के भी अपने जहाज होते थे, जो लाल सागर के बंदरगाहों और दक्षिण-पूर्व एशिया की नियमित यात्रा करते थे। उदाहरण के लिए, जहाँगीर, नूरजहाँ तथा शाहजादा खुर्रम के पास अपने जहाज थे, जो सूरत और लाल सागर के बंदरगाहों के बीच चलते थे। व्यापार के विकास का एक कारण इस काल में तीन

शक्तिशाली एशियाई राज्यों–तुर्की, सफ़वी और मुगल राज्यों का उदय था। चीन के मिंग साम्राज्य की भूमिका की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। इन साम्राज्यों ने न केवल कानून और व्यवस्था स्थापित करके वाणिज्य–व्यापार तथा वस्तु निर्माण के अनुकूल अवस्था उत्पन्न की, बल्कि शहरीकरण तथा अपनी–अपनी अर्थव्यवस्था के मौद्रीकरण में भी सहायता दी। उपर्युक्त बातों के अतिरिक्त यूरोपीय कंपनियों के आगमन ने विदेश व्यापार को गति प्रदान की।

नगरीकरण

मुगल साम्राज्य की स्थापना ने आर्थिक क्षेत्र में कई सकारात्मक परिवर्तनों को जन्म दिया। इन परिवर्तनों में एक है–नगरीकरण की प्रक्रिया को प्रोत्साहन। 'तृतीय नगरीकरण' की यह प्रक्रिया, जो 10वीं सदी में आरंभ हुई, मुगल काल में अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गयी। यह वह काल है जब बड़ी संख्या में गाँव का विकास कस्बों के रूप में हुआ और कुछ कस्बे नगर के रूप में विकसित हो गए। इस काल का एक महत्वपूर्ण फारसी लेखक निजामुद्दीन अहमद 120 बड़े शहरों तथा 3200 कस्बों का जिक्र करता है। नगरीकरण की प्रक्रिया के प्रोत्साहन के लिए निम्नलिखित कारण उत्तरदायी थे–

1. अर्थव्यवस्था का मौद्रीकरण हो रहा था क्योंकि भू–राजस्व के नकद संग्रह पर बल दिया जा रहा था। अत: गाँव के नजदीक अनाजों की मण्डी का विकास होने लगा और फिर ये मण्डियाँ कस्बे के रूप में विकसित हो गईं।
2. मुगल शासकों के द्वारा बड़ी संख्या में 'मदद्–ए–माश' भूमि प्रदान की गई। ये क्षेत्र भी मुस्लिम जनसंख्या पर आधारित कस्बे तथा नगर के रूप में विकसित हो गए।
3. साम्राज्य की राजधानी तथा प्रांतीय राजधानियों का विकास भी नगर के रूप में हुआ। उदाहरण के लिए, दिल्ली, आगरा, इलाहाबाद, लखनौती आदि।
4. कुछ क्षेत्रीय शासकों की राजधानियाँ भी नगर के रूप में विकसित हो गईं। उदाहरण के लिए, दौलताबाद, हैदराबाद, बुरहानपुर आदि।
5. कुछ ऐसे भी नगर थे जो उत्पादन से भी जुड़े थे, किंतु नगर के रूप में उनके विकास में धार्मिक कारक ने महत्वपूर्ण भूमिका निभायी, जैसे–मथुरा, बनारस आदि।
6. कुछ नगरों का विकास विशिष्ट उत्पादन के कारण भी हुआ था। जैसे–बयाना, नील उत्पादन के कारण, खैराबाद, सूती वस्त्र के कारण।
7. कुछ नगरों का विकास व्यक्तिगत प्रयासों का भी परिणाम हो सकता है। जैसे–शाहजहाँ के दो अमीरों ने शाहजहाँपुर नामक नगर बसाया।

मध्यकालीन समाज
↓
क्षैतिज विभाजन
↓
- हिन्दू
  ↓
  लम्बवत् विभाजन
  ↓
  - वर्ण एवं जाति
  - महिलाओं की सामाजिक दशा में गिरावट- पर्दा प्रथा, जौहर प्रथा
- मुसलमान
  ↓
  मिल्लत अथवा अवाम की अवधारणा
  ↓
  भारतीय जाति व्यवस्था का प्रभाव
  ↓
  - अशराफ (सबसे श्रेष्ठ मुसलमान)
  - अजलाफ (निम्न जाति से आये थे।)
  - अरजाल (अछूत मुसलमान)

तुर्की शासन की स्थापना का उत्तर भारत के समाज पर एक महत्वपूर्ण प्रभाव था- समाज का क्षैतिज विभाजन। इससे पूर्व हिन्दू समाज वर्ण एवं जाति के आधार पर लम्बवत् रूप में विभाजित था, परन्तु अब हिन्दू और मुसलमान के बीच क्षैतिज रूप में विभाजन हो गया।

हिन्दू समाज

आरम्भ में 'हिन्दू' शब्द का प्रयोग भौगोलिक क्षेत्र के सन्दर्भ में हुआ था, परन्तु तुर्की शासन की स्थापना के पश्चात् भारत में निवास करने वाले गैर तुर्की लोगों को 'हिन्दू' कहा जाने लगा।

उस काल में हिन्दू समाज वर्ण व जाति में विभाजित था। सैद्धान्तिक तौर पर हिन्दू समाज चार वर्णों में विभाजित था- ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। इस काल तक आकर उन वर्णों की हैसियत में परिवर्तन आने लगा था। चूँकि यह संकट का काल था, इसलिये पहले ब्राह्मणों के लिये, जो व्यवसाय आपद् धर्म के रूप में स्वीकृत किया गया था, वह अब सामान्य तौर पर अपना लेने की छूट दी गयी।

क्षत्रिय वर्ण की स्थिति सामान्य रही, हालांकि तुर्की आक्रमण से राजपूतों की शक्ति को धक्का लगा था। फिर इस काल में वैश्यों की सामाजिक दशा में थोड़ी गिरावट देखी गयी। पीछे अलबरुनी के द्वारा भी इस बात की पुष्टि की गयी थी कि शूद्रों के साथ-साथ वैश्यों को भी वेद पाठ करने एवं उसे सुनने का अधिकार नहीं है।

फिर वर्ण एक आदर्श परिकल्पना थी, वहीं जाति समाज का यथार्थ था। वर्ण तो चार ही रहे, परन्तु जातियों की संख्या हजारों में हो गयी। फिर इस काल में नये-नये पेशे के आगमन से नयी-नयी जातियाँ अस्तित्व में आयीं।

■ **इस्लाम ने भारत की जाति व्यवस्था पर क्या प्रभाव छोड़ा?**

इस्लाम का आगमन समानता और बन्धुता के नारे के साथ हुआ था। अतः उसने सैद्धान्तिक तौर पर जाति व्यवस्था को चुनौती दी। भारतीय समाज में एक बड़ी संख्या शूद्रों व अछूतों की थी। अतः भय यह था कि ये समूह टूटकर इस्लाम की ओर जा सकता है, इसलिये हिन्दू समाज की ओर से दो प्रकार की प्रतिक्रिया देखी गयी-

1. **रूढ़िवादी प्रतिक्रिया**- पुराने स्मृति ग्रंथों पर टीकाएँ लिखकर हिन्दू जाति व्यवस्था को और भी कठोर बनाने का प्रयत्न किया गया, परन्तु यह व्यावहारिक समाधान नहीं था।
2. **रचनात्मक प्रतिक्रिया**- यह प्रतिक्रिया भक्ति आन्दोलन के रूप में व्यक्त हुई। एक तरफ निर्गुण भक्ति ने जाति विभाजन को ही अस्वीकार कर दिया, वहीं सगुण भक्ति ने कम से कम जाति व्यवस्था के कड़वेपन को कम करने का प्रयास किया।

इसके अतिरिक्त हम भारत की जाति व्यवस्था पर तुर्की शासन का निम्नलिखित प्रभाव देख सकते हैं-

- फारसी चक्र के प्रचलन के कारण जाट जाति, जो पहले पशुचारक थी, वह कृषक बनती चली गयी। इससे उसकी आर्थिक स्थिति अच्छी हुई, अतः उसने सामाजिक स्तर को भी ऊँचा उठाने का प्रयास किया। जहाँ जाटों का एक समूह सिख पंथ की ओर मुड़ गया, तो वहीं दूसरा समूह मथुरा में कृष्ण भक्ति की ओर।
- तुर्क लोग भारत में नवीन प्रौद्योगिकी लेकर आये थे, परन्तु आरम्भ में भारतीय शिल्पियों ने इस प्रौद्योगिकी को अपनाने में रुचि नहीं दिखाई क्योंकि यहाँ पर जाति और शिल्प के बीच गहरा सम्बंध था (प्रो. इरफान हबीब)। इसलिये पहली आवश्यकता थी जाति व शिल्प के बीच के सम्बन्धों को कमजोर करना और यह भूमिका निर्गुण भक्ति ने निभाई (कबीर व नानक)। इस प्रकार नवीन शिल्पों ने नये सांस्कृतिक आन्दोलन को भी प्रोत्साहन दिया।

जैसा कि हम जानते हैं तथा इसकी पुष्टि प्रो. इरफान हबीब के लेखन से होती है कि आरम्भ में निम्न जाति के लोगों ने नवीन शिल्पों को अपनाने में रूचि नहीं दिखाई थी, इसलिये बड़ी संख्या में दासों को लगाया गया था। इस प्रकार, नवीन शिल्पों ने दास प्रथा को प्रोत्साहन दिया।

■ हिन्दू समाज में महिलाओं की स्थिति

इस काल में महिलाओं की हीन स्थिति थी। पहले की तुलना में इसमें गिरावट देखी गई। इसके निम्नलिखित कारण थे-

- इस काल में इस्लाम का सामना करने के क्रम में विद्वानों के द्वारा स्मृति ग्रंथों पर टीकाएँ लिखकर जाति व्यवस्था को और भी कठोर बनाने का प्रयास किया गया। इस कारण महिलाओं की सामाजिक दशा में गिरावट आयी। भक्ति आंदोलन भी इसमें कोई मौलिक परिवर्तन नहीं ला सका।
- आक्रमण और युद्ध की स्थिति में महिलाओं को सुरक्षित रखने और उसे कुदृष्टि से बचाने की चिंता के कारण पर्दा प्रथा को प्रोत्साहन दिया गया तथा राजपूत राज्यों में जौहर की घटना घटित हुई। अमीर खुसरो पहला समकालीन लेखक है जो रणथम्भौर के किले पर महिलाओं के जौहर की घटना का आँखों देखा विवरण देता है।

कुल मिलाकर हम कह सकते हैं कि बाल विवाह, विधवाओं की दयनीय स्थिति, सती प्रथा जैसी सामाजिक बुराई पहले से ही प्रचलित थी और इस काल में भी जारी रही। इब्नबतूता अपने विवरण में सती की घटना का जिक्र करता है। फिर इस काल में पर्दा प्रथा और जौहर प्रथा जैसी घटनाओं को प्रोत्साहन मिला।

मुस्लिम समाज

इस्लाम अपने स्थापना काल से ही सामाजिक बन्धुता के आदर्श से प्रेरित रहा था। परन्तु मुस्लिम समाज भी कोई आदर्श समाज नहीं था, बल्कि इसके अन्दर भी एक प्रकार का आन्तरिक विभाजन कायम हो चुका था।

- **नृजातीय आधार पर विभाजन** - खुरासानी, तुर्क, ताजिक, अफगान आदि।
- **कुलीनता के आधार पर** - कुलीन एवं दास
- **जातीय आधार पर** -

यह विभाजन भारत की भूमि पर देखा गया। इस्लाम समानता के नारे के साथ आया था, परन्तु वह हिन्दुस्तान में स्थापित जाति व्यवस्था को समाप्त तो नहीं कर सका, बल्कि इस्लाम स्वयं प्रचलित जाति व्यवस्था से प्रभावित हो गया। हिन्दुस्तान में मुसलमान सैद्धान्तिक तौर पर तो नहीं, परन्तु व्यावहारिक तौर पर जाति में विभाजित हो गये।

यह गौर करने वाली बात है कि न तो इस्लाम का स्वरूप एकरूप रह गया और न ही मुस्लिम समाज एकाश्म। हिन्दुस्तान की भूमि पर हिन्दू समाज एवं सूफी पंथ ने इस्लाम और मुस्लिम समाज को बदल दिया। यही वजह है कि दक्षिण एशिया का इस्लाम, अरब क्षेत्र व मध्य एशिया के इस्लाम से पृथक हो गया। वर्तमान में चिंता की बात यह है कि बढ़ती हुई धार्मिक कट्टरता के युग में हिन्दुस्तान का इस्लाम भी अपना उदार स्वरूप खोता जा रहा है।

उपर्युक्त कारकों ने मुस्लिम समाज को व्यावहारिक रूप में निम्नलिखित समूहों में विभाजित कर दिया- अशराफ, अजलाफ एवं अरजाल।

- **अशराफ :** अशराफ समूह में कुलीन मुसलमान शामिल थे। फिर इन्हें भी दो उपसमूहों में बाँटकर देखा जाता था– अहल-ए-सैफ और अहल-ए-कलम।

अहल-ए-सैफ में प्रायः राजनीतिक, प्रशासनिक एवं सैन्य क्षेत्र में सक्रिय कुलीनों की गणना की जाती थी। इनके बीच भी एक प्रकार का स्तरभेद हो चुका था, जो इस प्रकार हैं- खान, मलिक व अमीर।

दरबार में कार्य करने वाले तथा प्रशासनिक पदों पर नियुक्त अपेक्षाकृत निम्न स्तर के अधिकारियों को अमीर का दर्जा प्राप्त था, वहीं मलिक का पद वरिष्ठ अधिकारियों को दिया जाता था। बरनी व मिन्हाज-उस-सिराज जैसे लेखकों ने जिन कुलीनों की चर्चा की है, वे प्रायः मलिक स्तर के होते थे अर्थात् अमीरों से ऊपर। दूसरी तरफ, खान, सर्वोच्च स्तर था जो मंगोल प्रभाव में विकसित हुआ था। चंगेज खान के अधीन 10000 सैनिकों से अधिक के प्रधान को 'खान' कहा जाता था। परन्तु सल्तनत काल में खान, पद के बदले एक उपाधि बनकर रह गया था जो किसी मलिक को विशिष्ट सेवा के बदले सम्मान के तौर पर दिया जाता था। जैसे- बलबन को 'उलूग खाँ' की उपाधि मिली थी।

अहल-ए-कलम में लिपिक, विद्वान, उलेमा आदि शामिल थे। सल्तनत की स्थापना के आरम्भिक दिनों में राज्य संघर्ष, विस्तार एवं युद्ध में उलझा हुआ था। इसलिये अहल-ए-सैफ की तुलना में अहल-ए-कलम को कम महत्व प्राप्त था। परन्तु आगे चलकर जब राज्य में स्थिरता आयी, बौद्धिक गतिविधियों का महत्व बढ़ा और शासन को वैधता दिलाने के लिये उलेमाओं के समर्थन की जरूरत पड़ी, तो अहल-ए-कलम का भी महत्व बढ़ता चला गया। फिर भी अहल-ए-कलम की तुलना में अहल-ए-सैफ अधिक प्रभावी बना रहा।

- **अजलाफ**- इसमें निम्नवर्गीय मुसलमान शामिल थे; यथा- दस्तकार व कारीगर, किसान, निम्न पेशेवर समूह आदि। इनमें से बड़ी संख्या धर्मान्तरित हिन्दुओं की भी थी। चूँकि इस्लाम वैज्ञानिक स्तर पर समानता की बात करता था, इसलिये धर्म के आधार पर तो भेदभाव नहीं था, परन्तु व्यवहार में अशराफ व अजलाफ के बीच दूरी थी। इनके बीच वैवाहिक सम्बन्ध भी स्थापित नहीं होता था।

- **अरजाल**– हिन्दू समाज से धर्मान्तरित अछूत आगे चलकर एक पृथक समूह में स्थापित हो गये, जिन्हें 'अरजाल' कहा जाता था। व्यवहार में मुस्लिम समाज में भी इनके साथ अलगाव की भावना बनी रही।

■ **इस्लाम के अंतर्गत महिलाओं की दशा**

पैगम्बर मोहम्मद ने पुरुषों व महिलाओं के बीच समानता की बात कही थी, परंतु आगे चलकर इस्लाम के स्वरूप में आने वाले बदलाव के साथ महिलाओं की सामाजिक स्थिति गिरती गयी।

पुरुषों में बहुविवाह का प्रचलन तो मुस्लिम शरीयत के द्वारा ही समर्थित था, फिर पर्दा प्रथा का भी प्रचलन हो चुका था। यह सम्भ्रांतता का प्रतीक माना जाता था तथा प्राचीन यूनान व ईरान में भी इसका प्रचलन रहा था। मुस्लिम शरीयत के अनुसार, महिलाओं को संपत्ति व उत्तराधिकार से भी वंचित रखा गया। जैसाकि हमने देखा कि तमाम गुणों के बाद भी रजिया सुल्तान को इल्तुतमिश के उत्तराधिकारी के रूप में वैधता नहीं मिल सकी। हिंदू समाज की तरह मुस्लिम समाज में भी महिलाओं की हीन दशा थी।

प्रश्न: सल्तनत काल में दास व्यवस्था और जाति व्यवस्था।

उत्तर: सल्तनत काल में दास व्यवस्था तथा जाति व्यवस्था का अध्ययन समाज पर पड़ने वाले तकनीकी के प्रभाव के संदर्भ में किया जा सकता है। भारत में हम प्राचीन काल से ही दासों का उल्लेख पाते हैं। सल्तनत काल में भी दास व्यवस्था को प्रोत्साहन मिला। जैसा कि हम जानते हैं कि तुर्कों के अधीन बड़ी संख्या में नवीन शिल्पों का आगमन हुआ था तथा इन शिल्पों को उत्पादन की प्रक्रिया में शामिल किया गया था। अब इन शिल्पों के संचालन के लिये श्रमिकों की आवश्यकता थी। आरंभ में भारतीय शिल्पियों ने इन शिल्पों को अपनाने में तत्परता नहीं दिखाई। अत: इन शिल्पों के संचालन के लिये बड़ी संख्या में दासों की ज़रूरत पड़ी। यह भी एक कारण है कि मुहम्मद गोरी से लेकर फिरोज़शाह तुगलक तक लगभग सभी सुल्तानों ने दासों के संग्रह पर बल दिया। फिरोज़शाह तुगलक के अधीन 1 लाख 80 हज़ार दास थे तथा उसने दासों के निर्यात पर पाबंदी लगा दी थी। बरनी भी दिल्ली में एक दास बाज़ार का जिक्र करता है। हालाँकि, इन दासों को सैनिक सेवा में भी लिया गया था तथा इनका एक भाग उत्पादन में भी लगाया गया था। चूँकि उत्पादन में इन दासों का महत्त्व था, इसलिये पूरे सल्तनत काल में दास व्यवस्था चलती रही। मुगल काल में आकर स्थिति परिवर्तित हो गई। भारत में प्रचलित जाति व्यवस्था पर भी हम तकनीकी का प्रभाव महसूस कर सकते हैं। भारत में शिल्पियों की एक बड़ी संख्या निम्न जातियों से संबद्ध थी। भारत में शिल्प और तकनीकी जाति व्यवस्था से जुड़ी हुई थी तथा अपने पेशे को परिवर्तित करने में कई प्रकार की रुकावटें थीं।

वस्तुत: तुर्की शासन की स्थापना ने ब्राह्मणवादी व्यवस्था पर आधारित भारतीय कुलीन वर्ग को कमज़ोर कर दिया। दूसरी तरफ तुर्की शासन की स्थापना ने नगरों एवं कस्बों में नए आर्थिक अवसर प्रदान किये। शासक वर्ग की ज़रूरत को पूरा करने के लिये बड़ी मात्रा में उत्पादनों की ज़रूरत पड़ी तथा उत्पादन के संचालन के लिये शिल्पियों के एक वर्ग की भी आवश्यकता महसूस हुई। निम्न जाति से संबद्ध भारतीय शिल्पी नगरों एवं कस्बों में नवीन शिल्पों के प्रति दिलचस्पी दिखाने लगे, किंतु जैसा कि हम जानते हैं कि भारतीय सामाजिक व्यवस्था में जाति और शिल्प के बीच गहरा संबंध था।

अत: नए शिल्प को अपनाने के लिये जाति का बंधन तोड़ना आवश्यक था। इसलिये सल्तनत काल में नगरों एवं कस्बों में एकेश्वरवादी आंदोलन अथवा निर्गुण भक्ति के विकास को इस संदर्भ में भी देखा जा सकता है। निर्गुण भक्ति ने जाति बंधन को कमज़ोर कर नवीन शिल्पों को प्रोत्साहन दिया। कबीरदास और नानक इस एकेश्वरवादी आंदोलन के प्रवर्तक बने। कबीरदास और नानक दोनों ने जाति व्यवस्था को अस्वीकार किया। कबीरदास ने निम्न जाति के शिल्पियों को एक नया आश्वासन दिया। दूसरी तरफ गुरुनानक के विचारों के प्रभाव में पंजाब में खत्री जाति एवं जाट एक पृथक् समुदाय के रूप में संगठित हो गए, जिसे हम सिख के रूप में जानते हैं।

इस प्रकार सल्तनत काल में नवीन शिल्पों के आगमन ने दास व्यवस्था और जाति व्यवस्था दोनों को प्रभावित किया।

■■■

मध्यकालीन संस्कृति
(Culture during Medieval Period)

मध्यकाल में सांस्कृतिक विविधता का एक नया रूप प्रकट हुआ तथा इसे गांगी-यमुनी तहज़ीब के नाम से जाना जाता है। यह तहज़ीब हिंदू एवं इस्लामी संस्कृति के बीच पारस्परिक आदान-प्रदान का परिणाम थी। मध्यकाल में निम्नलिखित कारकों ने सांस्कृतिक विविधता को बल प्रदान किया-

1. उत्तर-पश्चिम से जनसंख्या का आप्रवर्जन (Migration)- इस काल में मध्य एशिया एवं पश्चिम एशिया से नवीन सामाजिक समूहों का आगमन हुआ। ये सामाजिक समूह थे- तुर्क, मंगोल एवं मुगल। इस जनसंख्या के आप्रवर्जन के लिए बाह्य एवं आंतरिक दोनों कारक उत्तरदायी थे। बाह्य कारक था- मध्य एशिया तथा पश्चिम एशिया की राजनीति में उतार-चढ़ाव। आरंभ में तुर्क मध्य एशिया की एक जनजाति थे। इनमें अनेक तुर्कों ने इस्लाम धर्म कबूल कर इस्लाम के अंतर्गत सेवा ग्रहण की। फिर ये एक राजनीतिक शक्ति के रूप में ढल गए और फिर उन्होंने भारत की ओर प्रसार आरंभ किया। गजनी एवं गोरी के आक्रमण को इसी संदर्भ में समझने की जरूरत है। आगे अफगानों एवं मुगलों का आगमन भी इसी क्रम में हुआ।

उसी प्रकार, इसके लिए एक आंतरिक कारक भी उत्तरदायी था- वह था हिंदुस्तान का आकर्षण। हिंदुस्तान एक संपन्न देश था। फिर सुल्तानों एवं मुगलों के अधीन प्रतिभाशाली व्यक्तित्वों को सेवा के बेहतर अवसर प्राप्त हुए। इसलिए भी भारत की ओर आकर्षण बढ़ा। तुर्कों के अधीन हिंदुस्तान की ओर आकर्षण का एक महत्वपूर्ण कारण था मंगोल आक्रमण। इसके कारण मध्य एशिया तथा पश्चिम एशिया से अनेक प्रतिभाशाली व्यक्तित्व हिंदुस्तान की ओर पलायन कर गए। अमीर खुसरो भी उनमें से एक थे। फिर इस काल में सूफी संत, विद्वान, कलाकार, कारीगर आदि तत्वों का आगमन हुआ और इन तत्वों ने हिंदुस्तानी संस्कृति के विकास में अपना योगदान दिया। इसके अतिरिक्त बड़ी संख्या में तुर्क, ताज़िक (पश्चिम एशिया) तथा अफगानों ने राज्य के अंतर्गत सेवा ग्रहण की। आगे मुगलों के अधीन दिल्ली एवं आगरा इस्लामी विश्व में महत्वपूर्ण आकर्षण के केंद्र बने रहे। बड़ी संख्या में विद्वान, कलाकार एवं उद्यमियों ने दिल्ली एवं आगरा की ओर रुख किया। मुगल अमीर वर्ग में खोरासानी तत्वों के साथ-साथ एक बड़ी संख्या ईरानियों की बनी रही थी।

नवीन तत्व केवल उत्तर भारत तक सीमित नहीं रहे थे। जैसाकि हम जानते हैं कि सिंध में अरब शक्ति की स्थापना से पूर्व ही दक्षिण पश्चिम के मालाबार तट पर अरब व्यापारी बस गए थे। फिर उत्तर भारत में तुर्की शासन की स्थापना के पश्चात् 14वीं सदी तक तुर्की राज्य ने साम्राज्यवाद का रूप ले लिया। इसका परिणाम हुआ दक्षिण की ओर रूख। पहले अलाउद्दीन खिलजी ने दक्षिण का अभियान किया, फिर मुहम्मद-बिन-तुगलक के अंतर्गत सदूर दक्षिण तक तुर्की साम्राज्य का विस्तार हुआ। साथ ही, मुहम्मद-बिन-तुगलक ने दक्षिण भारत के क्षेत्र पर बेहतर रूप में नियंत्रण बनाए रखने के लिए अपनी राजधानी देवगिरी में स्थानांतरित की। इस कारण उत्तर से मुस्लिम कुलीन वर्ग का एक समूह दक्षिण गया। साथ ही वहाँ इस्लामी संस्कृति का भी प्रसार हुआ। आगे मुगलों के अधीन भी दक्षिण की ओर प्रसार होता रहा। शाहजहाँ ने अहमदनगर को जीतकर मुगल साम्राज्य मे मिला लिया। वहीं औरंगजेब ने बीजापुर एवं गोलकुंडा को जीतकर कृष्णा नदी से दक्षिण साम्राज्य विस्तार की नीति जारी रखी। अत: स्वाभाविक रूप में उत्तर से दक्षिण की ओर नवीन तत्वों का आगमन होता रहा। इसके कारण मुस्लिम जनसंख्या उत्तर भारत में कश्मीर, पंजाब, गुजरात से लेकर पूरब में बंगाल तक फैल गई। फिर सुदूर दक्षिण तक उनका प्रसार हो गया। विजेता शासकों के साथ-साथ सूफी संत भी दक्षिण गए तथा वहाँ लोगों को इस्लाम के मानवीय चेहरे से अवगत कराना चाहा। बंदा नवाज गेसूदराज एक ऐसे ही सूफी संत थे जिन्होंने हैदराबाद में अपनी खानकाह को स्थापित किया।

2. इस्लाम एवं हिंदू धर्म का विशिष्ट स्वरूप तथा उनके बीच पारस्परिक आदान-प्रदान- हिंदू धर्म एक सर्वग्रासी धर्म था। हिंदुस्तान में जो विरोधी मत-मतान्तर एवं धार्मिक पंथ उत्पन्न हुए थे, वे सभी इसमें समाहित हो गए। उसी प्रकार, इस्लाम भी एक सर्वग्रासी पंथ था, वह भी जिस क्षेत्र में गया उसने वहाँ के धर्म को मिटाकर इस्लाम का प्रसार किया। इसलिए मुस्लिम किसी भी क्षेत्र में अल्पसंख्यक बनकर गए, परंतु शीघ्र ही बहुसंख्यक बन गए। परंतु भारत में हिंदू धर्म इस्लाम को निगल नहीं सका क्योंकि इस्लाम एक मजहबी धर्म था। इसमें धर्म पहले था तथा समाज बाद में। उसी तरह इस्लाम भी हिंदू धर्म को विस्थापित नहीं कर सका क्योंकि यह एक अति प्राचीन धार्मिक पंथ तथा इसकी जड़ें बहुत गहरी थीं। यह एक प्रमुख कारण है कि भारत में मुस्लिम अल्पसंख्यक बनकर आए तथा अल्पसंख्यक बनकर रह गए।

किंतु सैकड़ों वर्षों तक साथ रहते हुए हिंदू धर्म एवं इस्लाम ने एक समन्वित संस्कृति का विकास किया तथा यह संस्कृति विभिन्न क्षेत्रों में व्यक्त होती है। लगभग पाँच सौ वर्षों की सल्तनतकालीन एवं मुगलकालीन शासन व्यवस्था के अंतर्गत खान-पान, रहन-सहन, धर्म, कला, भाषा-साहित्य सभी क्षेत्रों में यह समन्वित संस्कृति व्यक्त हुई। इसे गांगी-यमुनी तहज़ीब के नाम से जाना गया।

धर्म के क्षेत्र में यह भक्ति एवं सूफी आंदोलन के रूप में अभिव्यक्त हुई। कहा जाता है कि हिंदू एवं मुस्लिम रहस्यवादी चिंतकों के विचार इतने सामान्य थे कि दोनों ने भावात्मक एकता के लिए काम किया। कबीर एवं नानक जैसे निर्गुण संत एवं निजामुद्दीन औलिया जैसे सूफी संतों, दोनों ने हिंदुस्तान की समन्वित संस्कृति में योगदान दिया। दोनों प्रकार के संतों के द्वारा निराकार ईश्वर के प्रति अगाध प्रेम एवं समर्पण का भाव व्यक्त किया गया। कबीर को हिंदू अथवा मुस्लिम परंपरा से जोड़ना मुश्किल है। उसी प्रकार, सूफी संतों ने अपनी-अपनी रचना में हिंदुओं के घरों की कहानी हिंदुओं की भाषा में सुनाई है अर्थात् सूफी संतों ने अधिकांशतः अवधी एवं पंजाबी भाषा का प्रयोग किया।

उसी तरह कला के क्षेत्र में स्थापत्य कला, चित्रकला एवं संगीत कला इन तीनों क्षेत्रों में हिंदू एवं इस्लाम इन दोनों तत्वों का अवदान देखने को मिलता है। मुस्लिम शासन की स्थापना से पूर्व भारत में स्थापत्य की एक समृद्ध परंपरा रही थी, जिसे लोकप्रिय रूप में शहतीरी शैली के नाम से जाना जाता था। दूसरी तरफ इस्लाम के आगमन के पश्चात् मेहराबी शैली के आधार पर निर्माण कार्य आरंभ हुआ। मेहराबी शैली के अंतर्गत मेहराब एवं गुंबद का प्रयोग होता था। यह शैली इस्लाम ने बिजेन्टीयन साम्राज्य या फिर रोमन साम्राज्य से ली है। परंतु प्रचलित शहतीरी शैली का इतना गहरा प्रभाव था कि उसके प्रभाव से बचना संभव नहीं था। अतः मुगल काल तक होने वाले निर्माण कार्य में दोनों के बीच कहीं बेहतर संबंध देखने को मिलता है।

उसी प्रकार, यद्यपि सल्तनत काल में चित्रकला का स्पष्ट स्वरूप उभरकर नहीं आया, परंतु महान मुगलों के अधीन ईरानी शैली एवं भारतीय शैली के बीच बेहतर समन्वय हुआ। मुगल पांडुलिपि चित्रकारी (Miniature Painting) पर चौरपंचशिका शैली, जिसे 'पोथी शैली' के नाम से जाना जाता है, उसका गहरा प्रभाव है। संगीत कला के क्षेत्र में भी ईरानी शैली तथा भारतीय शैली के समन्वय से हिंदुस्तानी शैली का विकास हुआ। हिंदुस्तानी शैली के अंतर्गत ध्रुपद, ख्याल, गज़ल, टप्पा एवं ठुमरी कई प्रकार की गायकी विकसित हुई। महान मुगलों के अधीन ध्रुपद गायकी की काफी प्रगति हुई। वही समय है कि कत्थक नृत्य को भी मुगलों का संरक्षण प्राप्त हुआ, जबकि कत्थक नृत्य का विकास मंदिरों में हुआ था।

भाषा-साहित्य के क्षेत्र में हिंदू एवं मुस्लिमों के समन्वित योगदान को भुलाया नहीं जा सकता। सल्तनत एवं मुगल काल की राजकीय भाषा फारसी थी। इसके महत्व को देखते हुए अनेक हिंदुओं ने फारसी भाषा सीखी तथा फारसी साहित्य का संवर्द्धन किया। उदाहरण के लिए, मुगलों के अधीन ईश्वरदास नागर एवं भीमसेन बुरहानपुरी। फिर हिंदू एवं मुस्लिम की समान भाषा के रूप में उर्दू का विकास हुआ। उर्दू को 'जुबान-ए-दिल्ली' के नाम से जाना जाता है। विभाजन के पश्चात् पाकिस्तान की राजभाषा उर्दू बनी, न कि फारसी। फिर मुस्लिम शासकों के द्वारा भारतीय भाषाओं को संरक्षण दिया गया। मुगल दरबार में संस्कृत एवं हिंदी भाषा-साहित्य को संरक्षण मिला। यह सुखद आश्चर्य है कि ब्रजभाषा में मधुर कविता रचने वाले रसखान मुस्लिम हैं।

3. इस्लाम का क्षेत्रीय तत्वों के साथ सामंजस्य- जब भी केंद्रीय स्तर पर मुस्लिम साम्राज्य का पतन हुआ, तो क्षेत्रीय स्तर पर मुस्लिम अधिकारियों के द्वारा स्वतंत्र सत्ता कायम की गई। यही वो समय है जब इस्लामी पद्धति का क्षेत्रीय संस्कृति के साथ सामंजस्य हुआ। कला की क्षेत्रीय शैलियाँ विकसित हुईं। मुस्लिम शासकों ने क्षेत्रीय भाषा-साहित्य को संरक्षण दिया। फिर मुस्लिम समूह क्षेत्रीय खान-पान एवं रहन-सहन से प्रभावित हुए। इस तरह मुस्लिम शासकों का शासन, गुजरात, बंगाल, जौनपुर, दक्कन आदि क्षेत्रों में कायम हुआ। अतः इस्लाम का केवल भारतीयकरण ही नहीं हुआ, बल्कि क्षेत्रीयकरण भी हो गया। पंजाब और बंगाल के मुसलमानों की जीवन पद्धति में काफी अंतर आ गया। इसलिए भी आगे धर्म के नाम पर पाकिस्तानी हुक्मरानों को पाकिस्तान राष्ट्र के साथ सभी भारतीय मुसलमानों को जोड़कर रख पाना संभव नहीं हुआ।

4. 18वीं सदी का भारत संस्कृतियों का सतरंगी मेल- 18वीं सदी में ब्रिटिश शासन की पूर्व संध्या पर जिस हिंदुस्तानी संस्कृति का चित्र उभरता है, वह बहुसांस्कृतिक था। हिन्दू एवं मुसलमानों के खान-पान, रहन-सहन, जीवन पद्धति सभी एक दूसरे से बहुत हद तक प्रभावित थे। हिंदवी एक लोकप्रिय भाषा थी तथा खड़ी बोली एवं उर्दू इसके रूप थे।

एक तरफ मुगल साम्राज्य का विघटन हो रहा था, परंतु दूसरी तरफ मुगल संस्कृति क्षेत्रीय स्तर पर फैल रही थी। क्षेत्रीय राज्यों के द्वारा मुगल संस्कृति को संरक्षण दिया जा रहा था। मुगल संस्कृति का इतना गहरा प्रभाव था कि 18वीं सदी में स्वयं ब्रिटिश भी इसके प्रभाव से नहीं बच सके थे। इस तथ्य को विलियम डेलरिम्पल नामक ब्रिटिश लेखक ने 'White Mughal' नामक कृति में व्यक्त किया है।

वस्तुतः हिंदू धर्म एवं सूफी पंथ के कारण दक्षिण एशिया का इस्लाम (वर्तमान में भारत, पाकिस्तान एवं बांग्लादेश) शेष इस्लामिक दुनिया से पृथक हो चुका था।

समन्वित संस्कृति
↓
- धर्म → भक्ति एवं सूफी
- भाषा एवं साहित्य
- स्थापत्य कला
- चित्रकला
- संगीत कला

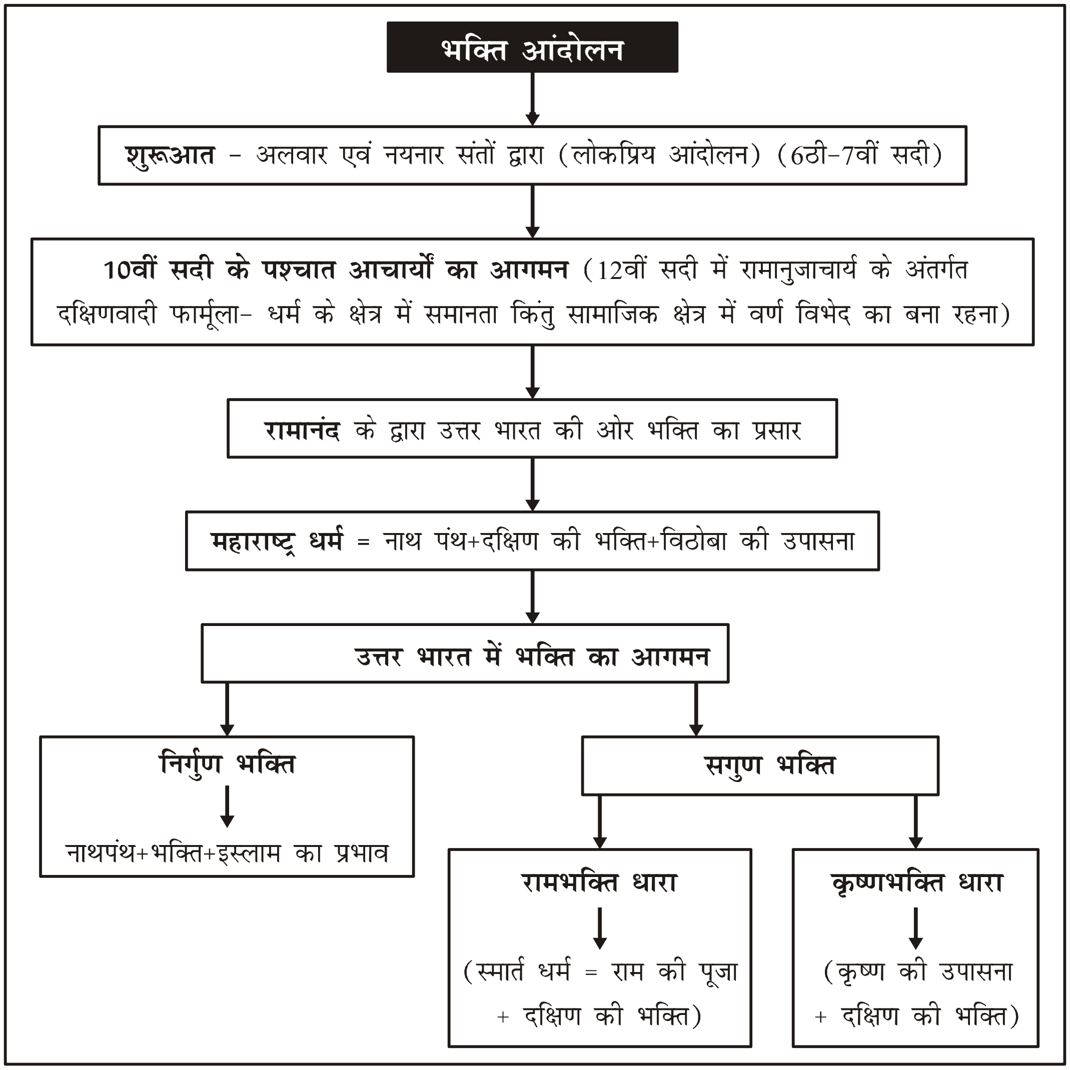

दक्षिण भारत में भक्ति आंदोलन का मॉडल विकसित हुआ। अलवार और नयनार संतों के अधीन उसका आरंभिक रूप प्रकट हुआ और फिर आचार्यों ने उसे स्थायित्व प्रदान किया। फिर दक्षिण से उत्तर की ओर भक्ति का आगमन होने लगा। वहीं महाराष्ट्र में इसका एक नया रूप प्रकट हुआ, जिसे 'महाराष्ट्र धर्म' के नाम से जाना गया।

■ **महाराष्ट्र धर्म के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए राज्य निर्माण में उसकी भूमिका को दर्शाइए।**

महाराष्ट्र धर्म अपने स्वरूप में विशिष्ट रहा था। यह एक क्षेत्रीय देवता 'विठोबा' की उपासना पर केन्द्रित था तथा इसका केन्द्र पण्ढरपुर रहा था। इससे जुड़े हुए महत्वपूर्ण संत ज्ञानदेव, नामदेव, एकनाथ, तुकाराम, रामदास समर्थ आदि थे। इन पर वैष्णव पंथ के प्रभाव के साथ-साथ नाथ पंथ का भी प्रभाव था। इसलिए महाराष्ट्र धर्म ने जाति विभाजन को अस्वीकार कर उस क्षेत्र के लोगों को एकसमान मराठी पहचान दी।

महाराष्ट्र संतों ने जनसामान्य की भाषा मराठी को एक नई पहचान दी और मराठी भाषा में अपने भक्ति भाव को 'अभंगों' के रूप में व्यक्त किया।

महाराष्ट्र धर्म जनसामान्य का धर्म था और इसमें ऊँच एवं नीच में कोई भेदभाव नहीं था। इसका लाभ शिवाजी जैसे प्रगतिशील नेता ने उठाया और निम्न जाति के लोगों को अपनी सेना में संगठित किया।

सामान्यतः हिन्दू धर्म को सहिष्णु माना जाता है, परन्तु महाराष्ट्र धर्म जयिष्णु (विजय की कामना) सिद्ध हुआ। आगे जब मराठा शक्ति की टकराहट मुगलों के साथ हुई, तो फिर उपर्युक्त कारणों से महाराष्ट्र धर्म ने मराठा राज्य की स्थापना में अपनी भूमिका निभा दी।

■ **दक्षिण से उत्तर की ओर भक्ति के आगमन ने इसके स्वरूप में किस प्रकार का परिवर्तन लाया?**

दक्षिण में जो भक्ति का प्रारूप निर्मित हुआ था, उसकी दो प्रमुख विशेषताएँ थीं, प्रथम- ईश्वर को आकार रूप में पूजा गया। उदाहरण के लिए, विष्णु और शिव, दूसरा- आचार्यों के आगमन के बाद भक्ति आंदोलन ने वर्ण और जाति विभाजन के साथ समझौता कर लिया था।

उत्तर में आकर भक्ति आंदोलन दो धाराओं में बंट गया– सगुण भक्ति धारा और निर्गुण भक्ति धारा। सगुण भक्ति धारा को दक्षिण की भक्ति से बहुत हद तक समानता थी क्योंकि इसने भी ईश्वर को आकार रूप में पूजा और वर्ण एवं जाति विभाजन के साथ समझौता किया। अन्तर केवल उपास्य देव में बना रहा, उत्तर में विष्णु एवं शिव की जगह उपासना के केन्द्र में राम एवं कृष्ण स्थापित हुए।

परन्तु उत्तर में निर्गुण भक्तिधारा, एक पृथक तथा विलक्षण धारा के रूप में प्रकट हुई क्योंकि इसने दक्षिण की भक्ति से पृथक अपनी पहचान बनाई। प्रथम, इसने उपासना के केन्द्र में निराकार ईश्वर को रखा और उनके प्रति प्रेम की अभिव्यंजना की। इसलिए निर्गुण भक्ति में रहस्यवाद का तत्व भी आ जाता है। दूसरे, नाथ पंथ के प्रभाव में इसने जाति विभाजन को अस्वीकार कर दिया। उपर्युक्त कारणों से निर्गुण भक्ति का अपना पृथक स्थान है। इसके विकास में नाथ पंथ, भक्ति, इस्लाम के एकेश्वरवाद और सूफी पंथ सभी का योगदान माना जा सकता है।

■ **विशेषकर कबीर और नानक के संदर्भ में निर्गुण भक्ति के योगदान पर प्रकाश डालिए।**

निर्गुण भक्ति एक धार्मिक आंदोलन था तथा कबीर एवं नानक मूलतः संत थे, परन्तु इन्होंने समकालीन समाज, धर्म एवं संस्कृति सभी पर गहरा प्रभाव छोड़ा।

1. धर्म सुधारक : निर्गुण संत स्वाभाविक रूप में धर्मसुधारक बन गए क्योंकि उन्होंने निराकार ईश्वर की उपासना पर बल दिया। अतः मंदिर, मूर्तिपूजा, पुरोहितवाद आदि की अहमियत स्वयं समाप्त हो गई। कबीरदास शास्त्र की परम्परा से जुड़े नहीं थे, बल्कि उन्होंने अपने अनुभव को ही प्रमाण माना। दूसरी तरफ, गुरु नानक 'एक ही ओंकार' के महत्व पर बल देते हैं।

2. समाज सुधारकः कबीरदास ने जाति विभाजन को अस्वीकार कर दिया। उन्होंने हिन्दू–मुस्लिम एकता की भी बात उठाई। उनके विचार में अगर ईश्वर और अल्लाह एक हैं, तो उनके अनुयायी पृथक–पृथक कैसे हो गए अर्थात् हिन्दू और मुसलमानों में अन्तर क्यों? इस प्रकार, उन्होंने ईश्वरीय एकता के माध्यम से मानवीय एकता का रास्ता तैयार कर दिया। दूसरी तरफ, गुरू नानक ने प्रत्येक प्रकार की जाति पहचान को अस्वीकार करते हुए केवल एक ही पहचान को महत्व दिया, वह है शिष्य और यहीं से 'सिख' शब्द चल निकला।

3. निर्गुण भक्तों ने संन्यास जीवन पर नहीं, बल्कि गृहस्थ जीवन पर बल दिया। कबीर अथवा नानक जीवन पर्यन्त उत्पादन से जुड़े रहे। कबीर अपने दोहे में भी उत्पादन की ओर संकेत करते हैं। जैसे–

"झीनी-झीनी बीनी चदरिया।। काहे कै ताना काहे के भरनी, कौन तार से बीनी चदरिया।।"

उसी प्रकार सिख पंथ में 'कीरत–करनी' का अधिक महत्व है। इस प्रकार, निर्गुण भक्तों ने शिल्प उत्पादन को प्रोत्साहन दिया।

4. सांस्कृतिक योगदानः निर्गुण भक्ति का साहित्य एवं संगीत के क्षेत्र में भी महत्वपूर्ण योगदान माना जा सकता है। उदाहरण के लिए, कबीर दास ने संस्कृत के समानांतर 'हिंदवी भाषा' को महत्व दिया और दोहे, साखी एवं काव्य के अन्य रूपों का प्रयोग कर हिंदवी साहित्य को समृद्ध किया। सबसे बढ़कर, कबीर के दोहे, साखी आदि गेय हैं और ये उत्कृष्ट संगीत के उदाहरण हैं।

वहीं नानक की रचना ने पंजाबी भाषा में साहित्य को समृद्ध किया। नानक के द्वारा लिखे गए 'सबद' उत्कृष्ट प्रकार के संगीत के उदाहरण हैं।

■ **निर्गुण भक्ति की सीमाएँ**

1. कबीर एवं नानक जैसे संत मूलतः धार्मिक एवं आध्यात्मिक व्यक्तित्व थे, कोई समाज सुधारक नहीं। इसलिए सामाजिक कुरीतियों की आलोचना करने के बावजूद वे उसका कोई विकल्प नहीं दे सके।

2. कबीरदास को 15वीं सदी के 'मार्टिन लूथर' का नाम दिया गया है, परन्तु सच्चाई यह है कि प्रोटेस्टेंट आंदोलन की तरह कबीर और नानक की भक्ति, सामंतवाद के गढ़ को नहीं तोड़ सकी।

प्रश्नः उन कारणों की व्याख्या कीजिये, जिनकी वजह से सिख पंथ, सिख राज्य के रूप में स्थापित हो गया।

उत्तरः आरंभ से ही नानक की भक्ति अलग प्रकार की रही थी। इसका संदर्भ सामुदायिक रहा था। दूसरे शब्दों में, गुरुनानक के अनुयायी शिष्य अथवा सिख कहलाए। नानक अपने अनुयायियों के साथ संगत लगाते थे। सभी के द्वारा मिलकर भक्ति गीत भी गाया जाता था।

- नानक एवं उनके अनुयायियों के द्वारा सार्वजनिक भोजन अथवा लंगर व्यवस्था पर बल दिया गया। इससे बंधुता की भावना और भी मजबूत हुई।
- आगे जब शांतिपूर्ण सिख पंथ को मुगल शक्ति के द्वारा दबाने का प्रयास किया गया, तो फिर यह धार्मिक समुदाय सैन्य समूह में बदल गया। खालसा सिख एकता का प्रतीक बन गया और अंत में एक पृथक् राज्य निर्माण की प्रेरणा मिली।

सगुण भक्ति अथवा वैष्णववादी आंदोलन

उत्तर की सगुण भक्ति के केन्द्र में राम एवं कृष्ण जैसे देवता रहे हैं, जिन्हें विष्णु के अवतार के रूप में देखा जाता है। राम भक्ति धारा से जुड़े हुए संत तुलसीदास, नाभादास आदि रहे हैं, वहीं कृष्ण भक्ति धारा को कहीं अधिक विस्तार एवं लोकप्रियता

मिली। उदाहरण के लिए, उत्तर भारत में वल्लभाचार्य तथा 'अष्टछाप' के कवियों की चर्चा की जा सकती है। इनमें सूरदास भी रहे, जिन्होंने 'सूरसागर' की रचना की।

कृष्ण भक्ति धारा का प्रतिनिधित्व गुजरात में नरसी मेहता, राजस्थान में मीराबाई, बंगाल में चैतन्य महाप्रभु और असम में शंकरदेव करते थे। कृष्ण भक्ति को अधिक लोकप्रियता मिलने का कारण था इसमें साख्य भाव की भक्ति होना क्योंकि राम भक्ति दास्य भाव की भक्ति थी।

■ **सगुण भक्ति का योगदान**

1. सामाजिक क्षेत्र में अगर सगुण भक्ति ने जाति व्यवस्था को समाप्त नहीं किया अथवा उसे अस्वीकार नहीं किया, तो कम-से-कम उसकी कटुता अवश्य कम की। राम कथा में तुलसीदास ने शबरी, केवट, बन्दर एवं भालुओं के साथ राम की निकटता दिखाकर जाति व्यवस्था की कटुता को कम करने का प्रयास किया है, वहीं कृष्ण भक्ति में जाति मर्यादा के प्रति किसी प्रकार की गंभीरता नहीं दिखती।

2. **भाषा एवं साहित्य के विकास में सगुण भक्ति का अनुपम योगदान** रहा है। इसने उत्तर भारत के भाषा एवं साहित्य को अत्यधिक समृद्ध बनाया। इसे निम्नलिखित रूप में समझा जा सकता है–

(i) ब्रज भाषा :

हिन्दी प्रदेश की एक महत्वपूर्ण बोली ब्रज भाषा को एक साहित्यिक भाषा का दर्जा दिलाने का श्रेय भक्ति आंदोलन को है। सूरदास का 'सूरसागर' एक अद्वितीय साहित्यिक कृति है जिसमें वात्सल्य रस और श्रृंगार रस की प्रचुरता है।

(ii) अवधी :

हिन्दी प्रदेश की दूसरी बोली अवधी का महत्व इसलिए बढ़ गया क्योंकि यह राम की जन्मभूमि की भाषा थी। तुलसीदास की रचना 'रामचरित मानस' ने ठेठ अवधी को साहित्यिक अवधी का दर्जा दिलवाया। इसके कारण रामचरित मानस को अत्यधिक लोकप्रियता मिली। अगर आज राम कथा जीवित है, तो वाल्मीकि की वाणी में नहीं, बल्कि तुलसी की वाणी में। 'ग्रियर्सन' ने रामचरित मानस को प्रत्येक हिन्दू के घर की बाइबिल कहा है।

(iii) गुजराती भाषा :

कृष्ण भक्त नरसी मेहता ने गुजराती भाषा को समृद्ध किया। नरसी मेहता के भक्ति गीतों ने गाँधी जी को आकर्षित किया।

(iv) राजस्थानी :

राजस्थानी बोली को एक परिष्कृत भाषा साहित्य का रूप देने का श्रेय मीरा बाई को प्राप्त है। मीरा के भजन भारतीय साहित्य ही नहीं, बल्कि भारतीय संगीत की महान धरोहर हैं। गाँधी जी ने अपने अंतिम जन्मदिन के अवसर पर मीरा के भजन सुनने की इच्छा जतायी थी।

(v) बंगाली भाषा :

बंगाली भाषा के विकास में चंडीदास से लेकर चैतन्य महाप्रभु तक विभिन्न संतों का योगदान रहा है। चैतन्य की रचना ने या फिर चैतन्य के जीवन पर लिखे हुए विभिन्न विद्वानों की रचनाओं ने बंगाली भाषा-साहित्य को समृद्ध बनाया।

(vi) असमिया :

असमिया के विकास में शंकरदेव जैसे भक्ति संत का अहम योगदान रहा है। उन्होंने अपनी रचनाओं के माध्यम से असमिया भाषा को भी साहित्यिक भाषा के स्तर पर पहुँचाया।

3. कला में योगदान

(i) स्थापत्य कला –

सगुण भक्ति ने उत्तर भारत में स्थापत्य कला के विकास को अत्यधिक प्रोत्साहन दिया। आज भी नागर शैली में निर्मित उत्तर भारत के कुछ महत्वपूर्ण मंदिर भक्ति के प्रभाव में निर्मित किए गए और राम एवं कृष्ण से जुड़े हुए हैं।

(ii) मूर्ति कला –

सगुण भक्ति का बल मूर्ति पूजा पर रहा, इसलिए मूर्ति कला को इससे प्रोत्साहन मिला। सगुण भक्ति के प्रभाव में राम-सीता, राधा-कृष्ण की खुबसूरत मूर्तियाँ बनाई गईं और मंदिरों में स्थापित किया गया।

(iii) नृत्य कला –

उत्तर भारत का कथक नृत्य और असम का सत्रिया नृत्य का विकास वैष्णव भक्ति से जुड़ा हुआ है।

(iv) चित्र कला –

रामायण और महाभारत की कथा भारतीय चित्रकला के महत्वपूर्ण प्रतिपाद्य रहे हैं। विशेषकर राधा-कृष्ण की मूर्तियाँ राजपूत चित्रकला की 'किशनगढ़ शैली', मधुबनी चित्रकला, 'पहाड़ी शैली', सभी के लिए महत्वपूर्ण प्रेरणा रही है।

(v) संगीत कला–

सगुण भक्ति ने संगीत को विशेष प्रोत्साहन दिया। 'ध्रुपद गायकी' में 'स्वामी हरिदास' ने महत्वपूर्ण योगदान दिया। मीरा और नरसी मेहता के भजन उत्कृष्ट गायन के उदाहरण हैं। उसी प्रकार, चैतन्य महाप्रभु ने संकीर्तन प्रणाली की शुरूआत की।

■ **भक्ति आंदोलन में महिलाओं का योगदान**–

1. सगुण भक्ति में महिला संत समय-समय पर उभरती रहीं और उन्होंने भक्ति आंदोलन पर अपना प्रभाव डाला।

2. भक्ति साहित्य के आधार पर लगभग 80 महिला संतों के होने का अनुमान किया जाता है। सर्वप्रथम हमें एक आरंभिक अलवार संत अंडाल के विषय में सूचना प्राप्त होती है। उत्तर में कश्मीर में एक महिला संत लालदेद का विशेष प्रभाव रहा। वह ऋषि सूफी संप्रदाय के एक संत नुरूद्दीन के संपर्क में रही थीं। उसी प्रकार, कर्नाटक में वीरशैव संप्रदाय से जुड़ी हुई एक महिला संत महादेवी अक्का थीं, वह राजपरिवार की मर्यादा का

उल्लंघन करते हुए नग्न अवस्था में अपने बालों से शरीर को ढककर खुली सड़क पर निकल गईं। अंत में, मीराबाई की चर्चा के बिना महिला संतों का विवरण अधूरा रहेगा। सिसोदिया राजवंश की बहू होने के बावजूद भी मीरा ने राजकीय परिवार की मर्यादा का उल्लंघन करते हुए खुले रूप में कृष्ण को अपना पति स्वीकार किया। मीरा के भक्ति गीत भारतीय संगीत की अनुपम धरोहर बन चुके हैं।

योगदान – महिला संतों ने सामाजिक मर्यादा एवं पारिवारिक मर्यादा का उल्लंघन करते हुए पुरूष प्रधान सामंती समाज को चुनौती दी। मध्यकाल में उनका यह कदम एक सामाजिक विद्रोह की ओर संकेत करता है।

सीमाएं – पुरूष प्रधान सामंती समाज के विरूद्ध उनकी प्रतिक्रिया व्यक्तिगत खोज बनकर रह गई। उन्होनें खुले संघर्ष की जगह पलायन का रास्ता अपनाया तथा धर्म एवं आध्यात्म को अपना पनाहगार बनाया।

सूफी आंदोलन

सूफी शब्द 'सफा' से निकला है। सफा के कई अर्थ हैं; यथा- पवित्र अथवा ऊन से बने मोटे वस्त्र। सूफी धर्म इस्लाम के अन्तर्गत रहस्यवादी प्रवृत्ति के विकास को अभिव्यक्त करता है। सूफी चिन्तन के विकास में कई प्रकार के विचारों एवं चिन्तनों का योगदान रहा है। उदाहरण के लिए, महायान बौद्ध धर्म, जरथ्रुस्ट धर्म, नवप्लेटोवाद, ईसाई धर्म आदि। अद्वैतवादी चिन्तन से इसकी निकटता निर्गुण भक्ति में भी देखी जा सकती है। सूफी चिन्तन में जीव और ब्रह्म की एकता पर बल दिया गया है। यही वजह है कि रूढ़िवादी सुन्नी मुसलमानों के द्वारा आरम्भ में इसका विरोध हुआ, किन्तु मुस्लिम जगत में इसे प्रतिष्ठित करने का श्रेय अलगज्जाली को दिया जा सकता है। ईरान की भूमि पर सूफी चिन्तन का विकास हुआ। भारत की ओर सूफी चिन्तकों का आगमन सिन्ध विजय के साथ ही आरम्भ हो गया था। गजनी एवं गोरी के काल में बड़ी संख्या में सूफी संत भारत आये। 16वीं सदी में अबुल फजल भारत में 14 सूफी सिलसिलों का जिक्र करता है, इनमें चिश्ती एवं सुहरावर्दी प्रमुख थे।

सूफियों का सामाजिक-सांस्कृतिक योगदान

1. सूफी सन्तों ने ही इस्लाम का मानवीय रूप प्रस्तुत कर भारत में मुस्लिम शासन का सामाजिक आधार तैयार किया।
2. इसने हिन्दू समाज एवं मुस्लिम समाज के बीच वैचारिक सेतु का काम किया।
3. जहाँ कबीर ने आध्यात्मिक सत्ता की एकता का एहसास कराया, वहीं वास्तविक जीवन की एकता जायसी के द्वारा पूरी की गई। वस्तुतः सूफी संतों ने हिन्दुओं के घरों की कहानी हिन्दुओं की भाषाओं में कही। जायसी ने अपने लेखन में अवधी भाषा का प्रयोग किया, वहीं बुल्लेशाह एवं कुछ अन्य संतों ने पंजाबी भाषा का उपयोग किया।
4. सूफी संतों ने उर्दू भाषा-साहित्य के विकास में भी अपना योगदान दिया।
5. भारतीय संगीत परम्परा, विशेषकर हिन्दुस्तानी संगीत के विकास में सूफियों का बड़ा योगदान रहा है। सूफी शेख अपनी खानकाह में समा का आयोजन करते थे। सूफी खानकाहों में संगीत की नवीन शैली के रूप में कव्वाली का विकास हुआ।

प्रश्नः सूफी और मध्यकालीन रहस्यवादी सिद्ध पुरूष (संत) हिंदू-मुसलमान समाजों के धार्मिक विचारों और रीतियों को या उनकी बाह्य संरचना को पर्याप्त सीमा तक रूपान्तरित करने में विफल रहे। टिप्पणी कीजिए।

(UPSC-2014)

उत्तरः सूफी एवं संत भक्ति को मध्यकालीन सामाजिक-धार्मिक आंदोलन के रूप में देखा जाता रहा है क्योंकि ऐसा माना गया कि इन्होंने धार्मिक क्षेत्र में सुधार लाकर सामाजिक व्यवस्था में सुधार लाने का प्रयास किया था। किंतु अगर हम गहराई से परीक्षण करते हैं, तो हम पाते हैं कि उनके द्वारा धर्म और आध्यात्म के माध्यम से किया गया समाज सुधार का प्रयास व्यावहारिक सामाजिक धरातल पर सफल नहीं हो सका।

महत्वपूर्ण संत कबीर और नानक तथा सूफी संत जायसी ने कुछ महत्वपूर्ण धार्मिक और आध्यात्मिक मूल्यों को आधार बनाकर हिंदू और मुस्लिम समाज के अंतर्गत व्याप्त धार्मिक और सामाजिक आडम्बरों को दूर करने का प्रयास किया था। उन्होंने सभी प्रकार के कर्मकांड को अस्वीकार किया। कबीर ने यह स्थापित करने का प्रयास किया कि अल्लाह और ईश्वर एक है; तो हिंदू और मुसलमान पृथक कैसे हो गये? उसी प्रकार उनका यह भी कहना था कि आत्मा और ब्रह्म की एकता को प्राप्त करने के लिए मूर्तिपूजा और कर्मकांड की जरूरत क्या है। किंतु मध्ययुगीन समाज में परिवर्तन लाने के लिए एक क्रमबद्ध और सुस्पष्ट सामाजिक आंदोलन की जरूरत थी, महज धार्मिक और आध्यात्मिक एकता का प्रोत्साहन पर्याप्त नहीं था। इसलिए भक्ति और सूफी संत अपने उद्देश्य में सीमित रूप में ही सफल रहे।

प्रश्न- भारतीय कला में बाँसुरी-वादक कृष्ण अत्यन्त लोकप्रिय है। चर्चा कीजिए। (2012)

उत्तर- भारत की लोक कथा में 'राम' एवं 'कृष्ण' दोनों लोकप्रिय विषय रहे हैं, परन्तु राम की तुलना में कृष्ण अधिक

लोकप्रिय रहे हैं क्योंकि कृष्ण की भक्ति साख्य भाव की भक्ति है, जो रामभक्ति की तुलना में लोकरंजन कहीं अधिक करती है।

साहित्य- चैतन्य एवं मीरा के भजन, सूरदास और वल्लभाचार्य के लेखन से लेकर रहीम कवि की रचनाओं के केन्द्र में मुरली मनोहर कृष्ण रहे हैं।

स्थापत्य कला- उत्तर में मथुरा एवं वृंदावन, पूरब में बंगाल एवं असम, पश्चिम में गुजरात एवं राजस्थान तथा दक्षिण में भारत के कुछ भव्य मंदिरों की शोभा मुरली मनोहर कृष्ण की मूर्ति बढ़ाती रही है।

मूर्तिकला- शायद ही भारत के कोई सफल मूर्तिकार होंगे जिनके हाथों से मुरली मनोहर कृष्ण की मूर्ति नहीं तराशी गयी हो।

चित्रकला- राजपूत चित्रकला से लेकर मुगल चित्रकला तक तथा किशनगढ़ चित्रकला से लेकर मधुबनी चित्रकला तक सभी प्रमुख चित्रकला शैलियों के केन्द्र में राधा-कृष्ण रहे हैं।

नृत्य कला- कथक तथा सत्रिया नृत्य के मूल विषय राधा-कृष्ण के संबंध ही हैं, परन्तु इनका प्रभाव अन्य नृत्य शैलियों पर भी देखा जा सकता है।

संगीत कला- चाहे वह भारत में संगीत की हिन्दुस्तानी शैली हो या कर्नाटक शैली, उनमें विकसित अनेक राग राधा-कृष्ण के संबंधों के इर्द-गिर्द घूमते हैं।

प्रश्नः- भारतीय भक्ति परम्परा में मीराबाई के योगदान को निरुपित कीजिए।

1. मीराबाई ने भक्ति आंदोलन को एक वैकल्पिक स्वर दिया और वह स्वर था- महिला पहचान। भक्ति, मंदिर, साधु ये सभी पुरुष प्रधान समाज से जुड़े हुए थे। संन्यासियों के समूह में किसी संभ्रान्त घर की महिला का शामिल होना एक बड़ा ही क्रान्तिकारी कदम था। परन्तु सिसोदिया राज परिवार की पृष्ठभूमि से आने के बावजूद भी उसने स्वेच्छा से संन्यास जीवन को चुना और महिला भक्तों के समक्ष एक मिसाल खड़ी कर दी।

2. मीरा का आगमन एक पुरुष प्रधान समाज के विरुद्ध महिला विद्रोह का सूचक था, इसलिए इसे एक सामाजिक क्रान्ति के रूप में भी देखा जा सकता है। यही वजह है कि पुरुष प्रधान समाज के लिए मीरा की स्मृति सुखद नहीं है। आज भी राजस्थान में कोई अपनी पुत्री का नाम मीरा नहीं रखना चाहता।

3. कृष्ण भक्ति का सबसे कोमल पक्ष मीरा की भक्ति के रूप मे व्यक्त हुआ है। मीरा के भजन भारतीय संगीत की अनुपम धरोहर बन गये, इतना तक कि महात्मा गाँधी ने अपना अंतिम जन्म दिन, जो स्वतंत्र भारत में उनका पहला जन्म दिन था, मीरा के भजन सुनकर मनाया।

4. मीरा की रचनाएँ राजस्थानी साहित्य की अनुपम धरोहर हैं।

प्रश्नः- चैतन्य महाप्रभु के आगमन से भक्ति आंदोलन को एक असाधारण नयी दिशा मिली थी। चर्चा कीजिए।

1. चैतन्य महाप्रभु ने भक्ति में अत्यधिक भावनात्मक तत्व लाकर उसे सूफी पंथ के करीब ला दिया।

2. उन्होंने संकीर्तन प्रणाली चलायी। इस कारण भक्ति आंदोलन ने एक लोकप्रिय आंदोलन का रूप ले लिया तथा बंगाल में हिन्दू और मुसलमान दोनों संकीर्तन की ओर आकर्षित हुए।

3. चैतन्य भक्ति ने मुस्लिम बहुल क्षेत्र में अपना आधार निर्मित किया तथा न केवल इस्लाम धर्म में धर्मान्तरण को सीमित कर दिया, बल्कि चैतन्य के प्रभाव में अनेक मुसलमान हिन्दू धर्म में धर्मान्तरित हुए।

4. इनका प्रभाव इतना अधिक बढ़ गया कि इन्हें कृष्ण का अवतार माना जाने लगा। फिर इन्होंने अपने 6 गोस्वामी संतों को भेजकर वृंदावन में भक्ति का आधार बनाया।

5. इन्होंने बंगाल में इतनी ठोस बंगाली संस्कृति कायम कर दी कि भारत के विभाजन के पश्चात् भी पाकिस्तान, बांग्ला संस्कृति की विरासत से मुक्त नहीं हो सका और फिर उसे शीघ्र ही दूसरे विभाजन का सामना करना पड़ा।

6. चैतन्य की भक्ति ने कृष्ण भक्ति को इतना रूपान्तरित कर दिया कि कृष्ण भक्ति न केवल विभिन्न क्षेत्रों के भारतीयों के लिए, बल्कि विदेशियों के लिए भी आकर्षण का केन्द्र बन गयी तथा इसका ज्वलंत उदाहरण है इस्कॉन मंदिर।

अभ्यास प्रश्न- भक्ति साहित्य की प्रकृति का मूल्यांकन करते हुए भारतीय संस्कृति में इसके योगदान का निर्धारण कीजिए। (150 शब्द, 2021)

सल्तनत कालीन साहित्य (1200 ई.-1526 ई.)

■ **फारसी भाषा-साहित्य :** इस काल में राजभाषा के रूप में फारसी को स्वीकृति मिली। जैसा कि हम जानते हैं कि फारसी भाषा-साहित्य का विकास ईरान में हुआ था। महमूद गजनी के समय फारसी भाषा-साहित्य का पुनर्जागरण संभव हुआ। वही काल है, जब फिरदौसी नामक विद्वान ने शाहनामा नामक कृति लिखी।

फिर तुर्की शासकों ने भारत में राजभाषा के रूप में फारसी को अपना लिया। यह वह काल है, जब दूर-दराज से विद्वान मंगोल आक्रमण के डर से भारत की ओर पलायन कर रहे थे तथा उन विद्वानों को केन्द्र तथा विभिन्न प्रांतीय सरकारों के अंतर्गत संरक्षण मिल रहा था। इसके अतिरिक्त, भारत के विभिन्न क्षेत्रों से आए हुए विद्वान भी फारसी भाषा-साहित्य का संरक्षण कर रहे थे।

पहली बार इस काल में फारसी में अनेक ऐसे ग्रन्थ लिखे गए, जिनकी पहचान इतिहास ग्रन्थों के रूप में हुई है। वस्तुत: इस्लाम में पैगम्बर के जीवन से जुड़ी हुई घटनाओं के अंकन को एक पवित्र धार्मिक कार्य माना गया। पैगम्बर के पश्चात् खलीफाओं के जीवन से जुड़ी हुई घटनाओं का लेखन भी एक पवित्र कार्य माना गया। तत्पश्चात् आगे सुल्तान के जीवन से जुड़ी हुई घटनाओं के अंकन को भी विशेष महत्व दिया जाने लगा। इसलिए इस काल में बड़ी संख्या में इतिहास ग्रन्थों की रचना हुई। दिल्ली सल्तनत की स्थापना के पश्चात् सर्वप्रथम कुतुबुद्दीन ऐबक के दरबार में **हसन निजामी** नामक विद्वान ने **'ताज-उल-मासिर'** नामक ग्रंथ की रचना की। इससे हमें दिल्ली सल्तनत के स्थापत्य की सूचना मिलती है। इसके आगे की कड़ी **मिन्हाज-उस-सिराज** के द्वारा लिखित **'तबकात-ए-नासिरी'** है। उसी प्रकार, इसके आगे की कड़ी **बरनी** की **'तारीख-ए-फिरोजशाही'** है। बरनी की परंपरा को आगे बढ़ाता है **अफीफ,** जिसने एक दूसरी तारीख-ए-फिरोजशाही लिखी। इसके आगे की एक कृति **याहिया-बिन अहमद सरहिन्दी** की **'तारीख-ए-मुबारकशाही'** है।

• **अमीर खुसरो**- अमीर खुसरो अपने युग का एक प्रमुख विद्वान था। उसने फारसी में कुछ महत्वपूर्ण साहित्यिक ग्रंथों की रचना की, जिससे समकालीन इतिहास पर भी प्रकाश पड़ता है। उदाहरण के लिए, किरान-उस-सदायन, मिफ्ताह-उल-फुतुह, खजायन-उल-फुतुह आदि। सबसे बढ़कर अमीर खुसरो ने देशी भाषा के विकास में भी योगदान दिया। उसे 'हिंदवी' के विकास का श्रेय दिया जाता है। यह खड़ी बोली पर आधारित थी तथा आगे इसकी दो शैलियां विकसित हुई। देवनागरी लिपि में लिखी जाने वाली शैली 'हिन्दी' कहलाई, तो फारसी में लिखी जाने वाली शैली 'उर्दू' (रेखता) कहलायी। इस आधार पर अमीर खुसरो को उर्दू का जनक भी माना जाता है।

■ **देशी भाषा**

• **संस्कृत साहित्य**- इस काल में कुछ हिन्दू राजवंशों का पतन हो गया था, इसलिए संस्कृत साहित्य को थोड़ा धक्का लगा था, फिर भी कुछ अन्य क्षेत्रीय हिन्दू शासकों के द्वारा इन्हें संरक्षण दिया जाता रहा। फिर चूँकि ये धर्म से जुड़े रहे थे, इसलिए इनका महत्व बना रहा।

• **हिन्दी एवं उर्दू**- इस काल में हिन्दी भाषा-साहित्य को प्रोत्साहन मिला, इसे प्रोत्साहन देने में भक्ति संतों का विशेष योगदान रहा। उदाहरण के लिए, राम भक्त कवियों ने अवधी भाषा को प्रोत्साहन दिया, तो कृष्ण भक्त कवियों ने ब्रज भाषा को। उसी प्रकार, कबीरदास ने हिन्दी भाषा को बल प्रदान किया।

फारसी भाषा एवं भारतीय भाषाओं के सम्पर्क से उर्दू का विकास हुआ। इस विषय में एक मान्यता यह है कि इसका विकास सूफी खानकाह या फिर सैनिक लश्कर (शिविर) में हुआ। यह भाषा पहले दक्षिण की ओर गयी तथा इसे 'दक्कनी' के नाम से जाना गया।

■ **क्षेत्रीय भाषा और साहित्य**

पूर्व मध्य काल में बढ़ती हुई स्थानीयता के प्रभाव के कारण क्षेत्रीय भाषा का विकास होने लगा। उदाहरण के लिए, पंजाबी, बंगाली, गुजराती, मैथिली, उड़िया आदि। पंजाबी भाषा का विकास गुरूनानक की वाणी से माना जा सकता है तथा इसे प्रोत्साहन देने में अन्य गुरूओं का भी योगदान रहा। गुरू अर्जन देव ने पंजाबी भाषा में गुरूग्रंथ साहिब का संकलन किया। उसी प्रकार, गुजराती भाषा के विकास में भक्ति संत नरसी मेहता का विशेष योगदान रहा। उन्हीं के काल में गुजराती भाषा स्वतंत्र रूप में उभरकर आयी। उसी प्रकार, मैथिली भाषा-साहित्य के विकास में हम विद्यापति का विशेष योगदान मान सकते हैं। इस काल में बांग्ला भाषा का भी स्वतंत्र रूप में विकास हुआ। बांग्ला भाषा पर भी मैथिली का प्रभाव माना जा सकता है। बताया जाता है, जब वृंदावनदास जैसे संतकवि के द्वारा चैतन्य की जीवनी लिखी गयी, तो बंगाली भाषा-साहित्य के विकास का आधार निर्मित हुआ। फिर हम इस काल में मराठा साहित्य का भी विकास पाते हैं। मराठी भाषा-साहित्य के विकास में मराठी संतों का विशेष योगदान रहा, उदाहरण के लिए, नामदेव, एकनाथ, तुकाराम आदि।

मुगलकालीन साहित्य

साहित्यिक एवं कलात्मक गतिविधियों की दृष्टि से मुगल काल एक विशिष्ट काल था। मुगलों ने एक बड़े क्षेत्र में संसाधनों का दोहन किया। इसी अपार संसाधन की बदौलत साहित्य तथा कला को संरक्षण देना संभव हुआ।

■ **साहित्यिक गतिविधियों को प्रेरित करने वाले कारक**

मुगल शासकों ने बड़ी संख्या में विद्वानों को संरक्षण दिया। इसलिए बाबर से लेकर औरंगजेब के काल तक मुगल दरबार में विद्वानों की उपस्थिति बनी रही। आगे मुगल सम्राज्य के विघटन के पश्चात् भी मुहम्मद शाह जैसे शासकों ने विद्वानों को संरक्षण देना जारी रखा। इसलिए अकबर के काल में फैजी सरहिन्दी से लेकर अबुल फजल तक अनेक विद्वानों को संरक्षण दिया गया। उसी प्रकार, जहाँगीर के काल में मुतमिद खान, ख्वाजा कामगार, शाहजहाँ के काल में अब्दुल हमीद लाहौरी तथा इनायत खान जैसे विद्वान तथा औरंगजेब के काल में मिर्जा मुहम्मद काजिम, ईश्वरदास नागर, भीमसेन बुरहानपुरी आदि विद्वान संरक्षण पाते रहे।

मुगल शासकों को साहित्यिक लेखन में विशेष रूचि थी। उदाहरण के लिए, बाबर ने स्वयं अपनी आत्मकथा लिखी तुजुक-ए-बाबरी (तुर्की भाषा में लिखी गयी है)। आगे जहाँगीर ने 'तुजुक-ए-जहाँगीरी' नामक कृति लिखी। यह जहाँगीर की आत्मकथा है।

मुगल शासकों ने भी ऐतिहासिक ग्रंथों के लेखन में विशेष दिलचस्पी दिखाई तथा उन्होंने अपने दरबार में प्रसिद्ध इतिहासकारों को संरक्षण दिया। उदाहरण के लिए, हुमायूँ की बहन गुलबदन बेगम ने हुमायूँनामा नामक कृति लिखी। अकबर के दरबार में फैजी सरहिन्दी तथा अबुल फजल दोनों ने एक-एक अकबरनामा लिखी। अबुल फजल द्वारा लिखित आईन-ए-अकबरी, अकबरनामा का ही भाग है। वहीं अकबर के एक प्रबल आलोचक बदायूंनी ने 'मुंतखाब-उत-तवारीख' नामक कृति लिखी, निजामुद्दीन अहमद ने 'तबकात-ए-अकबरी' नामक ग्रंथ लिखा। जहाँगीर के काल में मुतमिद खान ने इकबाल-नामा-ए-जहाँगीरी लिखी, तो ख्वाजा कामगार ने मासिर-ए-जहाँगीरी की रचना की। उसी प्रकार, शाहजहाँ के काल में अब्दुल हमीद लाहौरी तथा मुहम्मद वारिस ने पादशाहनामा की रचना की, जबकि इनायत खान ने शाहजहाँनामा लिखी। आगे औरंगजेब के काल में, यद्यपि इतिहास लेखन पर पाबंदी लगा दी गयी थी, इसलिए इतिहास लेखन की गतिविधियाँ सीमित ही रही थीं, फिर खफी खान को 'मुन्तखाब-उल-लुबाक' नामक कृति गुप्त रूप से लिखनी पड़ी थी। इसी काल में मिर्जा मुहम्मद काजिम ने आलमगीरनामा लिखकर औरंगजेब को अर्पित किया था।

मुगल शासकों की परंपरा उदार शासकों की परंपरा रही थी। इसलिए इनके द्वारा समन्वित संस्कृति को प्रोत्साहन दिया गया था। अतः मुगल दरबार में फारसी के साथ-साथ अन्य भारतीय भाषा-साहित्य को भी संरक्षण मिला था। उदाहरण के लिए, अकबर के दरबार में हिन्दी काव्य लेखन में मानसिंह तथा बीरबल (महेश दास ठाकुर) ने महत्वपूर्ण योगदान दिया। उसी प्रकार, शाहजहाँ के दरबार में पंडित जगन्नाथ को संरक्षण मिला था।

उत्तरवर्ती मुगल शासकों के काल में उर्दू भाषा-साहित्य को विशेष रूप में प्रोत्साहन मिला। दक्षिण की उर्दू का एक प्रमुख विद्वान वली दक्कनी 18वीं सदी में मुगल दरबार में आया। फिर उर्दू साहित्य, फारसी साहित्य के समानांतर स्थापित हो गया। उर्दू साहित्य के विकास में मीरतकी मीर, दर्द एवं सौदा जैसे कवियों का विशेष योगदान रहा।

मुगल शासकों में अकबर ने भारतीय ग्रंथों का फारसी में अनुवाद कराने में विशेष रूचि दिखाई। इसी उद्देश्य से अनुवाद विभाग की स्थापना की गयी तथा फैजी सरहिन्दी के निर्देशन में इसका संचालन हुआ। फिर रामायण, महाभारत, लीलावती, पंचतंत्र आदि प्रमुख भारतीय ग्रंथों का फारसी में अनुवाद हुआ।

इस काल में भक्ति आन्दोलन को विशेष प्रोत्साहन मिला था। इसलिए मुगल दरबार से बाहर भी क्षेत्रीय भाषा-साहित्य को प्रोत्साहन मिलता रहा। उदाहरण के लिए-

1. **अवधी भाषा**- राम भक्त कवियों का योगदान-अकबर के काल में तुलसीदास द्वारा रामचरितमानस की रचना।
2. **ब्रज भाषा**- ब्रज भाषा के विकास में कृष्ण भक्त कवियों का योगदान। अकबर के ही काल में सूरदास ने सूर सागर की रचना की। इसी काल में विठ्ठल दास ने 84 विष्णु की वार्ता की रचना की।
3. **पंजाबी भाषा**- पंजाबी भाषा के विकास में सिख गुरूओं का विशेष योगदान रहा था। किंतु 18वीं सदी तक इसमें धार्मिक साहित्य के साथ-साथ गैर-धार्मिक साहित्य की भी रचना होने लगी थी। उदाहरण के लिए, इसी काल में हीर-रांझा नामक कृति लिखी गयी।
4. **बांग्ला भाषा-साहित्य**- इसके विकास में वृन्दावन दास, कृष्णदास कविराज, लोचनदास आदि विद्वानों का महत्वपूर्ण योगदान रहा।
5. **मराठी भाषा-साहित्य**- मराठी साहित्य के विकास में एकनाथ, तुकाराम तथा शिवाजी के गुरू रामदास समर्थ का विशेष योगदान रहा। रामदास ने 'दासबोध' की रचना की थी।

मध्यकाल में शिक्षा पद्धति का विकास

मध्यकाल में शैक्षणिक गतिविधियाँ अभिजात्य तत्वों तक ही सीमित थीं और इस संबंध में हमें जो भी सूचना प्राप्त होती है, वे सूचनाएँ भी अभिजात्य भाषाओं में ही निहित हैं।

यह वह काल है कि जब 7वीं सदी तथा उसके पश्चात् ही भारतीय उपमहाद्वीप इस्लामी विश्व की संस्कृति से प्रभावित होने लगा था। वस्तुतः इस्लामी संस्कृति का आधार कुरान ने तैयार किया था। कुरान में वे तथ्य वर्णित थे, जो अल्लाह के शब्दों में कहे गये थे तथा मुहम्मद पैगम्बर के द्वारा प्रकट किए गये थे। उसी प्रकार, कुरान की तरह हदीस का अध्ययन भी इस्लामी शिक्षा पद्धति का अंग था। हदीस मुहम्मद पैगम्बर की परम्परा को व्यक्त करता है। इस्लामी शिक्षा पद्धति ने वास्तविक विद्वानों का ध्यान आकर्षित किया, फिर कागज के प्रयोग ने इस शिक्षा पद्धति के विकास में अहम भूमिका निभाई।

विशेषकर जब मध्य एशिया एवं पश्चिम एशिया में मंगोलों का आक्रमण हुआ, तो वहाँ से विद्वान पलायन करने लगे तथा वे मुस्लिम विश्व के प्रमुख केंद्र दिल्ली में आश्रय पाने लगे। मध्य एशिया तथा पश्चिम एशिया से आये हुए विद्वानों ने भी इस्लामी संस्कृति के प्रसार में अहम भूमिका निभाई। दिल्ली एवं अन्य नगरों में उनकी उपस्थिति से मक़तबों एवं मदरसों की स्थापना को प्रोत्साहन मिला। उदाहरण के लिए, एक विद्वान अल-उमरी ने 14वीं सदी में लिखते हुए यह सूचित किया है कि दिल्ली में लगभग 1 हजार मदरसे स्थापित थे।

इसके अतिरिक्त सूफी खानकाहों ने भी शिक्षा के विकास में अपनी भूमिका निभाई। निजामुद्दीन औलिया से लेकर नसीरउद्दीन तक विभिन्न सूफी संतों ने शिक्षा में अपना योगदान दिया। वस्तुतः शिक्षा के विकास में धन का आवंटन राज्य एवं निजी व्यक्ति दोनों के द्वारा किया जाता था। इसलिए शिक्षा का विकास बहुत हद तक शासक वर्ग की रूचि पर निर्भर करता था। इसलिए जब भी ऊपर के स्तर पर शासकों में परिवर्तन होता, तब विद्वानों के समक्ष भी संरक्षण मिलने का संकट उपस्थित हो जाता। कई बार साम्प्रदायिक मुद्दे; यथा- शिया-सुन्नी के मुद्दे पर भी राज्य का संरक्षण वापस लिया जाता।

सामान्यतः ऐसा माना जाता है कि मध्यकाल में संस्कृत पर आधारित शिक्षा को राज्य के द्वारा संरक्षण नहीं दिया गया, अपितु राज्य ने फारसी तथा अरबी शिक्षा को संरक्षण दिया। किंतु इस तथ्य को स्वीकार नहीं किया जा सकता। हमें फारसी ग्रंथों से यह सूचना मिलती है कि इस काल में संस्कृत केन्द्रित शिक्षा पद्धति का भी विकास हुआ तथा अन्य हिंदू विद्वानों को भी प्रोत्साहन मिला। बनारस, इस काल में महत्वपूर्ण शिक्षा केंद्र था। फिर ब्राह्मण केवल हिंदू-विज्ञान में ही सिद्धहस्त नहीं थे और न ही उन्होंने अपने को संस्कृत शिक्षा तक सीमित रखा था, अपितु उन्होंने अरबी एवं फारसी का ज्ञान भी प्राप्त किया था।

मध्यकाल में शिक्षा के विकास को प्रोत्साहन देने में कागज के साथ जिल्दसाजी के विकास की भी भूमिका रही। इसलिए इस काल में बड़े-बड़े पुस्तकालयों का विकास हुआ। मुगल शासकों तथा उनके कुछ महत्वपूर्ण कुलीनों ने भी महत्वपूर्ण पुस्तकालयों की स्थापना की थी। मुगल शासकों में अकबर ने शिक्षा के विकास के लिए महत्वपूर्ण कार्य किया। उसके द्वारा धर्मनिरपेक्ष शिक्षा पर बल प्रदान किया गया था। शाहजहाँ ने भी दिल्ली में एक कॉलेज की स्थापना की थी। मुगल दरबार में अनेक महत्वपूर्ण विद्वान थे, जैसे:-शेख अब्दुल्ला शिराजी, अबुल फज़ल, महत्वपूर्ण खगोलविद् सवाई जय सिंह तथा महत्वपूर्ण कवि मिर्ज़ा गालिब।

किंतु आगे चलकर औपनिवेशिक शासन के अंतर्गत इस देशी शिक्षा पद्धति ने राज्य का समर्थन खो दिया तथा देशी शिक्षण पद्धति का एक छोटा-सा अंश ही राज्य के अंतर्गत पनप सका, जबकि उसके समानान्तर अंग्रेजी शिक्षा पद्धति को विशेष प्रोत्साहन दिया गया।

■■■

सल्तनतकालीन स्थापत्य

स्थापत्य कला किसी भी युग के चिंतन तथा दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति होती है। भारत में स्थापत्य की एक समृद्ध परम्परा थी जिसकी विशेषता थी धरणिक शैली (शहतीरी शैली) अर्थात् इसमें स्तंभ तथा शहतीर की प्रधानता थी। तुर्क अपने साथ एक नवीन शैली लेकर आये, जिसे मेहराबी शैली के नाम से जाना जाता है। इसका आधार था मेहराब एवं गुंबद का प्रयोग। अब चूँकि स्थापत्य को जोड़ने के लिए चूने तथा जिप्सम का प्रयोग आरंभ हो गया था। अत: मेहराब का निर्माण आसान हो गया।

■ आरम्भिक स्थापत्य

भारत में जब तुर्कों का आगमन हुआ, तो आरम्भ में उनके पास नये प्रकार के स्थापत्य निर्माण का वक्त नहीं था, इसलिए उन्होंने भारत में कुछ प्रचलित स्थापत्यों को ही मुस्लिम स्थापत्य के रूप में ढाल लिया। उदाहरण के लिए, कुतुबुद्दीन ऐबक ने दिल्ली में कुव्वत-उल-इस्लाम मस्जिद तथा अजमेर में अढ़ाई दिन का झोपड़ा का निर्माण किया। वस्तुत: भारत में प्रचलित स्थापत्य तथा मुस्लिम स्थापत्य में दो विशेषतायें समान थीं। यही वजह है कि इन स्थापत्यों को इस्लामिक स्थापत्य में तब्दील करने में आसानी हुई। प्रथम, दोनों में खुले प्रांगण थे। दूसरे, दोनों में सजावट के लिए अलंकरण का प्रयोग किया जाता था।

कुतुब मीनार, दिल्ली

इसी काल में तुर्की विजय की स्मृति के प्रतीक के रूप में कुतुब मीनार (वर्तमान मेहरौली, दिल्ली) का भी सल्तनत कालीन स्थापत्य में एक महत्वपूर्ण स्थान है। कुतुब मीनार में इण्डो-इस्लामी स्थापत्य शैली की मूल विशेषता दृढ़ता तथा सौंदर्य की भरपूर झलक मिलती है। इसका निर्माण पूर्णतया लाल बलुआ पत्थर से किया गया है। इस मीनार का मुख्य आकर्षण इसके छज्जों को बनाने की कौशलपूर्ण विधि में है। मीनार की दीवारों पर धारीदार एवं कोणीय प्रक्षेपों के प्रयोग, पैनल एवं ऊपरी चरणों में लाल के साथ सफेद बालुआ पत्थरों के प्रयोग के कारण इसकी प्रभावनीयता और बढ़ जाती है।

■ इल्बरी वंश के स्थापत्य

भारत में स्थापित होने के पश्चात् तुर्की शासकों ने स्वतंत्र रूप में स्थापत्यों के निर्माण के लिए भारतीय स्थापत्यकारों को लगाया। अत: भारतीय स्थापत्य की शैली से मुस्लिम स्थापत्य का प्रभावित होना बहुत ही स्वाभाविक था। फिर आगे विभिन्न वंशों के अधीन मेहराबी शैली तथा शहतीरी शैली के बीच क्रमिक सामंजस्य होता रहा तथा फिर इस सामंजस्य के परिणामस्वरूप एक स्वतंत्र भारतीय शैली का विकास हुआ।

इल्बरी वंश के अधीन इल्तुतमिश के द्वारा स्थापत्य का निर्माण आरम्भ किया गया। उदाहरण के लिए, उसने कुतुबुद्दीन ऐबक के द्वारा स्थापित कुतुबमीनार के कार्य को पूरा कराया, फिर उसने अपने बेटे राजकुमार मुहम्मद की स्मृति में सुल्तान-ए-गढ़ी का निर्माण कराया। आगे बलबन के मकबरे को एक महत्वपूर्ण स्थापत्य का दर्जा दिया जाता है तथा यह बताया जाता है कि पहली बार इसी स्थापत्य में वैज्ञानिक प्रकार के गुम्बद का विकास हुआ। किन्तु नवीन शोधों से यह स्थापित होता है कि अलाउद्दीन खिलजी द्वारा निर्मित अलाई दरवाजा पहला वैज्ञानिक गुम्बद एवं मेहराब का उदाहरण है।

■ खिलजी स्थापत्य

खिलजी काल में चलकर मेहराबी शैली कुछ और भी वयस्क हुई। बताया जाता है अलाउद्दीन खिलजी के द्वारा निर्मित अलाई दरवाजा पहला वैज्ञानिक प्रकार के मेहराब एवं गुम्बद के प्रयोग का उदाहरण है। पहली बार संगमरमर का प्रयोग भी इसी स्थापत्य में मिलता है अर्थात् यह भारत का पहला ऐसा मुस्लिम स्थापत्य है, जिसमें संगमरमर का प्रयोग हुआ था। बताया जाता है अलाउद्दीन खिलजी एक ऐसी मीनार बनवाना चाहता था, जो कुतुबमीनार के आकार से दुगुनी हो, किन्तु असमय मृत्यु हो जाने के कारण वह इस काम को पूरा नहीं कर सका। फिर अलाउद्दीन खिलजी ने ही निजामुद्दीन औलिया की दरगाह पर 'जमायत-ए-खाना' मस्जिद का निर्माण कराया था। यह मस्जिद इस्लामी सिद्धांतों पर निर्मित प्रथम स्थापत्य का उदाहरण है।

अलाई दरवाजा, दिल्ली

- **तुगलक स्थापत्य**

शैलीगत विकास की दृष्टि से तुगलक स्थापत्य का विशेष महत्व है। पूर्व काल की तुलना में तुगलक स्थापत्य में मेहराबी शैली तथा शहतीरी शैली के बीच बेहतर सामंजस्य देखने को मिलता है। तुगलक कालीन स्थापत्य निर्माण के लिए अच्छी निर्माण सामग्री के बदले मलबे का अधिकाधिक प्रयोग राज्य की आर्थिक कठिनाईयों की ओर संकेत करता है। गयासुद्दीन तुगलक तथा मुहम्मद-बिन-तुगलक के स्थापत्य में ढलवा दीवारों का प्रयोग हुआ है, इन्हें सलामी (Batter) कहा जाता था। तुगलक शासकों के द्वारा तीन मध्यकालीन नगरों का निर्माण करवाया गया था। उदाहरण के लिए, गयासुद्दीन तुगलक के द्वारा तुगलकाबाद, मुहम्मद-बिन-तुगलक के द्वारा जहाँपनाह और फिरोज शाह तुगलक के द्वारा फिरोज शाह कोटला। मुहम्मद-बिन-तुगलक के स्थापत्य में मेहराबी तथा शहतीरी शैली के बीच बेहतर सामंजस्य लाकर चतुष्कोणीय मेहराब का निर्माण किया गया। यह शैली आगे अकबर के अधीन फतेहपुर सीकरी के स्थापत्य में अपनाई गयी।

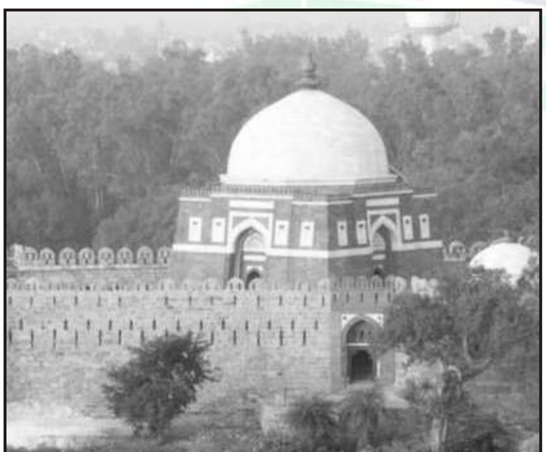

तुगलकाबाद का किला, दिल्ली

अगर हम फिरोजशाह तुगलक के स्थापत्य पर नजर डालते हैं, तो हमें ज्ञात होता है उसके स्थापत्य पर ढलवा दीवार अथवा सलामी का उपयोग नहीं हुआ है, किन्तु सजावट के लिए कमल का उपयोग हुआ है।

- **लोदी स्थापत्य**

लोदी स्थापत्य में मेहराबी तथा शहतीरी शैली के बीच कहीं अधिक सामंजस्य देखने को मिलता है। इस काल में स्थापत्य का निर्माण बगीचे के बीच किया गया। साथ ही उनमें छज्जा एवं छतरियों का प्रयोग किया गया है। उपर्युक्त सभी भारतीय (हिन्दू) स्थापत्य के लक्षण हैं।

लोदी स्थापत्य की निम्नलिखित विशेषताएं रही हैं-

1. बगीचे के बीच स्थापत्य का निर्माण।
2. अष्टकोणीय आकार।
3. दोहरी परत वाले गुम्बद का प्रयोग।
4. स्थापत्य को ऊँचे चबूतरे पर बनाया जाना।

लोदी गार्डन, दिल्ली

मुगलकालीन स्थापत्य

मुगलों के अधीन एक बड़े क्षेत्र में संसाधनों का दोहन हुआ, इसलिए इस काल में स्थापत्य निर्माण के लिए बेहतर संसाधन उपलब्ध हुए। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य कारणों से भी इस काल में स्थापत्य निर्माण को प्रोत्साहन मिला था। प्रथम, स्थापत्य निर्माण में मुगल बादशाहों की व्यक्तिगत रूचि भी थी, दूसरे, इस काल में स्थापत्य निर्माण से पूर्व स्थापत्य का खाका भी तैयार किया जाने लगा।

- **बाबर और हुमायूँ**

बाबर, जब हिन्दुस्तान आया, तो उसे हिन्दुस्तान का स्थापत्य आकर्षित नहीं कर सका। उसका मानना था कि हिन्दुस्तान में जो स्थापत्य निर्मित किए गये थे, उनमें उचित अनुपात तथा संतुलन का अभाव था। उसे केवल ग्वालियर के स्थापत्य ने प्रभावित किया था। बाबर के द्वारा मस्जिदें बनाई गई थीं। उदाहरण- पुराने लोदी किले में निर्मित एक मस्जिद, पानीपत में निर्मित एक स्मारक मस्जिद। इसी प्रकार बाबर ने

एक उचित पद्धति का प्रयोग करते हुए कुछ बेहतर किस्म के बागों को स्थापित किया था। उदाहरण के लिए, आरामबाग आदि। बाबर की तरह हुमायूँ को भी स्थापत्य निर्माण के लिए समय नहीं मिल सका। उसके द्वारा भी कुछ मस्जिदों का निर्माण कराया गया था। किन्तु उसकी मृत्यु के पश्चात् उसकी पत्नी हमीदा बानू बेगम ने उसका मकबरा बनवाया, वह एक अनुपम कृति है।

राम बाग, आगरा

इस मकबरे में इस्लामी तथा हिन्दू शैलियों के बीच समन्वय देखा जा सकता है। उदाहरण के लिए, यह चारबाग शैली में निर्मित है। बाग के बीच स्थापत्य के निर्माण पर हिन्दू स्थापत्य का प्रभाव माना जा सकता है, उसी प्रकार छतरियों का प्रयोग भी हिन्दू स्थापत्य का लक्षण है, उसी तरह दोहरे परत वाले गुम्बद का प्रयोग, मीनारों का प्रयोग आदि इस्लामी स्थापत्य की ओर संकेत करता है। हुमायूँ के मकबरे में मुगल राजस्व के दैवीकरण का भी प्रयास दिखता है। एक बाग के बीच मकबरे के निर्माण का संदेश यह है कि यह एक पवित्र आत्मा है, इसे शांति से सोने दो।

■ अकबर कालीन स्थापत्य

अकबर एक महान निर्माता था, उसने दो चरणों में निर्माण कार्य को पूरा किया था। प्रथम चरण में उसने आगरा, इलाहाबाद और लाहौर में किले बनवाये थे। फिर दूसरे चरण में उसने फतेहपुर सीकरी में निर्माण कार्य पूरा किया।

अकबर के स्थापत्य लाल पत्थरों में निर्मित हैं तथा अत्यधिक भव्य हैं। उसके स्थापत्य में मुगल बादशाहत की शक्ति एवं ओज व्यक्त हुए हैं। इसमें एक बनते हुए साम्राज्य की झलक मिलती है।

अबुल फजल कहता है कि अकबर ने आगरा में महान स्थापत्यों का निर्माण कराया। बताया जाता है कि गुजरात एवं बंगाली शैली में 500 से अधिक स्थापत्य निर्मित किए गये थे। किन्तु शाहजहाँ ने उन्हें ध्वस्त कर दोबारा नये स्थापत्यों का निर्माण कराया। इसलिए वर्तमान में आगरा में केवल जहाँगीरी और अकबरी महल, अकबर के काल के हैं।

अकबर के स्थापत्य में शहतीरी शैली की प्रधानता दिखती है। उसने मुख्यत: शहतीरी शैली में ही स्थापत्यों का निर्माण कराया। केवल अलंकरण के लिए मेहराबी शैली का प्रयोग किया गया।

अकबर ने फतेहपुर सीकरी का निर्माण गुजरात विजय के पश्चात् आरम्भ किया था। फिर बुलन्द दरवाजा का निर्माण दक्कन विजय के पश्चात् हुआ।

पंच महल, फतेहपुर सीकरी

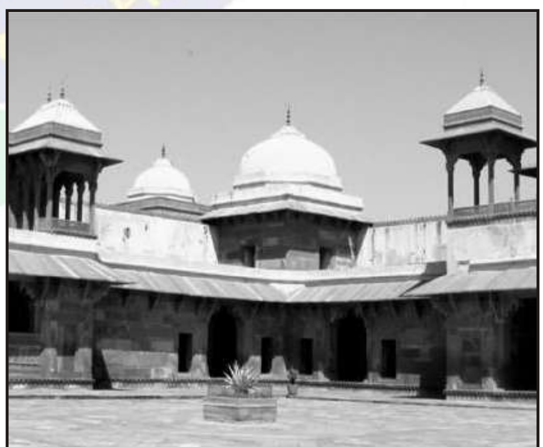

जोधाबाई महल, फतेहपुर सीकरी

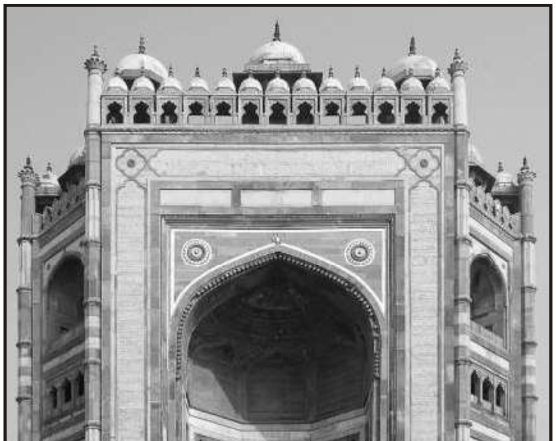

बुलन्द दरवाजा, फतेहपुर सीकरी

■ जहाँगीर कालीन स्थापत्य

आगे जहाँगीर और शाहजहाँ के काल में स्थापत्य का क्रमिक विकास देखने को मिलता है। जहाँ अकबर के स्थापत्य में शक्ति और ओज व्यक्त हुआ, वहीं जहाँगीर और शाहजहाँ के स्थापत्य में स्त्रियोचित सौंदर्य व्यक्त हुआ है। जहाँगीर के काल के तीन महत्वपूर्ण स्थापत्य मिलते हैं, जो इस प्रकार हैं–

1. अकबर का मकबरा (आगरा)
2. अब्दुर रहीम खान–ए–खाना का मकबरा (दिल्ली)
3. एतमाद्उद्दौला का मकबरा (आगरा)

अलंकरण और सजावट के लिए जहाँगीर ने निम्नलिखित पद्धति पर बल दिया–

1. संगमरमर की जाली का प्रयोग
2. पित्रादुरा का उपयोग।

वस्तुत: इस काल में सफेद संगमरमर के भवन बनने लगे थे। इसलिए अब अन्य रंग के अर्द्धकीमती पत्थरों से फूल–पत्तियों के रूप में उन्हें सजाया जाने लगा।

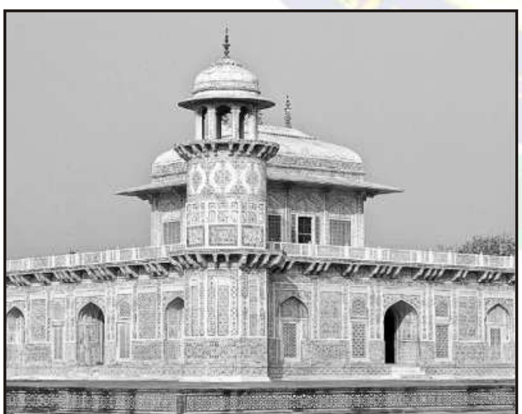

एतमादुद्दौला का मकबरा, आगरा

■ शाहजहाँ कालीन स्थापत्य

शाहजहाँ को स्थापत्य में विशेष रूचि थी। उसने विभिन्न किलों तथा अनेक भवनों का निर्माण कराया। उदाहरण के लिए, उसने आगरा किले में अकबर के भवनों को तुड़वाकर सफेद संगमरमर के नये भवनों का निर्माण कराया। फिर उसने दिल्ली में शाहजहाँबाद नामक नई राजधानी बनाई तथा वहाँ लाल किले का निर्माण कराया। लाल किले के अन्तर्गत भी अनेक भवन बनाए गये। शाहजहाँ के द्वारा भी सफेद संगमरमर में अनेक भवनों का निर्माण कराया गया। उसने भवनों के अलंकरण के लिए संगमरमर की जाली तथा पित्रादुरा का प्रयोग जारी रखा। साथ ही उसने सजावट के लिए एक और भी पद्धति अपनाई, वह है–बहुस्तरीय मेहराब का प्रयोग।

शाहजहाँ के काल की सबसे अनुपम कृति है– ताजमहल। ताजमहल के निर्माण में मुगल स्थापत्य की लगभग सभी विशेषताएं उभरकर आयी हैं। उदाहरण के लिए –

- चारबाग शैली
- दोहरी परत वाले गुम्बद का प्रयोग
- छतरियों का प्रयोग
- सजावट के लिए पित्रादुरा का प्रयोग
- ऊँचे चबूतरे पर स्थापत्य का निर्माण

■ औरंगजेब कालीन स्थापत्य

औरंगजेब के काल में आकर स्थापत्य का पतन देखा गया। उसके काल के तीन ही स्थापत्य प्राप्त होते हैं और ये भी स्थापत्य प्रभावी नहीं हैं। ये स्थापत्य हैं–

- दिल्ली की मोती मस्जिद
- लाहौर की बादशाही मस्जिद
- औरंगाबाद में राबिया दुर्रानी का मकबरा

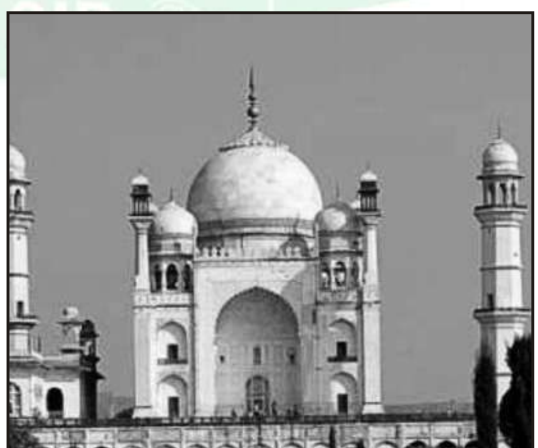

राबिया-उद्-दौरानी का मकबरा (बीबी का मकबरा)

■ **शेरशाह कालीन स्थापत्य-**

शेरशाह को न केवल प्रशासन और अर्थव्यवस्था के क्षेत्र में, अपितु स्थापत्य के क्षेत्र में भी अकबर का पूर्वगामी करार दिया गया है। बताया जाता है अकबर से पूर्व शेरशाह ने स्थापत्य निर्माण में मेहराबी एवं शहतीरी शैली के बीच बेहतर समन्वय स्थापित किया। शेरशाह द्वारा निर्मित सासाराम स्थित उसका मकबरा उसके स्थापत्य का बेहतर नमूना प्रस्तुत करता है। यह तालाब के बीच बनाया गया था। इसमें शहतीर का बेहतर प्रयोग मिलता है। साथ ही, हिन्दू शैली के प्रभाव में इसे अनेक छतरियों से सजाया गया है। यह स्थापत्य एक ऊँचे चबूतरे पर निर्मित था तथा इसमें दोहरे परत वाले गुम्बद की जगह एक ही गुम्बद का प्रयोग मिलता है। शेरशाह के स्थापत्य में शक्ति एवं आत्मविश्वास झलकता है।

शेरशाह का मकबरा, बिहार

■■■

मध्यकालीन चित्रकला

भारत में चित्रकला की एक समृद्ध परंपरा रही थी। प्राचीन काल में चित्रकला का आरंभिक रूप स्तंभ चित्रकारी के रूप में प्रकट हुआ। स्तंभ चित्रकारी भीमबेटका के गुफा चित्र से आरंभ होकर अजंता, बाघ, बादामी एवं एलोरा की चित्रकारी तक चलती रही।

फिर एक सामान्य धारणा यह है कि एलोरा के पश्चात् भारतीय चित्रकला का पतन हो गया तथा फिर एक बार चित्रकला मुगल काल में प्रकट हुई। परंतु परवर्ती काल के शोधों ने इस धारणा को चुनौती दी है। वस्तुतः एलोरा चित्रकला के पश्चात् चित्रकला का पतन नहीं हुआ, अपितु स्तंभ चित्रकारी का महत्व कम हो गया और उसकी जगह लघु चित्रकारी का महत्व बढ़ गया। लघु चित्रकला को विकसित करने में जैनियों का बड़ा योगदान रहा। जैनियों ने ताल-पत्रों पर चित्र बनाए तथा यह चित्र विविध पृष्ठभूमि से लिए गए थे। आगे पाल चित्रकला पर भी इसका प्रभाव देखा जा सकता था।

सबसे बढ़कर जैन चित्रकला का प्रभाव गुजराती शैली पर पड़ा। आरंभिक जैन चित्रकला तालपत्र पर निर्मित की गई थी। फिर जब आगे हिंदुस्तान में कागज का प्रयोग आरंभ हुआ, तो फिर कागज पर चित्रकारी की जाने लगी। गुजराती चित्रकला ने भी कागज को अपनाया। गुजराती चित्रकला में प्रकृति तथा उसके विभिन्न रूपों का चित्रण किया जाने लगा। उदाहरण के लिए, बादल, आकाश, समुद्र आदि के चित्र। आगे इसने राजपूत कला पर अपना प्रभाव छोड़ा। राजपूत कालीन चित्रकला में विभिन्न ग्रंथों के चित्र बनाए जाने लगे। उदाहरण के लिए, रामायण, महाभारत, राग माला, बारहमासा आदि। फिर इस काल में चौर पंचशिका शैली का विकास हुआ। यह बिल्हण के द्वारा लिखित पुस्तक थी। इसमें कथा लेखन के साथ-साथ चित्र भी बनाए जाने लगे। इसने निश्चय ही चित्रकला की पोथी शैली को प्रेरणा प्रदान की। पोथी शैली से तात्पर्य है पांडुलिपि चित्रकारी। जब चित्र के माध्यम से विभिन्न ग्रंथों का एल्बम तैयार किया जाने लगा, तो इसे पांडुलिपि चित्रकारी का नाम दिया गया।

आगे मुगल चित्रकला को प्रेरित करने में भी चौर पंचशिका शैली का योगदान रहा। मुगल शासकों के अंतर्गत बड़े पैमाने पर पांडुलिपि चित्रकारी निर्मित की गई। उदाहरण के लिए, रामायण, महाभारत, पंचतंत्र की कथा, नल-दमयंती की कथा आदि। अकबर के दरबार में 17 चित्रकारों में सात चित्रकार गुजरात से आए थे।

सल्तनतकालीन चित्रकला

आरम्भ में ऐसा माना जाता रहा था कि जीवित प्राणियों का चित्र बनाना इस्लाम में वर्जित था, इसलिए सल्तनत काल में चित्रकला का विकास नहीं हुआ था। किंतु नवीन शोधों में यह धारणा खंडित हो गई और यह प्रमाणित हो चुका है कि इस काल में स्तम्भ चित्रकारी का विशेष प्रचलन था तथा पुस्तकों को भी चित्रों से सजाया जाता था।

उदाहरण के तौर पर, यह देखा जा सकता है कि जब इल्तुतमिश खलीफा के दूत का स्वागत कर रहा था, इस क्रम में उसने एक ऐसा प्रवेश द्वार बनवाया था जिस पर जीवित प्राणियों के चित्र बनाए गये थे। उसी प्रकार, अलाउद्दीन खिलजी के उत्तराधिकारी मुबारकशाह खिलजी के विषय में कहा जाता है उसने कुछ ऐसे टेंट बनवाए थे जिन पर विभिन्न प्रकार के चित्र अंकित थे। इतना ही नहीं, फिरोजशाह तुगलक के विषय में कहा जाता है कि उसने इस्लाम की भावना के अनुसार कुछ चित्रों को नष्ट कराया था। इसका अर्थ है कि उस काल में भी स्तम्भ चित्रकारी का प्रचलन था।

- **चौरपंचशिका अथवा लौर चंदा चित्रकारी**

जैन तथा इस्लामी पांडुलिपियों में होने वाले क्रमिक परिवर्तन ने कालांतर में स्थायित्व ग्रहण कर एक नवीन चित्रकला का रूप ग्रहण कर लिया। इस विशेष समूह को चौरपंचशिका अथवा लौर चंदा चित्रशैली के नाम से जाना जाता है। इस तथ्य की पुष्टि पांडुलिपियों के उस समूह से होती है, जिसमें चटकीली एवं जीवंत रंग योजना, बेलबूटों और अलंकरण विधानों से युक्त शांत तथा परिष्कृत रूप में लघु चित्र विद्यमान हैं।

चौर पंचशिका पांडुलिपियों में दिए गए चित्रांकन बड़े असमान स्वरूप वाले हैं तथा इनमें से कुछ ऐसी विशेषताएं हैं जो कुछ पांडुलिपियों में तो निश्चित रूप से मिलती हैं, जबकि दूसरे में बिल्कुल ही प्राप्त नहीं होती हैं। उदाहरण के लिए, लंदन के प्रिंस ऑफ वेल्स संग्रहालय तथा जॉन रेलेंड्स पुस्तकालय मैनचेस्टर में संग्रहित लौर चंदा की पांडुलिपि के चित्रांकनों में उच्च कोटि की परिष्कृत चित्रकला के चिहन प्राप्त होते हैं जो अन्य समकालीन पांडुलिपि में प्राप्त नहीं होते, जबकि यहीं के संग्रहालय में संग्रहित लौर चंदा तथा 1516 के महाभारत के अरण्य पर्व तथा चौर पंचशिका पांडुलिपियों में शैलीगत दृष्टिकोण से समानता दिखती है।

मुगल काल के प्रारंभिक दिनों में दिल्ली के क्षेत्र में चित्रित महापुरूष नामक चौरपंचशिका चित्र काफी रोचक हैं। इसके लघुचित्र उस शैली के हैं जिन्होंने 15वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध की जैन परंपरा को जीवित रखा। हालांकि ऐसी पांडुलिपियों पर कालक्रम अंकित नहीं होने से इसके काल निर्धारण में काफी समस्या है। चौरपंचशिका शैली के कुछ चित्रों पर कालक्रम को दर्शाने वाले पंचकोणीय जम का चित्रण है। चूँकि हम जानते हैं कि प्रारंभिक अकबरी युग के चित्रों की एक प्रमुख विशेषता इस जम के चित्रण की रही है, तो माना जाता है कि चौर पंचशिका समूह के कुछ चित्र प्रारंभिक अकबरी युग के हो सकते हैं। जहाँ तक चौरपंचशिका समूह के चित्र के क्षेत्र निर्धारण का सवाल है, तो कुछ विद्वानों के अनुसार यह सारा समूह दिल्ली से जौनपुर तक फैले उत्तर भारतीय प्रदेश से संबंधित है, जबकि अन्य विद्वान इन पांडुलिपियों को मेवाड़ अथवा मालवा प्रदेश की विरासत बताते हैं, जहाँ की सांस्कृतिक, धार्मिक एवं राजनीतिक परिस्थितियां इस विशिष्ट कला शैली के विकास के लिए निश्चित रूप से अनुकूल थीं।

चौर पंचशिका शैली के लघु चित्रों में सामान्यत: लाल तथा कुछ चित्रों में नीली, हरी तथा पीली पृष्ठभूमि दर्शायी गई है। ये चित्र जैन चित्रों की भाँति सादे हैं जिनमें महिलाओं के विभिन्न भावात्मक हाव-भाव; जैसे- पतली कटि, तीखी नसिका, विशाल नेत्र तथा चौकोर चेहरे को प्रदर्शित किया गया है। ऐसे चित्रों में पारस्परिक वनस्पति, पत्तियों से भरी चट्टान तथा नीली आभा से युक्त जीवन का चित्रण किया गया है जो कि 15वीं सदी के उत्तरार्द्ध के धार्मिक चित्रों की विशेषता नहीं थी। इसलिए माना जाता है कि चौर पंचशिका शैली के चित्र पारंपरिक विषय-वस्तु तथा स्थापित परंपरा से हटकर थे। आगे जब ऐसे लघु चित्रण में कृष्ण गाथा जैसे लोकप्रिय विषयों तथा राग माला अथवा मृगावती जैसे विषयों का समावेशन हुआ, तो इसने कलाकारों के लिए विचारों के नए द्वार खोल दिए। इन लघु चित्रों ने राजस्थानी चित्रकला शैली की उत्पत्ति तथा विकास में बहुत अधिक योगदान दिया।

अभ्यास प्रश्नः- चित्रकला की चौर पंचशिका एवं जैन शैलियों की विवेचना कीजिए। क्या चौर पंचशिका शैली को पोथी प्रारूप का पूर्ववर्ती माना जा सकता है?

(UPSC-2012)

मुगलकालीन चित्रकला

■ मुगल काल में चित्रकला के विभिन्न रूप

1. **स्तंभ चित्रकारी**- अकबर के काल में फतेहपुर सीकरी की दीवारों पर हिंदू एवं मुस्लिम चित्रकारों के द्वारा अनेक चित्र उकेरे गए।

2. **पांडुलिपि चित्रकारी**- इसके अंतर्गत विभिन्न ग्रंथों के चित्र बनाए गए। उदाहरण के लिए, रामायण, महाभारत, नल-दमयंती की कथा, पंचतंत्र आदि।

3. **छवि चित्रकारी**- छवि चित्रकारी यूरोपीय पुनर्जागरण के प्रभाव में विकसित हुई तथा भारत में अकबर के काल में पहली बार पुर्तगीजों ने इसे आरंभ किया था।

फिर यूरोपीय प्रभाव में ही एक और नवीन तकनीकी का आगमन हुआ था, जिसमें एक ही सतह पर नजदीक की वस्तु को बड़ा बनाकर तथा दूर की वस्तु को छोटा बना कर प्रस्तुत किया जाता था, इसे 'Technique of Foreshortening' कहा जाता था।

■ हुमायूँ कालीन चित्रकला

मुगलकालीन चित्रकला का इतिहास हुमायूँ के साथ आरम्भ होता है क्योंकि बाबर के पास चित्रकला के लिए उचित समय का अभाव रहा था। बताया जाता है हुमायूँ जब ईरानी शासक शाह तहमास्प प्रथम के दरबार से लौटा था, तो अपने साथ दो प्रमुख चित्रकारों को लेकर आया था। ये चित्रकार थे- मीर सैयद अली तथा ख्वाजा अब्दुस समद, ये प्रमुख चित्रकार वहजाद के शिष्य थे। इनके द्वारा खानदान-ए-तैमूरिया का चित्रण किया गया।

■ अकबरकालीन चित्रकला

अकबर के काल में स्थापत्य कला के समानान्तर चित्रकला का भी विकास हुआ। अकबर चित्रकला का महान संरक्षक था। अबुल फज़ल के अनुसार, अकबर के तस्वीरखाने में 17 चित्रकार थे। इनमें सबसे अग्रणी चित्रकार दसवंत था। मुगल काल में चित्रकारी व्यक्तिगत प्रयास न होकर एक सामूहिक प्रयास था क्योंकि एक ही चित्र के अलग-अलग हिस्से अलग-अलग चित्रकारों के द्वारा बनाए जाते थे। अकबर ने इस अवधारणा को अस्वीकार कर दिया था कि चित्रकला इस्लाम की मूल भावना के विपरीत है। बदले में उसका यह मानना था कि चित्रकार में ईश्वर को पहचानने की अद्‌भुत क्षमता होती है क्योंकि जब एक चित्रकार तस्वीर बनाता है, तब उसे अपनी

सीमाओं का ज्ञान होता है कि वह सब कुछ कर सकता है, किंतु चित्र में जान नहीं डाल सकता।

अकबर के अधीन ईरानी चित्र शैली तथा भारतीय चित्र शैली के बीच बेहतर सामंजस्य देखने को मिलता है। उसके काल में चित्रकला पर भारतीय तत्वों का प्रभाव बढ़ गया।

■ ईरानी और भारतीय चित्रकला में अंतर के बिंदु

1. ईरानी चित्रकला में शिकार, युद्ध आदि चित्रों पर विशेष बल दिया जाता था, जबकि भारतीय चित्रकला में धार्मिक विषयों पर बल था।

2. ईरानी चित्रों की बनावट में चौड़े ब्रश का प्रयोग किया जाता था, जबकि भारतीय चित्रों में गोल ब्रश का प्रयोग होता था। उसी प्रकार, भारतीय चित्रकला में गहरे नीले तथा लाल रंग का प्रयोग किया जाता था।

■ जहाँगीरकालीन चित्रकला

जहाँगीर की चित्रकला में व्यक्तिगत दिलचस्पी थी। वह यह दावा करता था कि अगर एक ही चित्र को अलग-अलग कलाकार मिलकर बनाते हैं, तो मैं इस चित्र को देखकर ही पहचान सकता हूँ कि इस चित्र का कौन सा अंश किस चित्रकार ने बनाया है। जहाँगीर के दरबार में कई महत्वपूर्ण चित्रकार थे। उदाहरण के लिए, अबुल हसन, उस्ताद मंसूर, बिशन दास आदि। उस्ताद मंसूर पशु पक्षियों का चित्र बनाने में निपुण था। फिर जहाँगीर ने बिशन दास को ईरान के दरबार में भेजा था, जहाँ से वह ईरान के शाह और उसके अमीरों की तस्वीरें उतारकर लाया था।

जहाँगीरकालीन चित्रकला की विशेषताएँ-

1. इस काल में पांडुलिपि चित्रकारी का महत्व कम हो गया, जबकि छवि चित्रकारी का महत्व बढ़ गया।
2. जहाँगीर के काल में प्रकृति, पशु तथा पक्षी के चित्रण पर अधिक बल दिया गया था।
3. इस काल में चित्रकला के माध्यम से राजत्व का दैवीकरण किया गया क्योंकि अब मुगल बादशाह के साथ आभामंडल भी चित्रित किया जाने लगा।
4. जहाँगीर की छवि चित्रकारी में एक महत्वपूर्ण तकनीकी विकास डेकोरेटेड मार्जिन के रुप में देखने को मिलता है। इसके अंतर्गत तस्वीर के हासिए पर फूल-पत्ती आदि के चित्र बनाकर तस्वीर को सजाया जाता था।
5. फिर हम जहाँगीर के काल में यूरोपीय कला का भी गहरा प्रभाव देखते हैं। उदाहरण के लिए, यूरोपीय चित्रकारी के प्रभाव में मरियम यीशु, पंख वाले देवदूत, गरजते बादल आदि के चित्र बनाए जाने लगे थे, किंतु मुगल चित्रकला में तैल चित्रकला अनुपस्थित थी।

■ शाहजहाँ और औरंगजेब कालीन चित्रकला

शाहजहाँ के काल में मुगल चित्रकला का अवसान होने लगा क्योंकि चित्रों के निर्माण में मौलिकता की जगह अलंकरण तथा सजावट पर विशेष बल दिया जाने लगा।

औरंगजेब ने तो चित्रकला को इस्लाम विरोधी करार देकर उस पर पाबंदी लगा दी। किंतु पतन के बावजूद भी मुगल चित्रकला ने विविध क्षेत्रीय शैलियों को प्रभावित किया।

■ चित्रकला की क्षेत्रीय शैलियाँ

- **राजस्थानी चित्रकला-** राजस्थानी चित्रकला का एक लंबा इतिहास रहा है। किंतु 15वीं सदी के पश्चात् यह स्पष्ट रूप से उभरकर आई। राजस्थानी चित्रकला में प्रकृति, पशु-पक्षी आदि के चित्रण पर विशेष बल दिया गया। इसके अंतर्गत प्रमुख धार्मिक ग्रंथों का भी चित्रण हुआ। इसमें रागमाला का चित्रण भी शामिल है। राजस्थानी कला पर मुगल कला का भी प्रभाव देखा गया। फिर जब मुगल साम्राज्य का विघटन हुआ, तो राजस्थानी कला की विभिन्न क्षेत्रीय शैलियाँ उभरकर आईं, उदाहरण के लिए, मेवाड़ शैली, आमेर-जयपुर शैली, बूंदी-कोटा शैली, बीकानेर शैली आदि।

- **किशनगढ़ शैली-** इसका विकास भी राजस्थान और आस-पास के क्षेत्रों में हुआ था। इसके संस्थापक सामंत सिंह थे, जो प्रमुख साहित्यकार और सौंदर्य शास्त्री थे। कृष्ण भक्ति में उनकी गहरी अभिरुचि थी। किशनगढ़ शैली में नायिकाओं के चित्रण पर विशेष बल दिया गया तथा कृष्ण और राधा के संबंधों में विभिन्न भाव एवं भंगिमाओं को प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया।

- **मिथिला अथवा मधुबनी शैली-** इस शैली के अंतर्गत सामान्यतः दो प्रकार की चित्रकारी की गई- स्तंभ चित्रकारी तथा अरिपन। स्तंभ चित्रकारी के तहत घरों की दीवारों को सजाया गया अथवा कोहवर का निर्माण किया गया। जहाँ दीवारों के चित्र के विषय धार्मिक होते थे, वहीं कोहवर में गैर-धार्मिक चित्र बनाए जाते थे।

एक, दूसरे प्रकार का चित्र अरिपन कहलाता था। इसके अंतर्गत चावल को कूटकर रेग अथवा पानी की सहायता से चित्र उकेरे जाते थे। इस प्रकार के चित्र या तो आँगन में बनाए जाते हैं या घर की चौखट के सामने।

- **मंजूषा शैली:** भागलपुर क्षेत्र में लोकगाथाओं में अधिक प्रचलित बिहुला-विषहरी की कथाएँ ही इस चित्रशैली में चित्रित होती हैं। मूलतः भागलपुर (अंग) क्षेत्र में सुपरिचित इस चित्रशैली में मंदिर जैसी दिखने वाली एक मंजूषा, जो सनर्ड की लकड़ियों से बनाई गई होती है, पर बिहुला-विषहरी की गाथाओं से संबंधित चित्र कूचियों द्वारा बनाए जाते हैं।

- **दक्कन शैली:** इस शैली का प्रधान केन्द्र बीजापुर था, परन्तु इसका विस्तार गोलकुंडा एवं अहमदनगर राज्यों में भी था। रागमाला के चित्रों का चित्रांकन इस शैली में विशेषरूप से किया गया है। इस शैली के महान संरक्षकों में बीजापुर के अली शाह तथा उसके उत्तराधिकारी इब्राहिम शाह थे। इस शैली के प्रारंभिक चित्रों पर फारसी चित्रकला का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। इस शैली की वेशभूषा पर उत्तर भारतीय (विशेष रूप से मालवा) शैली का प्रभाव पड़ा है।

- **गुजराती शैली:** गुर्जर या गुजराती शैली के नाम से जानी जाने वाली चित्रकला की इस शैली में पर्वत, नदी, सागर, पृथ्वी, अग्नि, बादल, क्षितिज, वृक्ष आदि विशेषरूप से बनाए गए हैं। इस शैली के चित्रों की प्राप्ति मारवाड़, अहमदाबाद, मालवा, जौनपुर, अवध, पंजाब, नेपाल, प. बंगाल, उड़ीसा तथा म्यांमार तक होती है। जिससे सिद्ध होता है कि इसका प्रभाव क्षेत्र काफी विस्तृत था। इस शैली में रागमाला के भी चित्रों का चित्रांकन किया गया है। मुगल सम्राट अकबर के समय के चित्र भी इस शैली से प्रभावित थे। इस कला शैली को प्रकाश में लाने का श्रेय डॉ. आनंद कुमार स्वामी को प्राप्त है।

■ राजपूत शैली:

मुगल काल के अंतिम दिनों में भारत के विभिन्न क्षेत्रों में अनेक राजपूत राज्यों की उत्पत्ति हो गई, जिनमें मेवाड़, बूंदी, मालवा आदि उल्लेखनीय हैं। इन राज्यों में विशिष्ट प्रकार की चित्रकला शैली का विकास हुआ। इन विभिन्न शैलियों में कुछ विशेषताएं उभयनिष्ठ दिखाई दीं, जिसके आधार पर उन्हें 'राजपूत शैली' नाम प्रदान किया गया। चित्रकला की यह शैली काफी प्राचीन प्रतीत होती है, किन्तु इसका वास्तविक स्वरूप 15वीं शताब्दी के बाद ही प्राप्त होता है। यह वास्तव में राजदरबारों से प्रभावित शैली है जिसके विकास में कन्नौज, बुंदेलखण्ड तथा चंदेल राजाओं का सराहनीय योगदान रहा है।

- **मेवाड़ शैली:** मेवाड़ शैली राजस्थानी जनजीवन व धर्म का जीता-जागता स्वरूप प्रस्तुत करती है। इतिहासवेत्ता तारकनाथ ने 7वीं शताब्दी में मारवाड़ के प्रसिद्ध चित्रकार श्रीरंगधर को इसका संस्थापक माना है, लेकिन उनके तत्कालीन चित्र उपलब्ध नहीं हैं। रागमाला के लिए 16वीं शताब्दी में महाराणा प्रताप की राजधानी चावड़ में बनाई गई चित्रावली में लोककला का प्रभाव तथा मेवाड़ शैली के स्वरूप चित्रित हैं। रागमाला चित्रावली दिल्ली के संग्रहालय में सुरक्षित है।

- **जयपुर शैली:** जयपुर शैली का युग 1600 से 1900 ई. तक माना जाता है। इस शैली के अनेक चित्र शेखावटी में 18वीं शताब्दी के मध्य व उत्तरार्द्ध में भित्ति चित्रों के रूप में बने हैं। इसके अतिरिक्त सीकर, नवलगढ़, रामगढ़, मुकुन्दगढ़, झुंझूनु इत्यादि स्थानों पर भी इस शैली के भित्ति चित्र प्राप्त होते हैं। जयपुर शैली के चित्रों में भक्ति तथा श्रृंगार का सुंदर समन्वय मिलता है। कृष्ण लीला, राग-रागिनी, रासलीला के अतिरिक्त शिकार तथा हाथियों की लड़ाई के अद्‌भुत चित्र बनाए गए हैं।

- **बीकानेर शैली:** मारवाड़ शैली से संबंधित बीकानेर शैली का सर्वाधिक विकास अनूप सिंह के शासन काल में हुआ। रायलाल, अली रजा, हसन रजा, आदि इस राज शैली के उल्लेखनीय कलाकार थे। इस शैली पर पंजाबी शैली का भी प्रभाव दृष्टिगोचर होता है क्योंकि बीकानेर क्षेत्र उत्तर में पंजाब के समीप ही स्थित है।

- **मालवा शैली:** मालवा शैली की चित्रकला में वास्तुशिल्पीय दृश्यों की ओर झुकाव सावधानीपूर्वक तैयार किया गया। इसमें सपाट, किन्तु सुव्यवस्थित संरचना, श्रेष्ठ प्रारूपण, शोभा हेतु प्राकृतिक दृश्यों का सृजन तथा रूपों को उभारने के लिए रंगों के धब्बों का सुनियोजित उपयोग दर्शनीय है।

- **बूँदी शैली:** 17वीं शताब्दी के प्रारंभ में मेवाड़ शैली की ही एक स्वतंत्र शाखा के रूप में विकसित बूँदी शैली के प्रमुख केंद्र कोटा, बूँदी और मारवाड़ थे। बूँदी राज्य की स्थापना 1341 में राव देव ने की थी, लेकिन चित्रकला का विकास राव सुरजन से प्रारंभ हुआ, राव रतन सिंह ने दीपक और भैरवी राग पर सुन्दर चित्र बनवाए। शत्रुशाल सिंह ने छत्रमहल का अलिंद बनवाया। जिसमें 18वीं शताब्दी में सुन्दर भित्ति चित्रण किया गया।

- **अलवर चित्रकला शैली:** इस शैली की स्थापना 1775 में अलवर के राजा प्रताप सिंह ने की थी। इस शैली के चित्रों में मुगलकालीन चित्रों जैसा बारीक काम, परदों पर धुएं के समान छाया तथा रेखाओं की सुदृढ़ता दर्शनीय है।

■ पहाड़ी चित्रकला शैली:

राजपूत शैली से ही प्रभावित पहाड़ी चित्रकला हिमालय के तराई में स्थित विभिन्न क्षेत्रों में विकसित हुई। परन्तु इस पर मुगलकालीन चित्रकला का भी प्रभाव दृष्टिगत होता है। पाँच नदियों- सतलुज, रावी, व्यास, झेलम तथा चेनाब का क्षेत्र पंजाब तथा अन्य पर्वतीय केन्द्रों; जैसे- जम्मू-कांगड़ा, गढ़वाल आदि में विकसित इस चित्रकला शैली पर पर्वतीय क्षेत्र के निवासियों की भावनाओं तथा संगीत व धर्म संबंधी परंपराओं की स्पष्ट छाया देखी जा सकती है। पहाड़ी शैली के चित्रों में प्रेम का विशिष्ट चित्रण दृष्टिगत होता है। कृष्ण-राधा के प्रेम के चित्रों के माध्यम से इनमें स्त्री-पुरूष प्रेम संबंधों को बड़ी बारीकी एवं सहजता से दर्शाने का प्रयास किया गया है।

- **बसोहल शैली:** चित्रकला की इस शैली का जन्म हिन्दू, मुगल तथा पहाड़ी शैलियों के समन्वयन से हुआ है जिसमें मुगल शैली की भाँति तथा पुरूषों के कपड़ों का प्रयोग किया गया है, जबकि चेहरे स्थानीय लोक कला पर आधारित है। यह

शैली हिन्दू धर्म एवं परम्परा से अधिक प्रभावित रही और विष्णु एवं उनके दशावतारों का अधिक चित्रण किया गया है।

- **गुलेरी शैली:** चित्रकला की पहाड़ी शैली के अन्तर्गत विकसित गुलेरी शैली के चित्रों का मुख्य विषय रामायण तथा महाभारत की घटनाएं रही हैं। इस शैली में इतना सशक्त एवं सजीव रेखांकन किया गया है कि मानव आकृतियों के अंग-प्रत्यंग अपनी स्वाभाविकता से दृष्टिगोचर होते हैं।
- **गढ़वाल शैली:** इस शैली का विस्तार मध्यकाल के गढ़वाल राज्य में हुआ। गढ़वाल राज्य के नरेश पृथपाल शाह के दरबार में रहने वाले दो चित्रकारों- शामनाथ तथा हरदास ने इस शैली को जन्म दिया।
- **जम्मू शैली:** मुगल शैली से प्रभावित इस शैली का विकास जम्मू क्षेत्र में हुआ क्योंकि नादिरशाह के द्वारा दिल्ली को भयाक्रान्त करने से दिल्ली दरबार के चित्रकारों ने भागकर पहाड़ी राजाओं के यहाँ शरण ली एवं नवीन शैली के चित्रों का निर्माण किया।
- **कांगड़ा शैली:** भारतीय चित्रकला के इतिहास के मध्ययुग में विकसित पहाड़ी शैली के अन्तर्गत कांगड़ा शैली का विशेष स्थान है। इसका विकास कचोट राजवंश के राजा संसार चन्द्र के कार्यकाल में हुआ। यह शैली दर्शनीय तथा रोमांटिक है। इसमें पौराणिक कथाओं और रीतिकालीन नायक-नायिकाओं के चित्रों की प्रधानता है तथा गौण रूप में व्यक्ति चित्रों को भी स्थान दिया गया है। इस शैली में सर्वाधिक प्रभावशाली आकृतियां स्त्रियों की हैं जिसमें चित्रकारों ने भारतीय परम्परा के अनुसार, नारी के आदर्श रूप को ही ग्रहण किया है।

■■■

इस्लाम में संगीत को न तो अच्छा माना जाता और न ही बुरा। इसलिए अनुदारवादी तत्व एवं उलेमा संगीत को प्रायः नीची निगाहों से देखते थे। बावजूद इसके तुर्की शासकों के अधीन संगीत फलता-फूलता रहा था।

■ सल्तनत के अधीन संगीत का विकास

अलाउद्दीन खिलजी के दरबार में गोपाल नायक जैसे गायक को संरक्षण मिला। वह देवगिरि से आया था। उसके दरबार में अमीर खुसरो भी महत्वपूर्ण संगीतकार एवं गायक था। वह भारतीय संगीत का बड़ा ही प्रशंसक था। वह कहता है कि भारतीय संगीत मानव क्या पशु को भी मदहोश कर देता है। उसने भारतीय एवं ईरानी धुनों को मिलाकर संगीत का विकास किया था। उसे हिन्दुस्तानी शैली का जन्मदाता माना जाता है।

मुहम्मद-बिन-तुगलक ने भी संगीत को संरक्षण दिया था। यद्यपि उसका उत्तराधिकारी फिरोजशाह तुगलक एक रुढ़िवादी मुसलमान था, परन्तु उसने संगीत पर अनेक संस्कृत ग्रंथों का फारसी में अनुवाद कराया।

प्रान्तीय शासकों के अधीन भी संगीत फलता-फूलता रहा था। गुजरात में संगीत पर एक पुस्तक 'गुन्यात-उल-मुन्या' की रचना हुई। जौनपुर के शासक इब्राहिम शाह शर्की ने संगीत को संरक्षण दिया। उसके काल में संगीत पर 'संगीत-शिरोमणि' नामक ग्रन्थ की रचना हुई। उसका उत्तराधिकारी हुसैन शाह शर्की स्वयं भी संगीत का एक प्रमुख विद्वान था। उसने संगीत की एक नयी शैली, ख्याल, का विकास किया। उसी प्रकार, ग्वालियर शासक मान सिंह तोमर स्वयं ही एक महान विशेषज्ञ था। उसने 'मान कौतुहल' नामक ग्रन्थ की रचना की।

संगीत के विकास में भक्ति एवं सूफी संतों की भी अहम भूमिका रही थी। भक्ति संतों में नानक, स्वामी हरिदास (तानसेन के गुरू), चैतन्य तथा मीरा बाई का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। उसी प्रकार, संगीत की शैली, गज़ल एवं कव्वाली का विकास सूफी खानकाहों में ही हुआ था।

■ मुगलों के अधीन संगीत का विकास

- **बाबर और हुमायूँ**- बाबर हमेशा सैन्य अभियान में व्यस्त रहा। इसलिए संगीत पर समय देने का उसके पास बहुत कम वक्त होता था। किन्तु संगीत में उसकी व्यक्तिगत रूचि थी, इसलिए जब भी सैन्य अभियान के मध्य उसे अवकाश मिलता, तो वह संगीत का आनंद लेता था। हुमायूँ भी संगीत में रूचि रखता था। बताया जाता है कि उसके दरबार में 29 गायक थे तथा वह प्रत्येक सप्ताह सोमवार एवं बुधवार को संगीत की गोष्ठी का आयोजन करता था। वह स्वयं संगीत सुनता और महत्वपूर्ण व्यक्तियों को भी बुलाकर उन्हें संगीत सुनवाता था।
- **अकबर**- अकबर, कला का महान संरक्षक था। चाहे स्थापत्य हो या चित्रकला अथवा संगीत, सभी को उसने बड़े उत्साह से संरक्षण दिया। मुगल संस्कृति के विकास में अकबर के काल में एक मानक स्थापित हुआ। अबुल फज़ल लिखता है कि अकबर के काल में 36 गायक थे। इनमें तीन प्रमुख थे-तानसेन, बैजू बावरा और मालवा का भूतपूर्व शासक बाज बहादुर। तानसेन सर्वश्रेष्ठ गायक था। पिछले 1000 वर्षों में तानसेन जैसा कोई गायक नहीं हुआ। तानसेन ने ग्वालियर के सूफी संत मुहम्मद गौस से संगीत की शिक्षा पायी थी। फिर उसने एक भक्ति संत स्वामी हरिदास से भी संगीत की शिक्षा ली थी और ध्रुपद गायन की शैली सीखी थी।

तानसेन को कुछ नए रागों को जन्म देने का भी श्रेय दिया जाता है; यथा-मियाँ की मल्हार (राग मल्हार), मियाँ की तोड़ी तथा राग दरबारी।

- **जहाँगीर**- वैसे तो जहाँगीर की मुख्य रूचि चित्रकला में थी, परंतु उसने संगीत को भी संरक्षण दिया। उसके दरबार में छतर खाँ, खुर्रम दाद और तानसेन के पुत्र बिलास खाँ प्रमुख गायक के रूप में स्थापित थे।
- **शाहजहाँ**- शाहजहाँ के काल में भी मुगल दरबार में संगीत गूँजता रहा। बताया जाता है कि बिलास खाँ के दमाद लाल खाँ को भी शाहजहाँ के दरबार में संरक्षण मिला था। फिर शाहजहाँ को गायकी में भी विशेष रूचि थी।
- **औरंगजेब**- जैसाकि हम जानते हैं कि औरंगजेब ने संगीत को गैर-इस्लामी करार देते हुए पाबंदी लगा दी थी, परंतु उसी काल में संगीत पर सबसे अधिक ग्रंथ लिखे गए। इस काल में 'फरिक उल्लाह' नामक विद्वान ने राग दर्पण नामक ग्रंथ का फारसी में अनुवाद किया था। फिर इस काल में मुगल हरम में संगीत को संरक्षण प्राप्त रहा।

आगे के एक मुगल शासक **मुहम्मद शाह रंगीला** ने संगीत को विशेष संरक्षण प्रदान किया। उसके दरबार में सदारंग तथा अदारंग जैसे दो प्रमुख गायक निवास करते थे। इसके काल में ध्रुपद की जगह संगीत की ख्याल शैली का महत्व बढ़ गया।

■ भारतीय संगीत की शैलियाँ:

भारतीय संगीत की दो प्रमुख शैलियाँ हैं- हिन्दुस्तानी शैली तथा कर्नाटक शैली। कर्नाटक शब्दकार विद्यारण्य ने 15वीं शताब्दी में सर्वप्रथम प्रयोग किया था, जो विजयनगर साम्राज्य का तत्कालीन प्रधानमंत्री था। इन दोनों शैलियों में काफी समानता होते हुए भी कई भिन्नताएं भी हैं। ऐसा विश्वास किया

जाता है कि कर्नाटक शैली से पृथक होकर हिन्दुस्तानी शैली का विकास अमीर खुसरो के संगीत संबंधी प्रभाव से हुआ। परंतु वास्तविकता यही है कि इन दोनों शैलियों का पृथकत्व किसी संगीतकार के प्रभाव से नहीं, बल्कि क्षेत्रीय प्रभाव से हुआ। उत्तर भारत में हिन्दुस्तानी शैली का और दक्षिण भारत में द्रविड़ भाषायी क्षेत्र में कर्नाटक शैली का विकास हुआ। हिन्दुस्तानी तथा कर्नाटक दोनों शैलियों में प्रयुक्त रागों के नाम तो समान हैं, परन्तु दोनों के स्वर, ताल तथा लय भिन्न-भिन्न हैं।

प्रश्नः 'अमीर खुसरो इंडो-इस्लामिक संस्कृति का जीवंत रूप था।' इस कथन पर टिप्पणी कीजिए।

उत्तर : हिंदू एवं इस्लाम के बीच वैचारिक टकराहट ने बरनी जैसे रूढ़िवादी इस्लामी चिंतकों को जन्म दिया, तो हिंदुत्व एवं इस्लाम के रचनात्मक मेल ने अमीर खुसरो जैसे उदारवादी चिंतक को उत्पन्न किया।

एक तरह से अगर देखा जाए, तो अमीर खुसरो ने मुस्लिम अमीर वर्ग के देशीकरण की प्रक्रिया को प्रोत्साहन दिया। अब तक तुर्की अमीर वर्ग अपनी विरासत गजनी एवं गोर देश की ओर देखते थे, परंतु अमीर खुसरो ने दिल्ली को अपनी जन्मभूमि की तरह अपना लिया। उसने दिल्ली की प्रशंसा में अनेक गीत लिखे और दिल्ली को 'हजरत-ए-दिल्ली' कहा। उसके विचार में यह शरणार्थियों का पनाहगार था। एक लेखक के रूप में उसकी अचूक दृष्टि का अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि आगे फिर दिल्ली की पहचान शरणार्थियों की शरण स्थली के रूप में हुई, जब भारत का विभाजन हुआ।

एक लेखक के रूप में अमीर खुसरो भारत की समन्वित संस्कृति का जीवंत रूप दिखता है। एक तरफ उसने फारसी भाषा-साहित्य का संवर्द्धन किया, तो दूसरी तरफ भारतीय भाषाओं का भी। एक फारसी विद्वान एवं लेखक के रूप में उसने प्रत्येक महत्वपूर्ण सुल्तान के काल पर एक रचना लिखी, वहीं दूसरी तरफ वह खड़ी बोली हिंदी अथवा हिंदवी का जन्मदाता बना। आगे चलकर हिंदवी की दो शैलियां विकसित हुईं- हिंदी एवं उर्दू। उर्दू को जुबान-ए-दिल्ली और अमीर खुसरो को 'तूती-ए-हिंद' के नाम से जाना गया।

अमीर खुसरो की उपलब्धि साहित्यिक क्षेत्र तक ही सीमित नहीं रही। अमीर खुसरो के बिना भारतीय संगीत का विकास अधूरा रह जाता। उसे हिंदुस्तानी संगीत का जन्मदाता माना जा सकता है। उसने भारतीय धुनों को समझा और उन्हें ईरानी धुनों के साथ मिलाकर हिंदुस्तानी शैली की आधारशिला रख दी। इतना ही नहीं, उसने ध्रुपद गायकी का विकास किया। यह ध्रुपद गायकी हिंदुस्तानी संगीत का स्तंभ बन गयी, जिसे आगे तानसेन ने समृद्ध किया।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि अमीर खुसरो स्वयं समन्वित संस्कृति की उपज था, परंतु साथ ही उसने हिंदुस्तान की समन्वित संस्कृति को प्रोत्साहन दिया। अमीर खुसरो ने हिंदुस्तानी संस्कृति पर अत्यधिक बल दिया। आगे खुसरो की परंपरा से मीर तकी मीर तथा मिर्ज़ा गालिब से लेकर आधुनिक लेखक सादत हसन मंटो तक जुड़ते चले गए।

प्रश्नः साहित्य एवं कला के क्षेत्र में कृष्णदेव राय के योगदान पर प्रकाश डालिए।

उत्तर : कृष्णदेव राय भारत के उन महान शासकों में शामिल हैं, जिन्होनें न केवल प्रशासन को सुदृढ़ आधार दिया, वरन् साहित्य एवं कला के क्षेत्र में भी अनुपम योगदान दिया। अपनी रचनात्मक प्रतिभा में कृष्णदेव राय अकबर के निकट आ जाते हैं। वस्तुतः दक्षिण के राज्यों के साथ निरंतर संघर्ष में उलझे रहने के बावजूद भी कृष्णदेव राय ने अपनी रचनात्मक प्रतिभा को फलने-फूलने का अवसर दिया। उनके काल में विजयनगर दरबार विद्वानों एवं कलाकारों का बड़ा संरक्षक बना।

विजयनगर शासक संस्कृत के बड़े संरक्षक रहे थे। कृष्णदेव राय से पूर्व ही विजयनगर दरबार में चारों वेदों पर टीकाएं लिखवाई गयी थीं। कृष्णदेव राय के अंतर्गत यह परंपरा जारी रही। कृष्णदेव राय तेलुगु के साथ-साथ संस्कृत के भी बड़े विद्वान थे। तेलुगु में उन्होंने 'आमुक्तमाल्यद' नामक रचना लिखी। यह राजनीति एवं प्रशासन पर एक ग्रंथ है। उसी ग्रंथ से हमें यह सूचना मिलती है कि कृष्णदेव राय ने संस्कृत में भी 5 कृतियां लिखी थीं। फिर कृष्णदेव राय के दरबार में एक विद्वान तेनालीराम रहता था, उसने 'पाण्डुरंग महात्म्य' नामक कृति लिखी।

कृष्णदेव राय ने संस्कृत के साथ-साथ तेलुगु, तमिल तथा कन्नड़ भाषा-साहित्य को भी संरक्षण दिया, परंतु उनके काल में सबसे अधिक प्रगति तेलुगु भाषा-साहित्य को मिली। उनका काल तेलुगु भाषा-साहित्य के पुनर्जागरण का काल माना जाता है। उनके दरबार में तेलुगु के 8 विद्वान (अष्टदिग्गज) रहते थे। इनमें प्रमुख विद्वान पेद्दन था। पेद्दन ने एक प्रमुख कृति स्वारोचित संभव लिखी। एक दूसरा विद्वान नंदितिम्मन था, उसने 'परिजातापहरण' नामक ग्रंथ की रचना की।

उनके काल में साहित्य के साथ-साथ कला का भी व्यापक विकास देखने को मिलता है। कृष्णदेव राय के अंतर्गत स्थापत्य की द्रविड़ शैली को और भी परिपक्वता मिली। उनके द्वारा निर्मित हजारा राम मंदिर और विट्ठल स्वामी मंदिर उत्कृष्ट स्थापत्य के उदाहरण हैं। इस काल में द्रविड़ शैली के अंतर्गत कुछ अन्य विशेषताओं का भी विकास देखा गया। वैसे तो गोपुरम का निर्माण पहले ही आरंभ हो गया था, परंतु इस काल में कुछ बेहतर किस्म के गोपुरम् बने। इसके अतिरिक्त स्तंभों को अत्यधिक अलंकृत बनाए जाने लगा। एक ही पत्थर से स्तंभ एवं

पशु आकृति दोनों साथ-साथ होना अलौकिक जानवर के मूर्ति स्थापत्य को विशिष्ट बना देता है। साथ ही मंडप के अतिरिक्त कल्याण मंडप का निर्माण होने लगा। इसमें देवी और देवता का विवाह कराया जाता था।

विजयनगर के अंतर्गत चित्रकला की एक पृथक शैली विकसित हुई, जिसे 'लिपाक्षी चित्रकला' के नाम से जाना जाता है। इसमें विषय-वस्तु रामायण एवं महाभारत से ली जाती थी। उसी प्रकार नृत्य एवं संगीत को मिलाकर एक पृथक शैली का विकास हुआ, जिसे 'यक्षिणी शैली' का नाम दिया जाता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि राजनीतिक क्षेत्र में विजयनगर साम्राज्य का गौरव महज 200 वर्षों तक रहा, परंतु उसकी सांस्कृतिक उपलब्धि भारतीय संस्कृति की धरोहर बन गई है।

प्रश्नः कश्मीर : जैन-उल-आबिदीन (संक्षिप्त लेख)।

भारतीय इतिहास में कुछ ऐसे शासक हुए जिनकी नीतियां समकालीन युग से ऊपर उठकर सभी युगों एवं सभी क्षेत्रों के लिए महत्वपूर्ण हो जाती हैं, वैसा ही एक शासक था-15वीं सदी के कश्मीर का शासक जैन-उल-आबिदीन।

जैन-उल-आबिदीन 15वीं सदी में अपने भाई सिकंदरशाह के उत्तराधिकारी के रूप में गद्दी पर बैठा था। उसे एक बड़ी कड़वी विरासत प्राप्त हुई थी, वह थी सांप्रदायिक तनाव। सिकंदरशाह की कूटनीति के कारण मंदिर ध्वस्त किए जा चुके थे तथा कश्मीरी पंडितों को देश से निकाल दिया गया था। जैन-उल-आबिदीन ने उस विध्वंस के बीच पुनर्निर्माण की प्रक्रिया आरंभ कर दी। उसने हिंदू मंदिरों को पुनर्स्थापित किया तथा कश्मीरी पंडितों को दुबारा घाटी में बसाया। हिंदुओं की धार्मिक भावनाओं का सम्मान करते हुए उन पर से जजिया कर हटा लिया। इतना ही नहीं, उसने गौहत्या पर भी पाबंदी लगा दी।

उसने कला एवं साहित्य के विकास के मार्ग में धर्म को आड़े नहीं आने दिया। वह स्वयं फारसी के अतिरिक्त संस्कृत, कश्मीरी और तिब्बती भाषा का जानकार था। उसने कश्मीर की समन्वित संस्कृति को संरक्षण दिया। उसने कश्मीर की एक प्रमुख कृति राजतरंगिणी का अगला भाग संस्कृत के एक विद्वान 'जोनराज' से लिखवाया। उसी प्रकार उसने राजकीय सेवा में हिंदुओं की नियुक्ति को प्रोत्साहन दिया। फिर इस्लाम के द्वारा स्वीकृत न होने के बावजूद भी उसने संगीत को संरक्षण दिया।

उनकी इन्हीं महान कृतियों के कारण उसे 'कश्मीर का अकबर' कहा गया है। दिलचस्प तथ्य यह है कि जैन-उल आबिदीन ने हिंदुस्तान के दूरवर्ती क्षेत्र में हिंदू-मुस्लिम सद्भावना की ऐसी दुर्लभ मिशाल रखी, जो अन्यत्र दुर्लभ था। यह वह काल था जब पश्चिम एशिया और मध्य एशिया में ही नहीं, बल्कि अपने को सभ्य कहने वाले यूरोप में भी धर्म के नाम पर रक्त बहाया जा रहा था। अंत में हम ऐसा कह सकते हैं कि जैन-उल-आबिदीन वर्तमान एवं भविष्य के लिए उतना ही प्रासंगिक है जितना अतीत के लिए था। दु:खद आश्चर्य का विषय यह है कि हमने कश्मीर में सांप्रदायिक तनाव विरासत के रूप में प्राप्त कर लिया है, परंतु उसके समाधान के रूप में जैन-उल-आबिदीन की विरासत नहीं प्राप्त कर सके। इसलिए वर्तमान में कश्मीर में धार्मिक रूढ़िवाद, उन्माद, संघर्ष रक्तपात सभी मौजूद हैं, परंतु उसका वास्तविक समाधान जैन-उल-आबिदीन अनुपस्थित है।

प्रश्नः बीजापुर के सुल्तान इब्राहिम आदिलशाह द्वितीय (1580-1627 ई.) की सांस्कृतिक उपलब्धियों का वर्णन कीजिये।

उत्तरः इब्राहिम आदिलशाह द्वितीय, मध्यकालीन भारत के इतिहास में एक विलक्षण शासक ठहरता है। उसने कला एवं संस्कृति के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया तथा धार्मिक सद्भाव की नीति की एक मिसाल कायम कर दी।

- उसने अद्भुत नक्काशी से युक्त कुछ महत्त्वपूर्ण स्थापत्यों का निर्माण करवाया, यथा- आनंदमहल, मिहत्तर महल तथा इब्राहिम रोजा के नाम से स्थापत्यों का समूह।
- वह संगीत का एक महान पारखी था तथा उसने संगीत में अद्भुत विशेषज्ञता हासिल की थी। उसने संगीत पर एक दुर्लभ ग्रंथ 'किताब-ए-नौरस' की रचना की।
- उसने धार्मिक सद्भाव की नीति को प्रोत्साहन दिया। वह स्वयं विद्या एवं ज्ञान की देवी सरस्वती का उपासक था, जबकि इस्लाम में मूर्तिपूजा वर्जित है। उसने प्रशासन में बड़ी संख्या में मराठी हिंदुओं की नियुक्ति की।
- इब्राहिम द्वितीय का दरबार न केवल समन्वित भारतीय संस्कृति, बल्कि वैश्विक संस्कृति को भी अभिव्यक्त करता था। उसके दरबार में बड़ी संख्या में मुस्लिम विश्व से साहित्यकार, कलाकार एवं विद्वान आते रहे तथा उन्हें संरक्षण मिला। इसलिये कुछ विद्वानों का यह मानना है कि वर्तमान में वैश्विक संस्कृति को प्रोत्साहन देने में जो भूमिका यूनेस्को निभा रहा है, वही भूमिका मध्यकाल में इब्राहिम आदिलशाह द्वितीय का दरबार निभा रहा था।

प्रश्नः दाराशिकोह (संक्षिप्त लेख)

पिछले लगभग 600 वर्षों तक साथ-साथ रहते हुए हिंदुस्तान में हिंदू एवं मुस्लिमों ने, जो एक गांगी-जमुनी संस्कृति का विकास किया था, दाराशिकोह उसका जीवंत रूप था। हिंदुस्तान में भक्ति एवं सूफी संतों तथा अकबर जैसे महान

पादशाह ने धार्मिक सद्भाव की आधारशिला रखी थी। दाराशिकोह ने न केवल उस विरासत को स्वीकार किया, बल्कि उसे और भी आगे बढ़ाने का प्रयास किया।

दाराशिकोह सूफी संत मुहम्मद गौस के दर्शन से बहुत प्रभावित था। मुहम्मद गौस के द्वारा 'बहर-उल-हयात' का सिद्धांत दिया गया था। इसका सार था सभी धर्म के मूल-भाव में एकता। दाराशिकोह ने इसको आधार बनाकर मज्म-उल-बहरीन (समुद्रों का मिलन) का सिद्धांत दिया। मध्यकाल में जब लोग धार्मिक उन्माद से ग्रस्त थे, तब दाराशिकोह के द्वारा विभिन्न ध ार्मिक पंथों के बीच एकता का सूत्र खोजने का प्रयास अपने आप में एक बड़ी उपलब्धि था।

उसने अपने विचारों को केवल मनन एवं चिंतन तक ही सीमित नहीं रखा, बल्कि उसने हिंदू शास्त्रों का अध्ययन कर हिंदू धर्म के मर्म को समझने का प्रयास किया। वह हिंदू विद्वानों के संपर्क में आया और फिर भागवत् गीता एवं योगवशिष्ठ जैसे संस्कृत के ग्रंथों का फारसी में अनुवाद किया गया। साथ ही उसकी देखरेख में 52 उपनिषदों का फारसी में अनुवाद किया गया; इसे 'सिर्र-ए-अकबर' का नाम दिया गया। इस प्रकार अकबर ने हिंदू-मुस्लिम संप्रदाय के बीच समन्वय का जो सूत्र खोजा था, दाराशिकोह ने उस सूत्र को मजबूत बनाने का प्रयास किया। अकबर ने इबादतखाना एवं धार्मिक वाद-विवाद के माध्यम से हिंदू धर्म एवं इस्लाम के बीच की एकता को समझने का प्रयास किया। दाराशिकोह ने उस एकता की बेहतर समझ के लिए शास्त्रों का भी अन्वेषण किया। दाराशिकोह की बेहतर शैक्षणिक पृष्ठभूमि के कारण यह काम उसके लिए आसान था।

अपनी उदार धार्मिक विरासत के कारण दाराशिकोह को 'लघु-अकबर' कहा गया है। ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि यदि दाराशिकोह को हिंदुस्तान के पादशाह का पद प्राप्त होता, तो हिंदुस्तान की समन्वित संस्कृति की परंपरा को एक बेहतर दिशा मिलती, परंतु औरंगजेब के सिंहासनारोहण ने मुगल दरबार की नीति में नाटकीय परिवर्तन ला दिया।

प्रश्न: भारत में 16वीं सदी के काल को किस आधार पर भारतीय पुनर्जागरण की संज्ञा दी जा सकती है?

उत्तर : पुनर्जागरण से तात्पर्य है पुनर्उत्थान। यह पुनर्उत्थान किसी भी क्षेत्र में देखा जा सकता है- राजनीतिक, सामाजिक अथवा सांस्कृतिक। भारत के 16वीं सदी के काल को इस आधार पर पुनर्जागरण के काल की संज्ञा दी जा सकती है कि इस काल में धार्मिक सद्भाव और सांस्कृतिक समन्वय की नीति को विशेष प्रोत्साहन मिला।

16वीं सदी में भारत में धार्मिक सद्भाव और समन्वित संस्कृति को प्रोत्साहन देने में भक्ति एवं सूफी आंदोलन और अकबर जैसे पादशाह ने अहम भूमिका निभाई। 15वीं सदी में कबीर एवं नानक जैसे संतों ने ईश्वरीय एकता की बात करके मानव की एकता की ओर संकेत कर दिया। इसे जायसी जैसे सूफी संतों ने आगे बढ़ाया और प्रोत्साहन दिया। उन्होंने हिंदुओं के घरों की कहानी हिंदुओं की भाषा में कही। फिर पादशाह अकबर ने सुलह-ए-कुल की नीति पर बल देकर एक नई मिसाल कायम की और उस काल में धार्मिक सद्भाव की नीति पर बल दिया, जब न केवल पश्चिमी एशिया, मध्य एशिया तथा अपने को सभ्य कहने वाले यूरोप में भी धर्म के नाम पर रक्त बहाया जा रहा था।

पुनर्जागरण का यह तत्व सांस्कृतिक क्षेत्र में भी देखा जा सकता था। हिंदुत्व एवं इस्लाम की गांगी-जमुनी संस्कृति कला एवं साहित्य में भी व्यक्त हुई। अकबर के अधीन स्थापत्य की मेहराबी एवं शहतीरी शैली में समन्वय हुआ तथा व्यापक निर्माण कार्य किया गया। यही समन्वय चित्रकला एवं संगीत कला के क्षेत्र में भी देखा जा सकता था। चित्रकला के क्षेत्र में दशवंत एवं मीर सैयद अली जैसे चित्रकार तथा संगीत के क्षेत्र में तानसेन एवं बैजू बावरा जैसे महान गायक 16वीं सदी की उपलब्धि है। इस काल में कथक नृत्य एवं ध्रुपद गायकी को व्यापक संरक्षण मिला।

फिर वह यह काल था जब देशी भाषा-साहित्य के रूप में हिंदी, बंगाली, मराठी, उड़िया, गुजराती, राजस्थानी एवं पंजाबी सभी को प्रोत्साहन मिला। इसमें भक्ति आंदोलन का महत्वपूर्ण योगदान रहा।

हालांकि, यह सही है कि 16वीं सदी का भारतीय पुनर्जागरण, यूरोपीय पुनर्जागरण से पृथक रहा। यूरोपीय पुनर्जागरण की तरह इसमें तर्कवाद का तत्व उतना प्रबल नहीं था, परंतु यह अपने स्वरूप में विशिष्ट एवं मौलिक था क्योंकि यूरोप में होने वाले धार्मिक तनाव की जगह यह धार्मिक समन्वय पर बल देता था। इसलिए 16वीं सदी के भारत को पूर्व आधुनिक काल के साथ भी जोड़ा जा सकता है।

■■■

विजयनगर साम्राज्य का कला एवं साहित्य में योगदान

दक्षिण भारत की कला एवं वास्तुकला पूर्व-मुस्लिम काल में अपने गौरव के चरमोत्कर्ष पर पहुँच गयी थी, परन्तु अलाउद्दीन की सेना द्वारा इसे भारी क्षति पहुँचायी गयी। इसलिए जब बुक्का प्रथम सत्ता में आया, तो उसने सम्पूर्ण भारत वर्ष के विद्वानों एवं कलाकारों को विजयनगर में आमंत्रित किया। स्थापत्य में द्रविड़ शैली के विकास में विजयनगर का विशेष योगदान माना जाता है। वस्तुतः इस काल में बड़े एवं भव्य प्रकार के गोपुरम निर्मित किये गए। इतना ही नहीं, द्रविड़ कला शैली में विजयनगर का निम्नलिखित योगदान देखने को मिलता है-प्रथम, मंडप के साथ-साथ कल्याण मंडप का निर्माण। वस्तुतः कल्याण मंडप में देवताओं और देवियों के विवाह का आयोजन किया जाता था। फिर इसकी दूसरी महत्वपूर्ण विशेषता है अलंकृत स्तम्भों का प्रयोग, इसमें सबसे सुगोचर तत्व है दो टाँगों पर खड़ा घोड़ा। इस काल के कुछ प्रसिद्ध मंदिरों में हम कृष्णदेव राय द्वारा निर्मित हजारा एवं विठ्ठल स्वामी मंदिर की गणना कर सकते हैं।

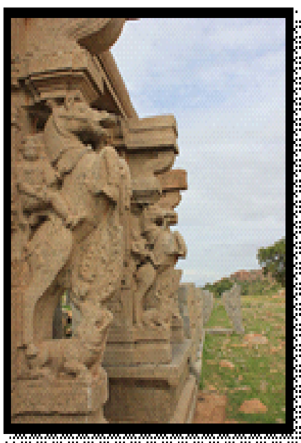

हजारा राम मंदिर

हालांकि विजयनगर की कला को द्रविड़ कला कहा गया है, परन्तु इसकी वास्तुकला अलग प्रकार की है जिसमें सफलता के साथ पेचीदी वस्तुएँ प्रयोग की गयी हैं। आंशिक रूप से नष्ट हुए मंदिरों की मरम्मत की गयी एवं बढ़ाया गया तथा आकार प्रदान किया गया। पुराने मंदिरों के ध्वंसावशेषों के ऊपर नये मंदिरों की व्यापक योजना बनायी गयी एवं उनका निर्माण किया गया।

नव निर्मित मंदिर आकार-प्रकार में वृहद् थे जिसमें एक साथ सैकड़ों-हजारों भक्तगण आ सकते थे। मंदिर वास्तुकला में कई नये तत्व जोड़े गये-कल्याण मण्डप या अलंकृत स्तंभ, बरामदे के बायें किनारे पर मण्डप का निर्माण आदि। गर्भगृह और गोपुरम पूर्ववत् बने रहे। अम्मन धर्मस्थानों का निर्माण सहायक मंदिरों के रूप में किया गया। कल्याण मण्डप इसलिए महत्वपूर्ण था क्योंकि उस पर विभिन्न देवताओं की आकृतियाँ बनायी गयी, साथ ही विशेष उत्सवों की दृष्टि से भी यह महत्वपूर्ण था।

स्तंभों का प्रचुरता से प्रयोग किया गया, ताकि निर्माणों का आकार बढ़ाया जा सके और वृहद सभागारों का निर्माण संभव हो। वास्तुकलात्मक निर्माण अलंकृत हुआ तथा प्राचीन भारतीय मूर्तिकला का आकार देखने को मिला। एक हजार स्तंभ वाले मण्डपों का निर्माण विजयनगर मंदिर कला का आदर्श स्वरूप था। स्तंभों का निर्माण इस प्रकार किया गया कि वे आलंकारिक दिखते थे। मूर्तियों के पट्ट विभिन्न पौराणिक कथानकों को दर्शाते थे। भव्य आकारों एवं अलंकरण वाले गोपुरम मंदिरों में प्रवेश के लिए बड़े द्वारों का निर्माण करते थे। धीरे-धीरे इनका आकार एवं संख्या बढ़ती गयी। यह रोचक तथ्य है कि धर्म-निरपेक्ष भवनों में इण्डो-इस्लामिक विशेषताएँ पायी गयी हैं-गुम्बद एवं कमल का निर्माण।

पूर्व के भव्य विजयनगर के ध्वंसावशेषों को अभी भी देखा जा सकता है जिनमें सौंदर्य एवं कलात्मक तत्व अभी भी विद्यमान है–विट्ठल एवं हजारा राम मंदिर इसके उदाहरण हैं। ऊँचे चबूतरे, बड़े सभागार एवं स्तंभ इसमें देखे जा सकते हैं।

आधुनिक भारत के अधिकांश प्रसिद्ध मंदिर तुंगभद्रा के दक्षिण में अवस्थित हैं। इनका निर्माण विजयनगर काल में ही हुआ है। कुम्भकोणम, काँचीपुरम, श्रीरंगम, वेल्लोर आदि ऐतिहासिक मंदिरों से भरे पड़े हैं।

विजयनगर वास्तुकला का अंतिम चरण मदुरा शैली के रूप में साम्राज्य के पतन के बाद भी फलता-फूलता रहा। इसके उदाहरण मदुरा, रामेश्वरम्, श्रीरंगम, तिरूवल्लूर, चिदम्बरम, तिन्नावेली एवं सुदूर दक्षिण के कई स्थानों में देखे जा सकते है।

विजयनगर के दरबार में उच्चकोटि के कई चित्रकार भी थे। हालांकि चित्रकला धीरे-धीरे विलुप्त होती चली गयी। पुर्तगाली लेखकों एवं अब्दुर रज्जाक ने विजयनगर सम्राट की सेवा में रहने वाले चित्रकारों की उच्च स्तर की चर्चा की है।

फिर **चित्रकला** के रूप में लिपाक्षी चित्रकला का विकास हुआ। यह चित्रकला की एक विशिष्ट शैली थी तथा इसमें विषय रामायण एवं महाभारत से लिए गये। इस काल में **संगीत कला** का विकास भी देखने को मिलता है। कृष्णदेव राय एवं रामराय अच्छे संगीतज्ञ थे। फिर इस काल में नृत्य और संगीत को मिलाकर एक नवीन शैली का विकास हुआ, जिसे यक्षिणी (यक्षगान) शैली के नाम से जाना जाता है।

साहित्य

विजयनगर के शासक शिक्षा एवं ज्ञान के महान संरक्षक थे। इनका शासन संस्कृत साहित्य के लिए पुनर्जागरण काल था। इन्होंने द्रविड़ भाषाओं तमिल, तेलुगू, कन्नड़ एवं मलयालम के क्षेत्र में नव-शास्त्रीय द्वार खोले। यद्यपि तमिल को छोड़कर इन भाषाओं की सामग्री संस्कृत के मूल पाठों से ली गयी थी। ये साहित्य भक्ति आन्दोलन के माध्यम से सांस्कृतिक आदान-प्रदान के वाहक बने।

उत्तर भारत की तरह यहाँ भी संस्कृत समाज के कुछ वर्गों के लिए ज्ञान का माध्यम बना रहा। विजयनगर दरबार द्वारा ऐतिहासिक कथा एवं आत्मकथा लेखन को प्रोत्साहित किया गया। सायण के नेतृत्व में बड़ी संख्या में संस्कृत विद्वानों ने धाार्मिक साहित्य की रचना की तथा चारों वेद एवं कुछ ब्राह्मणों और आरण्यकों पर टीकाएँ लिखी। हेमाद्रि ने धर्मशास्त्र पर टीका लिखी। हालांकि सामाजिक संस्थाओं की प्रगति में इन लेखकों का योगदान थोड़ा ही रहा।

विजयनगर के अधिकांश शासक अत्यंत शिक्षित थे एवं इनमें से कुछ ने साहित्यिक योगदान दिये। कृष्णदेव राय संस्कृत एवं तेलगु का विद्वान था। इसने बड़ी संख्या में विद्वानों को संरक्षण दिया। कहा जाता है कि इसने संस्कृत में पाँच एवं 'आमुक्तमाल्यद ' के नाम से तेलुगु में एक रचना की। संस्कृत में लिखी उनकी एक महत्वपूर्ण रचना 'जाम्बवतीकल्याणम्' है।

कहा जाता है कि कृष्णदेव राय का दरबार तेलुगु के आठ महान कवियों से सुशोभित था, जिन्हें 'अष्टदिग्गज' कहा जाता था। इनमें पेद्दन सर्वाधिक प्रसिद्ध था जिसने 'मनु चरित' एवं 'स्वारोचित संभव' की रचना की। तिम्मन ने 'परिजातपरहण', तेनाली रामकृष्ण ने 'पाण्डुरंग महात्मय' की रचना की। इन सभी ने तेलुगु काव्य को एक नयी दिशा दी। पेद्दन को 'आधुनिक तेलुगु का जनक' कहा जाता है। तिम्मन द्वारा लिखित प्रेम कथानक लम्बे समय तक लोगों के मस्तिष्क में ताजा बना रहा।

इस समय संस्कृत साहित्य एवं अन्य धर्मनिरपेक्ष साहित्य का तेलुगु में अनुवाद कार्य भी बड़े पैमाने पर हुआ। इसे कृष्णदेव राय ने प्रोत्साहित किया। विजयनगर के विद्वानों का सबसे बड़ा योगदान तेलुगु में एक प्रकार के नये काव्य 'प्रबंध' के लिए मार्ग प्रशस्त करने में रहा।

कुछ लेखकों ने 'यक्षगान' की शुरूआत की जो एक प्रकार का देशी नाटक था। जयदेव के 'गीत गोविन्द' पर राजा तिरूमल ने टीका लिखी।

विजयनगर साम्राज्य का शासन काल कन्नड़ एवं मलयालम के विकास का काल भी था। इस अवधि के प्रथम कन्नड़ विद्वान मधुरा ने 'धार्मनाथपुरन' की रचना की। मलयालम का प्रथम प्रामाणिक साहित्यिक कार्य 'उन्नुनेली संदेशम्' इसी समय सामने आया, जो कालिदास के मेघदूतम् पर आधारित है। इसी काल में माधव पनिकर ने 'भागवद गीता' का मलयालम में अनुवाद किया।

अंत में कहा जा सकता है कि तत्कालीन समृद्ध राजकीय काल ने साहित्य में नव क्लासिकी परंपराओं एवं रोमांटिक अभिव्यक्ति के लिए उत्साह का निर्माण किया। कवियों का यह उत्साह एवं विद्वता काव्य के नये रूपों 'प्रबंध', 'द्विअर्थी' एवं 'यक्षगान' के रूप में सामने आया। प्रेम, भक्ति, दर्शन एवं उपदेशात्मक तत्वों का संतुलन काव्य में बना रहा। इस समय सौंदर्यबोध अन्य तत्वों से कहीं बढ़कर कवियों का प्रमुख वर्ण्य-विषय एवं उद्देश्य था।

प्रश्न : साहित्य एवं कला के क्षेत्र में कृष्णदेव राय के योगदान पर प्रकाश डालिए।

उत्तर : कृष्णदेव राय भारत के उन महान शासकों में शमिल हैं, जिन्होंने न केवल प्रशासन को सुदृढ़ आधार दिया, वरन साहित्य एवं कला के क्षेत्र में भी अनुपम योगदान दिया। अपनी रचनात्मक प्रतिभा में कृष्णदेव राय अकबर के निकट आ जाते हैं। वस्तुत: दक्षिण के राज्यों के साथ निरंतर संघर्ष में उलझे रहने के बावजूद भी कृष्णदेव राय ने अपनी रचनात्मक प्रतिभा को फलने-फूलने का अवसर दिया। उनके काल में विजयनगर दरबार विद्वानों एवं कलाकारों का बड़ा संरक्षक बना।

विजयनगर शासक संस्कृत के बड़े संरक्षक रहे थे। कृष्णदेव राय से पूर्व ही विजयनगर दरबार में चारों वेदों पर टीकाएं लिखवाई गयी थीं। कृष्णदेव राय के अंतर्गत यह परंपरा जारी रही। कृष्णदेव राय तेलुगु के साथ-साथ संस्कृत के भी बड़े विद्वान थे। तेलुगु में उन्होंने 'आमुक्तमाल्यदा' नामक रचना लिखी। यह राजनीति एवं प्रशासन पर एक ग्रंथ है। इसी ग्रंथ से हमें यह सूचना मिलती है कि कृष्णदेव राय ने संस्कृत में ही 5 कृतियां लिखी थीं। फिर कृष्णदेव राय के दरबार में एक विद्वान तेनालीराम रहता था, उसने पाण्डुरंग महात्म्य नामक कृति

लिखी।

कृष्णदेव राय ने संस्कृत के साथ-साथ तेलुगु, तमिल तथा कन्नड़ भाषा-साहित्य को भी संरक्षण दिया, परंतु उनके काल में सबसे अधिक प्रगति तेलुगु भाषा-साहित्य को मिली। उनका काल तेलुगु भाषा-साहित्य के पुनर्जागरण का काल माना जाता है। उसके दरबार में तेलुगु के 8 विद्वान (अष्टदिग्गज) रहते थे। इनमें प्रमुख विद्वान पेद्दन था। पेद्दन ने एक प्रमुख कृति स्वारोचित संभव लिखी। एक दूसरा विद्वान नंदितिम्मन था। उसने 'परिजातापहरण' नामक ग्रंथ की रचना की।

उनके काल में साहित्य के साथ-साथ कला का भी व्यापक विकास देखने को मिलता है। कृष्णदेव राय के अंतर्गत स्थापत्य की द्रविड़ शैली को और भी परिपक्वता मिली। उनके द्वारा निर्मित हजारा मंदिर और बिट्ठल स्वामी मंदिर उत्कृष्ट स्थापत्य के उदाहरण हैं। इस काल में द्रविड़ शैली के अंतर्गत कुछ अन्य विशेषताओं का भी विकास देखा गया। वैसे तो गोपुरम का निर्माण पहले ही आरंभ हो गया था, परंतु इस काल में कुछ बेहतर किस्म के गोपुरम बने। इसके अतिरिक्त स्तंभों को अत्यधिक अलंकृत बनाया जाने लगा। एक ही पत्थर से स्तंभ एवं पशु आकृति दोनों का उत्कीर्णन अलौकिक जानवर की मूर्ति स्थापत्य को विशिष्ट बना देता है। साथ ही मंडप के अतिरिक्त कल्याण मंडप का निर्माण होने लगा। इसमें देवी ओर देवता का विवाह कराया जाता था।

विजयनगर के अंतर्गत चित्रकला की एक पृथक शैली विकसित हुई, जिसे 'लिपाक्षी चित्रकला' के नाम से जाना जाता है। इसमें विषय-वस्तु, रामायण एवं महाभारत से ली जाती थी। उसी प्रकार नृत्य एवं संगीत को मिलाकर एक पृथक शैली का विकास हुआ, जिसे 'यक्षिणी शैली' का नाम दिया जाता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि राजनीतिक क्षेत्र में विजयनगर साम्राज्य का गौरव महज 200 वर्षों तक रहा, परंतु उसकी सांस्कृतिक उपलब्धि भारतीय संस्कृत की धरोहर बन गई है।

प्रश्न : फिरोजशाह बहमनी और महमूद गवाँ के शिक्षा के क्षेत्र में योगदान का मूल्यांकन कीजिए।

उत्तर : फिरोजशाह बहमनी और महमूद गवाँ दोनों बहमनी राज्य के योग्य प्रशासक थे। इन दोनों ने राजनीतिक और प्रशासनिक दृष्टि से तो बहमनी राज्य को मजबूत बनाया ही शिक्षा के क्षेत्र में भी उन्होंने अमूल्य योगदान दिया।

फिरोजशाह बहमनी बहमनी वंश के सर्वाधिक प्रसिद्ध विद्वान सुल्तानों में से एक था। वह विद्या एवं ज्ञान की विभिन्न शाखाओं तथा अनेक भाषाओं में पारंगत था। वह धार्मिक ज्ञान से अर्थात् कुरान की टीकाओं, इस्लामी कानून आदि से अच्छी तरह परिचित था और वनस्पति शास्त्र, ज्यामिति, तर्कशास्त्र आदि विषयों में भी काफी रुचि रखता था। उसे फारसी, अरबी और तुर्की में ही नहीं, बल्कि तेलुगु, कन्नड़ और मराठी भाषाओं का अच्छा ज्ञान था। वह स्वयं भी एक अच्छा आशु कवि था। शिक्षा एवं साहित्य के क्षेत्र में व्यक्तिगत रूचि के परिणामस्वरुप फिरोजशाह बहमनी ने राज्य में शिक्षा के विकास को विशेष प्रोत्साहन दिया। शिक्षा के विकास हेतु उसने विदेशों से अनेक प्रसिद्ध विद्वानों को दक्षिण में आकर बसने के लिए प्रोत्साहित किया। इतना ही नहीं उसने खगोलिकी ज्ञान को प्रोत्साहन देने हेतु दौलताबाद में एक वेधशाला बनवाई। इसी प्रकार उसने स्थानीय स्तर पर शिक्षा को बढ़ावा देने हेतु मदरसों की स्थापना करवायी।

फिरोज बहमनी के पश्चात् महमूद गवाँ ने उसकी परंपरा को आगे बढ़ाते हुए शिक्षा के विकास हेतु कई कदम उठाए। महमूद गवाँ भी फिरोज बहमनी की तरह एक साहित्यिक एवं सांस्कृतिक सुरुचि संपन्न व्यक्ति था। उसने अपने दरबार में अनेक विद्वानों को संरक्षण दिया। इन विद्वानों ने राज्य में शैक्षणिक गतिविधियों को प्रोत्साहित करने में महती भूमिका निभाई। महमूद गवाँ ने प्राथमिक स्तर की शिक्षा के लिए जहाँ मदरसों की स्थापना करवायी, वहीं उसने उच्च शिक्षा हेतु बीदर में एक महाविद्यालय की भी स्थापना करवायी। इतना ही नहीं, महमूद गवाँ ने अध्यापकों और छात्रों के रहने के लिए एक तीन मंजिला इमारत बनवाई जिसमें एक हजार छात्र और अध्यापक रह सकते थे। राज्य की ओर से अध्यापक और छात्र दोनों को मुफ्त भोजन और वस्त्र दिए जाते थे। शिक्षा के विकास में राज्य के सहयोग के कारण उस समय के कुछ प्रसिद्ध ईरानी एवं इराकी विद्वान महमूद गवाँ द्वारा निर्मित मदरसों में शिक्षा देने आए।

इस प्रकार हम देखते हैं कि बहमनी राज्य के अंतर्गत शिक्षा के विकास हेतु फिरोजशाह बहमनी और महमूद गवाँ के द्वारा सराहनीय प्रयास किया गया, किंतु आगे के शासक इस परंपरा को बनाए रखने में सक्षम नहीं रहे। इसका कारण था अमीरों की आपसी टकराहट के कारण साम्राज्य की एकता पर ज्यादा ध्यान केंद्रित करना, न कि सांस्कृतिक गतिविधियों पर।

बीजापुर का सुल्तान इब्राहिम आदिलशाह द्वितीय (1580-1627 ई.)

इब्राहिम आदिल शाह द्वितीय मध्य कालीन भारत के इतिहास में एक विलक्षण शासक ठहरता है। उसने कला एवं संस्कृति के क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान दिया तथा धार्मिक सद्भाव की नीति की एक मिशाल कायम कर दी।

1. उसने अद्भुत नक्काशी से युक्त कुछ महत्वपूर्ण स्थापत्यों का निर्माण करवाया; यथा-आनंदमहल, मिहत्तर महल तथा इब्राहिम रोजा के नाम से स्थापत्यों का समूह।

2. वह संगीत का एक महान पारखी था तथा उसने संगीत में अद्भुत विशेषज्ञता हासिल की थी, उसने संगीत पर एक दुर्लभ ग्रंथ 'किताब-ए-नौरस' की रचना की।
3. उसने धार्मिक सद्भाव की नीति को प्रोत्साहन दिया। वह स्वयं विद्या एवं ज्ञान की देवी सरस्वती का उपासक था जबकि इस्लाम में मूर्तिपूजा वर्जित है। उसने प्रशासन में बड़ी संख्या में मराठी हिंदुओं की नियुक्ति की।
4. इब्राहिम द्वितीय का दरबार न केवल समन्वित भारतीय संस्कृति, बल्कि वैश्विक संस्कृति को भी अभिव्यक्त करता था। उसके दरबार में बड़ी संख्या में मुस्लिम विश्व से साहित्यकार, कलाकार एवं विद्वान आते रहे तथा उन्हें संरक्षण मिला। इसलिए कुछ विद्वानों का यह मानना है कि वर्तमान में वैश्विक संस्कृति को प्रोत्साहन देने में जो भूमिका यूनेस्को निभा रहा है, वही भूमिका मध्यकाल में इब्राहिम द्वितीय का दरबार निभा रहा था।

■■■

KHAN GLOBAL STUDIES
Most Trusted Learning Platform
KHAN SIR

आधुनिक काल में भारतीय संस्कृति के स्वरूप को प्रभावित करने में ब्रिटिश कारक की महत्वपूर्ण भूमिका रही। ब्रिटिश शासन के कई ऐसे पहलू थे, जिन्होंने भारतीय संस्कृति की दशा एवं दिशा को प्रभावित किया। इन पहलुओं को निम्नलिखित रूप में समझा जा सकता है-

- **भारत की जनांकिकीय संरचना पर ब्रिटिश शासन का क्या प्रभाव पड़ा?**

प्राचीन काल एवं मध्यकाल में एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में जनसंख्या की आवाजाही होती रही तथा इसका कारण आर्थिक एवं राजनीतिक दोनों रहा था। यह प्रक्रिया ब्रिटिश शासन के अंतर्गत भी चलती रही थी। ब्रिटिश शासन के अंतर्गत विभिन्न कारणों से जनसंख्या प्रवास को प्रोत्साहन मिला। प्रथम, ब्रिटिश शासन ने देशी उद्योग एवं रोजगार को धक्का पहुँचाया। अत: प्रभावित समूह अन्य क्षेत्रों में पलायन करने के लिए विवश हुए। इसलिए इस काल में लोग अनुबंधित श्रमिक के रूप में देश से बाहर गए, बल्कि देश के अंदर भी एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में जनसंख्या का प्रवास हुआ। जनजातीय समूह के लोग अनुबंधित श्रमिक के रूप में चाय एवं कॉफी बागान में भेजे गए। उसी प्रकार, सूती वस्त्र, हस्तशिल्प उद्योगों के पतन के कारण उत्तर प्रदेश से रोजगार के लिए लोगों का पलायन बम्बई, मालेगाँव तथा भिवंडी जैसे क्षेत्रों में हुआ। दूसरे, नवीन यातायात के साधन ने इस प्रक्रिया को और भी प्रोत्साहन दिया। उदाहरण के लिए, भारत की कुछ घुमक्कड़ जनजातियों के लोग बम्बई की ओर पलायन कर गए और वहाँ गोदी श्रमिक (Dockyard Workers) के रूप में ढल गए। तीसरे, व्यवसाय एवं सरकारी सेवा से लाभ उठाने के लिए भी कुछ लोग एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में पलायन कर गए। गुजरात के पारसी, बम्बई में स्थापित हो गए। गुजरात के कुछ व्यवसायी कलकत्ता की ओर भी पलायन कर गए। राजस्थान से कुछ मारवाड़ी कपड़े के व्यापार का लाभ उठाने के लिए पहले बंगाल के मुर्शिदाबाद एवं फिर कलकत्ता में स्थापित हो गए। उसी तरह पंजाबी समुदाय के लोग पूरब में दिल्ली, लखनऊ, इलाहाबाद तक फैल गए। इस तरह प्रत्येक क्षेत्र एक दृष्टि से लघु भारत की तरह दिखने लगा। भारतीय उपमहाद्वीप क्षेत्रीय, जातीय तथा सांप्रदायिक विभिन्नता का सतरंगी मेल बन गया।

- **ब्रिटिश ने भारतीय संस्कृति पर किस प्रकार का प्रभाव छोड़ा?**

ब्रिटिश के दीर्घकालीन शासन काल में भारतीय संस्कृति का प्रभावित होना बहुत ही स्वाभाविक था। गौर करने वाला तथ्य यह है कि भारत से संपर्क के काल में ब्रिटेन स्वयं भी आंतरिक परिवर्तन की प्रक्रिया से गुजर रहा था तथा सामंती संरचना से पूँजीवादी संरचना में रूपांतरित हो रहा था। वस्तुत: अन्य महाद्वीपों में पश्चिमी शक्तियों का अनुभव अलग रहा था। उदाहरण के लिए, लैटिन अमेरिका तथा अफ्रीका में पश्चिमी शक्तियों ने वहाँ की देशी संस्कृति को मिटा दिया।

परंतु भारत की संस्कृति इतनी प्राचीन थी अथवा इसकी जड़ इतनी गहरी थी कि ब्रिटिश इसे मिटा नहीं सकते थे। अत: ब्रिटिश ने उसमें अंत:क्षेपण (Intervention) कर उसमें कुछ परिवर्तन लाने का प्रयास किया। यह अंत:क्षेपण (Intervention) की प्रक्रिया निम्नलिखित रूप में व्यक्त हुई। प्रथम, 18वीं सदी में विलियम जोंस एवं कोलब्रुक जैसे प्राच्यवादी ब्रिटिश लेखकों ने भारतीय संस्कृति का अन्वेषण एवं अध्ययन किया तथा अपनी रूचि के अनुकूल उसकी व्याख्या प्रस्तुत की। प्राच्यवादी विद्वानों के द्वारा भारतीय संस्कृति की मौलिक पहचान धर्म को माना गया तथा प्राचीन भारत को संत महात्माओं का देश करार दिया गया। आगे 19वीं सदी में ब्रिटेन में उदारवादी तथा उपयोगितावादी चिंतकों का उद्‌भव हुआ। वे भारतीय संस्कृति के कट्टर आलोचक के रूप में उभरे तथा उन्होंने भारत में सुधार एवं परिवर्तन की माँग उठाई। फिर 19वीं सदी में भारत में अंग्रेजी शिक्षा को लागू किया गया। इसके माध्यम से भारतीयों का एक वर्ग पश्चिमी विचारधारा के संपर्क में आया।

पाश्चात्य विचारधारा पर यूरोपीय प्रबोधन का प्रभाव था। यूरोपीय प्रबोधन का बल निम्नलिखित पहलुओं पर था-

1. तर्कवाद 2. मानववाद 3. व्यक्तिवाद 4. धर्मनिरपेक्षता

भारतीय बुद्धिजीवी भी इन विचारों के संपर्क में आए तथा यूरोप की बौद्धिक उपलब्धियों से बहुत प्रभावित हुए। इन बौद्धिक उपलब्धियों के प्रभाव में उन्होंने भारतीय संस्कृति की कमजोरी को उद्घाटित किया तथा उन्हें दूर करने का प्रयास किया। वहीं दूसरी तरफ भारतीय बुद्धिजीवी, उदारवादी एवं उपयोगितावादी चिंतकों के द्वारा जो भारतीय संस्कृति की निरंतर आलोचना की जा रही थी, उससे आहत हुए। उनमें उन्हें पश्चिमी नस्लवादी अहंकार नजर आया। फिर, उनके मन में एक प्रकार की प्रतिक्रिया हुई। इस प्रतिक्रिया के कारण उन्होंने अपनी संस्कृति के कुछ सकारात्मक एवं बेहतर पक्ष को उद्घाटित करना भी आरंभ कर दिया। इस प्रकार 19वीं सदी में भारतीय संस्कृति में सुधार की प्रक्रिया आरंभ हुई तथा भारतीय संस्कृति का आधुनिकीकरण हुआ। इन अन्वेषकों में हम राजा

राममोहन राय, ईश्वर चंद्र विद्यासागर, महादेव गोविंद रानाडे, दयानंद सरस्वती, स्वामी विवेकानंद, सर सैयद अहमद खाँ, दादा भाई नौरोजी आदि की गणना कर सकते हैं।

- **19वीं सदी के भारत में होने वाले समाज तथा संस्कृति में सुधार पश्चिमी विचारों के प्रभाव की उपज था अथवा उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया थी?**

यह दोनों की उपज था। राजा राममोहन राय से लेकर स्वामी विवेकानंद तक सभी में हम प्रभाव एवं प्रतिक्रिया दोनों तत्व पाते हैं। प्रभाव में उन्होंने पश्चिमी विचारों को सराहा तथा उनका अनुकरण करने का प्रयास किया, जबकि प्रतिक्रिया के क्रम में उन्होंने अपनी संस्कृति में भी 'तर्कवाद', 'मानववाद', 'व्यक्तिवाद' तथा 'धर्मनिरपेक्षतावाद' जैसे विचारों को खोजने का प्रयास किया।

फिर भी, कुछ चिंतकों में प्रभाव का तत्व ज्यादा है, तो कुछ में प्रतिक्रिया का। जिनमें प्रतिक्रिया का तत्व ज्यादा है वह पुनरुत्थानवादी हो गए। उदाहरण के लिए, हिंदू समूह के बीच आर्य समाज, वहीं मुसलमानों में फराजी एवं वहावी आंदोलन।

- **पाश्चात्य विचारों के प्रभाव का क्या लाभ एवं हानि रही?**

इसका लाभ रहा पश्चिमी विश्व एवं भारत के बीच की वैचारिक खाई को पाटना, जो पाश्चात्य विचारों के साथ संपर्क के कारण संभव हुआ। इसके माध्यम से भारतीय, पाश्चात्य प्रबोधन से परिचित हुए तथा 'मानववाद', 'उदारवाद', 'व्यक्तिवाद', तथा 'धर्मनिरपेक्षता' जैसे विचारों को समझ सके। इन विचारों ने प्रजातांत्रिक मूल्यों को प्रोत्साहन दिया तथा भारत में भी सुधार का माहौल निर्मित कर दिया।

परंतु इसका एक नकारात्मक पहलू भी था- वह था पश्चिमीकरण के प्रति अत्यधिक झुकाव। व्यक्तिवाद एवं उदारवाद की ओर आकर्षण के कारण पूँजीवाद की ओर स्वाभाविक रूप में आकर्षण बढ़ गया। उसी के साथ उपभोक्तावाद की प्रवृत्ति को बल मिला।

- **परंपरावादी विचारों के प्रभाव का क्या लाभ एवं हानि रही?**

इसका लाभ था भारतीय संस्कृति के प्रति आकर्षण एवं उसकी उपलब्धियों का उद्घाटन। इससे भारतीयों में आत्मविश्वास की भावना जगी। बंकिम चंद्र चटर्जी, स्वामी विवेकानंद, दयानन्द सरस्वती, बाल गगांधर तिलक, अरबिंदो घोष सभी उपनिवेशवाद के उपकरण के रूप में पाश्चात्य विचारधारा की खामियों को समझ पाए तथा भारतीय संस्कृति के सबल पक्ष को उद्घाटित कर भारतीय राष्ट्रवाद की चेतना को प्रोत्साहन दिया।

वहीं दूसरी तरफ भारतीय संस्कृति एवं परंपरा पर बल देने के क्रम में हिंदू विचारकों ने संस्कृति के हिंदू पक्ष पर तथा मुस्लिम सुधारकों ने इस्लाम के मूल तत्व को पुनर्जीवित करने पर बल दिया। इससे समन्वित संस्कृति की अवधारणा को धक्का लगा एवं जाने-अनजाने ही संप्रदायवाद को प्रोत्साहन मिला।

- **ब्रिटिश के द्वारा भारतीय संस्कृति की संकीर्ण व्याख्या से किस प्रकार अलगाववाद को प्रोत्साहन मिला?**

भारतीय संस्कृति की समझ न होने के कारण कुछ हद तक 'फूट डालो और शासन करो' की नीति को बढ़ावा देने के क्रम में ब्रिटिश चिंतकों एवं मानवशास्त्रियों ने भारतीय परंपरा एवं संस्कृति की संकीर्ण व्याख्या कर डाली। ब्रिटिश ने भारतीय समाज का मूल आधार धर्म को माना तथा संस्कृति की व्याख्या धर्म के संदर्भ में की उदाहरण के लिए, ब्रिटिश की ओर से निम्नलिखित कदम उठाए गए। प्रथम, जेम्स मिल ने 1817 में भारत का प्रथम इतिहास लिखा और वहाँ काल विभाजन में धर्म को आधार बनाते हुए भारतीय इतिहास को हिंदू काल, मुस्लिम काल एवं ब्रिटिश काल के बीच बाँटा। दूसरे, ब्रिटिश प्रशासकों ने जनगणना में गैर-मुस्लिम, गैर-इसाई, गैर-पारसी को हिंदू संप्रदाय का नाम देकर उन्हें एक पृथक समुदाय में स्थापित कर दिया।

- **मुस्लिम समुदाय की ब्रिटिश नीति के प्रति क्या प्रतिक्रिया हुई?**

ब्रिटिश ने भारत में मुस्लिमों से सत्ता छीनी थी। अत: कुछ कुलीन मुसलमानों को ब्रिटिश के हाथों अपनी सत्ता खो दिए जाने का एहसास था। वहीं कुछ मुस्लिम किसान ब्रिटिश शासन के अंतर्गत आर्थिक उत्पीड़न का सामना कर रहे थे। अत: उनमें भी आक्रोश था। फिर वह ब्रिटिश के विरुद्ध प्रतिरोध के लिए खड़े हो रहे थे, परंतु उनके पास प्रतिरोध के लिए कोई वैचारिक उपकरण नहीं था। अत: उन्होंने इस्लामी विचारधारा को अपना उपकरण बनाते हुए उसके मूलरूप को पुनर्जीवित करने की बात की। उनके लिए आदर्श स्थिति खलीफा का शासन थी, जब मुस्लिम एक ग्लोबल राज्य स्थापित करने में कामयाब रहे थे। इसलिए भारत में फराजी आंदोलन, वहाबी आंदोलन, तरीका-ए-मुहम्मदिया, सभी उपर्युक्त विचार से प्रेरित थे।

परंतु आगे पाश्चात्य विचारों के प्रभाव में मुस्लिम प्रतिरोध की एक दूसरी धारा भी विकसित हुई, जिसका प्रतिनिधित्व सर सैयद अहमद खाँ एवं अलीगढ़ समूह कर रहा था। यह मुस्लिम समाज को आधुनिकीकरण की दिशा में अग्रसर करना चाहता था। यह एक प्रगतिशील कदम था, किंतु निम्नलिखित सोच ने इस समस्त आंदोलन को अवसरवादी एवं प्रगतिहीन बना दिया। प्रथम, इन विचारकों का यह विश्वास था कि मुस्लिम समुदाय की प्रगति ब्रिटिश के सहयोग के बिना संभव नहीं है। दूसरे, इन्हें

इस बात का अहसास था कि वे भारत में अल्पसंख्यक थे, जबकि बहुसंख्यक समुदाय 'हिंदू' था। अत: उन्हें लगता था कि प्रजातांत्रिक प्रक्रिया के माध्यम से आगे बढ़ने पर वे सत्ता से वंचित रहेंगे क्योंकि उनके पास कम मत (Vote) होंगे। किंतु अगर उन्हें ब्रिटिश की कृपा प्राप्त हो जाएगी, तो वे हिंदू बहुमत को प्रतिसंतुलित करने में सफल होंगे।

सर सैयद अहमद खाँ ने हिंदुओं को प्रतिसंतुलित करने के लिए कौम (सम्प्रदाय) की बात की। उन्होंने संख्या के आधार पर समानता की जगह 'सम्प्रदाय की समानता' की माँग की। उनके विचार में हिंदू एवं मुसलमान दो संप्रदाय हैं तथा दोनों को किसी भी निर्णय में समान मत प्राप्त होना चाहिए। चूँकि सम्प्रदाय की पहचान का आधार भी धर्म होता है, इसलिए आधुनिक शिक्षा की उपज होने के बावजूद भी अलीगढ़ आंदोलन ने धर्म को ही आधार बनाकर हिंदुओं से समानता की माँग की। इस प्रकार हिंदू पुनरूत्थानवादी समूह तथा आधुनिक शिक्षा प्राप्त समूह दोनों के प्रतिरोध का आधार धर्म ही बन गया। इसने भारत में सैकड़ों वर्ष पूर्व से चली आ रही समन्वित संस्कृति की अवधारणा को धक्का पहुँचाया।

- **धर्म एवं संस्कृति में क्या संबंध होता है?**

संस्कृति एक व्यापक अवधारणा है। इसमें खान-पान, रहन-सहन, आचार-विचार, धर्म, जीवन दृष्टिकोण, कला, साहित्य सभी शामिल होते हैं। धर्म उनमें केवल एक होता है, किंतु दु:खद पहलू यह है कि कुछ लोग धर्म को ही संस्कृति का पर्यायवाची करार देने लगते हैं।

- **भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के मध्य राष्ट्रवाद एवं सम्प्रदायवाद दोनों साथ-साथ एवं सौतेले भाई की तरह क्यों विकसित हुए?**

यह अपने आप में बड़ा जटिल प्रश्न है। इसे हम यूरोपीय राष्ट्रवाद की अवधारणा एवं भारतीय परिस्थितियों के बीच उभरने वाले मूलभूत विरोधाभास के रूप में देख सकते हैं। वस्तुत: आधुनिक राष्ट्र की अवधारणा 19वीं सदी के यूरोप में विकसित हुई। मोटे तौर पर राष्ट्रवाद के निम्नलिखित लक्षण माने गए – एक विशिष्ट भौगोलिक इकाई, केंद्रीकृत शासन व्यवस्था, सांस्कृतिक -भाषायी एकरूपता। यह मॉडल पश्चिमी यूरोप में सफल रहा था जहाँ कई राष्ट्रीय-राज्य अस्तित्व में आए। यद्यपि पूर्वी यूरोप में भी इसने कुछ समस्याएं उत्पन्न कीं, किंतु जब यह एशियाई-अफ्रीकी देशों में गया, तो वहाँ की परिस्थितियों के साथ फिट नहीं बैठ सका, परन्तु यहाँ हमारे विचार का विषय केवल भारत है। भारत एक महाद्वीपीय आकार वाला देश है तथा यहाँ व्यापक सांस्कृतिक विविधताएं हैं। किंतु इन विविधताओं के बीच भी एकता का सूत्र है जो भारत की पहचान है। किंतु ब्रिटिश के आगमन के पश्चात् भारत की सामाजिक संरचना में दरारें उत्पन्न होने लगीं। इसके लिए निम्नलिखित कारण उत्तरदायी रहे-

1. ब्रिटिश ने भारतीय परंपरा एवं समाज के प्रति जो अपनी समझ दिखाई, वह भारत की समन्वित संस्कृति के लिए घातक सिद्ध हुई। इसने अलगाववाद को प्रोत्साहन दिया। उदाहरण के लिए, ब्रिटिश ने भारत की मूलभूत पहचान धर्म को माना। भारत को विभिन्न धार्मिक पंथों में विभाजित करके देखा। वस्तुत: भारत में इस्लाम के आगमन से पूर्व कई धार्मिक पंथ प्रचलित रहे थे तथा सभी के बीच आपस में आदान-प्रदान भी होता रहा था। यथा- ब्राह्मण, बौद्ध, जैन, आर्य, गैर-आर्य पंथ। जहाँ तक 'हिंदू' शब्द का सवाल है, तो इस शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम अरब वालों ने किया था। किंतु ब्रिटिश ने सभी गैर-मुसलमान और गैर-ईसाई समूह को हिंदू समूह घोषित कर दिया तथा उसे एक पृथक संप्रदाय तथा एक पृथक पंथ का दर्जा दे दिया, जबकि यह अपने स्वरूप में विविधता मूलक था। इसमें न तो कोई स्पष्ट पुरोहित वर्ग था और न ही कोई निश्चित नियम एवं अनुष्ठान थे। इसमें एकेश्वरवाद एवं मूर्तिपूजा, भक्ति एवं तंत्रवाद सभी का प्रचलन था।

फिर ब्रिटिश ने सभी धार्मिक संप्रदायों के बीच स्पष्ट विभाजन की रेखा खींच दी। जब 1881 में जनगणना आरंभ हुई, तो सांप्रदायिक पहचान को और भी अधिक महत्व मिला। जैसा कि हम देखते हैं कि सैकड़ों वर्षो तक साथ रहते हुए हिंदू एवं मुसलमानों ने एक समन्वित संस्कृति अथवा गांगी-यमुनी तहजीब विकसित की थी, परंतु अब दोनों के बीच पहले की तुलना में विभाजन का भाव तीव्र हो गया। यह भी एक विडंबना है कि जनगणना ने जहाँ एक तरफ राष्ट्र की चेतना को बल प्रदान किया, वहीं दूसरी तरफ सांप्रदायिक विभाजन को प्रेरित भी किया।

उसी तरह सांप्रदायिक विभाजन को जेम्स मिल के इतिहास लेखन से भी प्रेरणा मिली थी। जेम्स मिल ने भारत के इतिहास को हिंदू काल एवं मुस्लिम काल के बीच बाँटकर देखा। यहाँ भी यही ब्रिटिश पूर्वाग्रह उभरकर आया कि भारतीय जीवन का मूल आधार धर्म है।

2. 19वीं सदी के समाज तथा धर्म सुधार आंदोलन ने, जिसे भारतीय पुनर्जागरण की संज्ञा दी जाती है, भारत में आधुनिक राष्ट्रवाद के उद्भव का रास्ता तैयार किया। वस्तुत: आधुनिक राष्ट्रवाद के उद्भव के लिए क्षेत्रीय, जातीय तथा लिंग विभाजन को कमजोर करना तथा भारतीयों में एकता के भाव को मजबूत करना आवश्यक था। इस आंदोलन ने यह काम पूरा कर दिया।

परंतु चूंकि इस आंदोलन के मध्य हिंदू सुधारकों ने भारत की प्राचीन उपलब्धियों अथवा हिंदू परंपरा एवं मुस्लिम सुधारकों ने इस्लामी विरासत पर अत्यधिक बल दिया। अत: अलगाववाद को भी प्रोत्साहन मिला।

3. ब्रिटिश शासन के विरुद्ध मुस्लिम सुधारकों ने जो प्रतिक्रिया दिखाई, उसके कारण उसमें प्रतिरोध की चेतना विकसित हुई। परंतु इस प्रतिरोध ने सांप्रदायिक रंग तब पकड़ लिया, जब इन्होंने भारत में हिंदुओं से समानता हासिल करने के लिए हिन्दुस्तान की समन्वित संस्कृति की विरासत को अस्वीकार करते हुए धार्मिक पहचान पर अत्यधिक बल दिया। यह प्रवृत्ति सर सैयद अहमद खाँ के काल से आरंभ हुई तथा इसका चरमोत्कर्ष मुहम्मद अली जिन्ना की राजनीति में देखने को मिलता है। यद्यपि जिन्ना पाश्चात्य शिक्षा की उपज ही नहीं थे, अपितु पश्चिमी संस्कृति में भी रंगे हुए थे। वे अपनी व्यक्तिगत सोच में धर्मनिरपेक्ष थे, परंतु राजनीतिक अवसरवाद से प्रेरित होकर उन्होंने सार्वजनिक जीवन में संप्रदायवाद का मार्ग चुना तथा घोषित किया कि हिंदू एवं मुसलमान दोनों दो राष्ट्र हैं। अत: दोनों को पृथक भू-भाग, राष्ट्र तथा पहचान चाहिए। इससे अलगाववाद को बल मिला।

4. अलगाववाद का जवाब अलगाववाद से देने का प्रयास किया गया। मुस्लिम सम्प्रदायवाद के जवाब में हिंदू सम्प्रदायवाद उभरकर आया। इसने अपने आपको हिंदू राष्ट्रवाद के रूप में व्यक्त करने का प्रयास किया। इस क्रम में वी. डी. सावरकर ने, जो महान स्वतंत्रता सेनानी रहे थे परंतु 1930 के दशक में हिंदुत्व की राजनीति की ओर मुड़ गए थे, 'सांस्कृतिक राष्ट्रवाद' की अवधारणा रख दी। उनके विचार में राज्य एक राजनीतिक इकाई है, जबकि राष्ट्र एक सांस्कृतिक इकाई। उनके अनुसार राष्ट्र के निर्माण के लिए स्पष्ट 'पहचान' चाहिए। उनके विचार में भारतीय राष्ट्र की यह पहचान 'हिंदू धर्म' से मिली है। उनका कहना था कि वही भारतीय राष्ट्र के सदस्य हैं जिनकी मातृभूमि एवं पवित्र भूमि अथवा धार्मिक स्थान दोनों भारत में ही स्थित हों। अत: सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की अवधारणा के अंतर्गत मुसलमान एवं ईसाई बाहर कर दिए गए क्योंकि उनकी पवित्र भूमि भारत से बाहर थी।

इस प्रकार भारतीय इतिहास की विरासत को जिन्ना एवं सावरकर दोनों ने अस्वीकार कर दिया। वस्तुत: सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की इस परिकल्पना ने प्रकारान्तर से मुस्लिम सम्प्रदायवादियों को ही फायदा पहुँचाया क्योंकि उनके द्वारा उठायी गई पृथक राष्ट्र की माँग मजबूत हुई।

5. 19वीं सदी के मध्य तक तो ब्रिटिश ने भारतीय संस्कृति की अल्प समझ के कारण अलगाववाद को प्रेरित किया था, परन्तु अब उन्होंने सोची समझी नीति के तहत मुस्लिम अलगाववाद को प्रेरित करना शरू किया। वस्तुत: वे उभरती हुई उग्रवादी राजनीति से भयभीत हो गए थे और उन्होंने भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन को कमजोर करने का प्रयास किया। 1909 के पृथक निर्वाचन को इसी संदर्भ में समझने की जरूरत है। 1909 से 1945 तक ब्रिटिश नीति अविरल रूप में चलती रही। इस बीच ब्रिटिश के द्वारा लाये जाने वाले संवैधानिक सुधारों में जितनी संवैधानिक रियायतें भारत को दी जातीं, लगभग उतनी ही साम्प्रदायिक रियायतें मुस्लिम लीग को।

6. एक दु:खद पहलू यह है कि जैसे-जैसे राष्ट्रवाद जनसामान्य के बीच फैलता रहा, उसी के समानान्तर सम्प्रदायवाद भी जनसामान्य के बीच प्रसारित होता रहा। जब 1929 में कांग्रेस ने लाहौर अधिवेशन में 'पूर्ण स्वराज' का प्रस्ताव पारित किया, तो उसी वर्ष मुस्लिम लीग ने 'दिल्ली घोषणापत्र' लाया। उसी प्रकार, 1942 में कांग्रेस ने 'भारत छोड़ो' का नारा दिया, तो लीग का नारा था 'लड़कर लेंगे पाकिस्तान'। 1937 में जब पहली बार देशी सरकारों की स्थापना हुई, तो लीग ने 1940 में लाहौर में पृथक प्रांत का प्रस्ताव लाया। फिर 1946 में जब विभिन्न पार्टियों को मिलाकर अन्तरिम सरकार का गठन हुआ, तो लीग ने कलकत्ता में दंगे फैलाए। अन्त में देश को स्वतंत्रता तो मिली, परंतु विभाजन के साथ।

7. अन्त में, 20वीं सदी में भारत में ऐसा साम्प्रदायिक उन्माद आया कि समन्वित संस्कृति हासिए पर चली गई। भारत में वैसे राजनीतिक दल अथवा समूह, जो धर्मनिरपेक्षता के प्रति प्रतिबद्धता की बात करते थे, जिनमें कांग्रेस शीर्षस्थ पार्टी थी, इस धार्मिक उन्माद को रोकने में विफल रहे। इस प्रकार, भारत में राष्ट्रवाद एवं सम्प्रदायवाद दोनों सौतेले भाई के रूप में आए और दोनों ने भारत की राजनीति पर प्रभाव छोड़ा।

- **भारतीय स्वतंत्रता के पश्चात् संविधान सभा ने नवीन राष्ट्र के निर्माण क्रम में भारत की सांस्कृतिक नीति को किस प्रकार पुनर्परिभाषित किया? क्या राष्ट्रवाद के पश्चिमी मॉडल को अपनाने का विकल्प हमारे समक्ष था?**

वस्तुत: राष्ट्रवाद का पश्चिमी मॉडल एक ऐसे राष्ट्र के लिए था, जो आकार में अपेक्षाकृत छोटा था तथा जहाँ कम सांस्कृतिक विविधताएँ थीं। वहीं भारत का न केवल विशाल आकार था, अपितु बहुत अधिक सांस्कृतिक विविधता थी। इतना तक कि कुछ महत्वपूर्ण ब्रिटिश प्रशासक (जॉन स्ट्रैची), चिंतक (रूडयार्ड किपलिंग) एवं विंस्टन चर्चिल जैसे राजनेता भारत के राष्ट्र बनने की क्षमता में गहरा अविश्वास रखते थे। स्ट्रैची की राय में यूरोप के देशों में आपसी फर्क इतना ज्यादा नहीं था जितना हिंदुस्तान के इलाकों के बीच था। उसने कहा कि पंजाब एवं बंगाल की तुलना में स्कॉटलैंड और स्पेन ज्यादा नजदीक हैं। रूडयार्ड किपलिंग का मानना था कि वे लगभग चार हजार वर्ष पुराने लोग हैं, अब वे स्वशासन सीख नहीं सकते।

फिर अब तक राष्ट्र एवं प्रजातंत्र का प्रयोग यूरोप में ही

हुआ था। द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् एशियाई-अफ्रीकी उपनिवेशों में भारत प्रथम ऐसा देश था, जो राष्ट्र बनने तथा प्रजातंत्र को स्थापित करने की दिशा में अग्रसर था। अत: संपूर्ण विश्व की निगाह भारत पर थी।

आरंभ में भारत ने भी राष्ट्रवाद के पश्चिमी मॉडल की ओर देखा था। हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन के मध्य भारतीय नेताओं ने भी 'एक भाषा, एक राष्ट्र' की अवधारणा को बल प्रदान किया था। परंतु स्वतंत्रता के पश्चात् अहिन्दी भाषी राज्यों से विरोध आने लगा और उन्होंने हिन्दी को राजभाषा बनाए जाने का विरोध किया। संविधान सभा ने समझौतावादी रूख अपनाते हुए हिन्दी को राजभाषा के रूप में स्वीकृति दी, परंतु साथ ही अंग्रेजी को अनिश्चित काल के लिए सह-राजभाषा के रूप में स्वीकृति प्रदान कर दी।

यही स्थिति भाषायी आधार पर प्रांतों के गठन के समय भी उत्पन्न हुई। राष्ट्रीय आन्दोलन के मध्य कांग्रेस ने भाषायी आधार पर प्रांतों के गठन पर विचार किया था, परंतु विभाजन के पश्चात् अलगाववाद के भय से इसने इस विचार को छोड़ दिया, किन्तु आंध्र प्रदेश में चलने वाले आन्दोलन के कारण भाषायी आधार पर प्रांतों के गठन को स्वीकृति देनी पड़ी। फिर, 1956 में राज्य पुनर्गठन आयोग की अनुशंसा पर भाषायी आधार पर प्रांतों का गठन किया गया।

फिर संविधान सभा जिन मामलों को नहीं निपटा सकी, उसने उसे भावी पीढ़ी के लिए टाल दिया। उदाहरण के लिए, कुछ मुद्दे नीति निदेशक तत्वों में शामिल कर लिए गए। यूनिफॉर्म सिविल कोड मामले को भी भविष्य के लिए टालते हुए राज्य के नीति निदेशक तत्वों के बीच जगह बना दी गई।

इस प्रकार, भारत ने राष्ट्र-निर्माण के मध्य अपने बहुलवादी एवं बहु-सांस्कृतिक चरित्र को स्वीकृति प्रदान की। इसने राष्ट्र-निर्माण का एक पृथक मॉडल तैयार किया। यह मॉडल पश्चिमी मॉडल से पृथक था तथा गैर-यूरोपीय राष्ट्रों के लिए एक नज़ीर बन सकता था। ब्रिटिश अधिकारियों में स्ट्रेची से लेकर राजनेता, चर्चिल ने एक राष्ट्र के रूप में भारत के अस्तित्व पर सवाल खड़ा किया था, परंतु भारत ने एक व्यावहारिक सांस्कृतिक नीति अपनाकर इस धारणा को झूठा सिद्ध कर दिया।

प्रश्नः क्या भाषायी आधार पर प्रांतों के गठन ने भारत की राष्ट्रीय एकता को मजबूत किया? (UPSC, 2016)

वस्तुत: एक भाषा-भाषी क्षेत्र होने के बावजूद तेलंगाना के तटीय आंध्र प्रदेश से पृथक होने की घटना ने भाषायी प्रांतों की उपयोगिता पर सवाल खड़ा कर दिया तथा स्वाभाविक रूप में यह वैचारिक मंथन आरंभ हो गया कि क्या भाषायी प्रांतों का गठन एक बुद्धिमतापूर्ण कदम था?

परन्तु तथ्यों पर समग्रता से विचार किए जाने की जरूरत है। वस्तुत: स्वतंत्रता के पश्चात् भारत एक ऐसे राष्ट्र के रूप में गठित हो रहा था जिसका महाद्वीपीय आकार था तथा जहाँ व्यापक सांस्कृतिक विविधता थी। फिर विभाजन ने संघीय व्यवस्था को बहुत प्रभावित किया था तथा राज्यों के समानान्तर केन्द्र को अत्यधिक शक्तिशाली बना दिया गया था। ऐसी स्थिति में प्रांतों के बीच अपनी भाषायी सांस्कृतिक पहचान को लेकर आशंका उत्पन्न हुई। अब तक वे विभिन्न समूह के लोग ब्रिटिश प्रेसिडेन्सी शासन के अंतर्गत दबे पड़े थे। अत: उनके लिए स्वतंत्रता का अर्थ भाषायी-सांस्कृतिक पहचान की स्वीकृति भी थी। ऐसी स्थिति में अगर केन्द्र सरकार उस माँग को ठुकरा देती, तो फिर इस कारण पारस्परिक अविश्वास को बल मिलता था तथा यह आपसी तनाव का रूप ले सकता था।

ऐसे उदाहरण हम पाकिस्तान एवं श्रीलंका के संदर्भ में पाते हैं जब मुहम्मद अली जिन्ना ने पूर्वी पाकिस्तान के लोगों को यह संदेश दिया कि आप जितनी शीघ्रता से बंगाली को भूलकर उर्दू को अपना लें, उतना अच्छा है। परंतु इसका परिणाम हुआ 1971 में स्वतंत्र बांग्लादेश का निर्माण। उसी प्रकार, 1956 में जब भारत में भाषायी आधार पर प्रांतों के गठन को स्वीकृति मिली थी, उस समय श्रीलंका तमिल लोगों पर बलपूर्वक सिंहली भाषा थोपने का प्रयास कर रहा था। अंतत: श्रीलंका, गृहयुद्ध का शिकार हो गया।

वहीं भारत सरकार ने भाषायी आधार पर प्रांतों का गठन कर व्यावहारिक बुद्धि का परिचय दिया। इसके परिणामस्वरूप केन्द्र एवं राज्य के बीच पारस्परिक विश्वास को बल मिला जैसाकि आशंका थी कि इससे मिट्टी के लाल (Son of the Soil) जैसी भावना को बल मिलेगा, वह निर्मूल सिद्ध हो गया। इसके परिणामस्वरूप बहुरंगी क्षेत्रीय संस्कृतियाँ राष्ट्रीय संस्कृति में घुल-मिल गईं।

प्रश्न: भारत की सांस्कृतिक विविधता के संदर्भ में क्या यह कहा जा सकता है कि राज्य की तुलना में क्षेत्र सांस्कृतिक इकाई को निर्मित करता है? (UPSC, 2017)

उपर्युक्त कथन भाषायी आधार पर प्रांतों के गठन की सीमा को दर्शाता है। एक राष्ट्र के रूप में भारत सांस्कृतिक विविधता को प्रदर्शित करता है। भले ही संविधान की आठवीं अनुसूची में 22 भाषाओं को राष्ट्र भाषा के रूप में स्वीकृति दे दी गई हो, परंतु व्यवहार में इनके अन्तर्गत अनेक उपभाषाएँ एवं बोलियां विद्यमान हैं। इसके अतिरिक्त लगभग सभी प्रांतों में मिश्रित जनसंख्या रही है, इसका कारण इतिहास एवं भूगोल है *(2019 के प्रथम पत्र में उपर्युक्त प्रश्न से निकटता रखने वाला एक दूसरा प्रश्न रखा गया है 'क्या हमारे राष्ट्र में सर्वत्र लघु भारत के सांस्कृतिक क्षेत्र हैं?)*।

संपूर्ण भारतीय इतिहास में आर्थिक एवं राजनीतिक अवसर की तलाश में एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में जनसंख्या की आवाजाही होती रही। इस कारण लगभग सभी क्षेत्रों में मिश्रित जनसंख्या देखने को मिलती है। तेलुगु समुदाय के लोग बंगाल में दिखते हैं, तो मराठी तमिलनाडु एवं केरल में तथा उड़ीसा का एक समुदाय गुजरात में। उसी प्रकार 40 लाख गुजराती मुम्बई एवं दक्षिणी राज्यों में निवास करते। एक अच्छे-खासे अनुपात में हिन्दी भाषी लोग महाराष्ट्र में बसे हुए हैं। मराठी समूह के लोगों के विभिन्न क्षेत्रों में उपस्थित होने के कारण गणेश उत्सव भारत के विभिन्न भागों में लोकप्रिय हो गया। उसी प्रकार बंगाली मूल के लोगों के कारण दुर्गा पूजा की लोकप्रियता काफी बढ़ गई है। बिहारी समुदाय की दिल्ली में उपस्थिति के कारण श्रावण के महीने में दिल्ली-हरिद्वार मार्ग पर काँवड़ियों की भीड़ देखने योग्य होती है। दिल्ली के चित्तरंजन पार्क में बंगाली समुदाय की उपस्थिति के कारण दशहरे के समय वह क्षेत्र मिनी-कलकत्ता की तरह दिखता है।

इस प्रकार, अगर सर्वत्र नहीं, तो कम से कम भारत के अधिकांश क्षेत्र में लघु भारत के दर्शन होते हैं। अगर एक तरह से देखा जाए, तो इसी सांस्कृतिक विविधता को देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि महज भाषायी आधार पर प्रांतों का गठन मात्र ही विविधता की स्वीकृति नहीं है। वस्तुत: लगभग प्रत्येक प्रांत में एक अच्छी खासी जनसंख्या अन्य भाषा-भाषी समूह के लोगों की भी है और वे भी अपनी भाषायी पहचान के प्रति संवेदनशील हैं। उदाहरण के लिए, बिहार में मैथिली भाषा, बिहार एवं उत्तर प्रदेश में भोजपुरी भाषी, बंगाल में नेपाली भाषी गोरखालैंड का क्षेत्र। अत: जिस प्रकार राज्य सरकारें अपनी सांस्कृतिक पहचान के प्रति केन्द्र से संवेदनशील व्यवहार की अपेक्षा रखती हैं, उसी प्रकार राज्य सरकारों को भी क्षेत्रीय संस्कृति के प्रति संवेदनशीलता दिखानी चाहिए।

प्रश्न: भारतीय मिथक, कला और वास्तुकला में सिंह एवं वृषभ की आकृतियों के महत्त्व पर विचार करें।

(यू.पी.एस.सी.-2022, 250 शब्द)

उत्तर: प्राचीन काल से वर्तमान भारत की कलाकृतियों में देवता, मानव व पशु के जीवन का एक सम्मिश्रण देखने को मिलता है, जो मिथक होते हुए भी तत्कालीन समाज का दर्पण प्रस्तुत करते हैं। इसी परिप्रेक्ष्य में भारतीय कला पर सिंह (शेर) व वृषभ (बैल) का महत्व निम्नलिखित है-

सिंह का महत्व

- प्राचीन काल में सिंह (शेर) का सम्बन्ध महावीर स्वामी के जीवन में देखने को मिलता है, जो अपने आप पर विजय के प्रतीक व साहस के रूप में दिखाई पड़ता है।
- आगे अशोक के काल में शेर राजा के साहस एवं विशाल साम्राज्य का प्रतीक माना जाने लगा जिसका उदाहरण हम सारनाथ स्तम्भ पर देखते हैं।
- इसी के साथ सिंह, दुर्गा के वाहन के रूप में शक्ति, सौम्यता एवं स्थिरता का प्रतीक माना जाने लगा, जो विभिन्न मूर्ति एवं चित्रकला में देखने को मिलता है।
- सिंह के इसी साहस, सौम्यता, विशालता एवं ताकत के प्रतीक के कारण इसे हमारे नव-निर्मित संसद भवन में स्थापित किया गया है।

वृषभ का महत्व

- वृषभ अथवा बैल को प्राचीन काल में 'प्रजनन' एवं 'उर्वरता' का प्रतीक माना जाता था।
- हड़प्पा से प्राप्त कई मुहरों में 'कूबड़ वाले सांड' का अंकन तत्कालीन कृषि की प्रगति आदि को दर्शाता है।
- अशोक कालीन रामपुरवा स्तम्भ से प्राप्त बैल आकृति को बुद्ध के यौवन का प्रतीक माना जाता है।
- भक्ति के क्षेत्र में वृषभ को नंदी के रूप में भगवान शिव के वाहक के रूप में प्रतिबिम्बित किया गया है।

निष्कर्षत: हम कह सकते हैं कि प्रत्येक काल खण्ड में इन मिथकों का अर्थ भिन्न-भिन्न होते हुये भी ये मिथक हमें उस कालखण्ड की बेहतर जानकारी प्रदान करते हैं।

प्रश्न: भारतीय कला विरासत का संरक्षण वर्तमान समय की आवश्यकता है। चर्चा कीजिए।

(यू.पी.एस.सी.-2018, 150 शब्द)

उत्तर: कला विरासतें, मानव विकास के आदिम सिलसिले का अटूट दस्तावेज हैं। हमारी विरासत को संरक्षित करना हमारे संविधान में एक मौलिक कर्त्तव्य के रूप में निहित है।

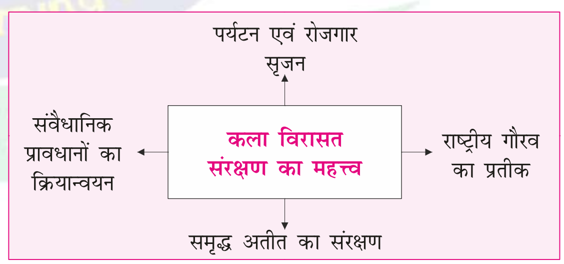

निम्नलिखित कारणों से भारतीय कला विरासत का संरक्षण आवश्यक है-

प्राचीन सांस्कृतिक धरोहरों को संरक्षित कर पर्यटन उद्योग को बढ़ावा दिया जा सकता है।

विरासत स्थल हमारी संस्कृति और आर्थिक कल्याण में योगदान करते हैं- विरासत स्थल हमें अपनी प्राचीन संस्कृति को समझने में मदद् करते हैं। विरासत पर्यटन बहुत बड़ा है और कई समुदायों की अर्थव्यवस्था को चलाने में मदद् करता है।

यह दुनिया के अन्य हिस्सों के लोगों को हमारी संस्कृति को समझने और सीखने में मदद् करता है। विरासत स्थलों को संरक्षित करने से स्थानीय अर्थव्यवस्था को बनाये रखने, रोजगार पैदा करने में मदद् मिलती है।

कला संस्कृति और राष्ट्रीय स्मारकों से राष्ट्र का गौरव जुड़ा होता है, जिसकी अनुभूति के लिए इनका संरक्षण आवश्यक है।

विरासतों के संरक्षण के लिए हमारे संविधान में अनुच्छेद-29, 49 एवं 51(A) जैसे प्रावधान हैं। वर्तमान संदर्भ में इनका संरक्षण न सिर्फ राष्ट्रीय एकीकरण में वृद्धि के लिए, बल्कि आर्थिक हितलाभ के संदर्भ में भी जरूरी है।

प्रश्नः भारत की प्राचीन सभ्यता, मिस्र, मेसोपोटामिया तथा ग्रीस की सभ्यताओं से, इस बात में भिन्न है कि भारतीय उपमहाद्वीप की परंपराएँ आज तक भंग हुए बिना परिरक्षित की गई हैं। टिप्पणी कीजिए।

(यू.पी.एस.सी.-2015, 200 शब्द)

प्रश्न का अर्थ अन्वेषणः- *इस प्रश्न का आधार ए. एल. बाशम की पुस्तक 'अद्‌भुत भारत' (The Wonder that was India) ने तैयार किया है। इस पुस्तक के परिचयात्मक खंड से यह प्रश्न लिया गया है। ए. एल. बाशम आधुनिक काल के एक महत्वपूर्ण भारतविद् (Indologist) रहे हैं। उन्होंने भारतीय संस्कृति पर बहुत ही संवेदनापूर्ण दृष्टि डाली है।*

उत्तरः प्राचीन भारत की सभ्यता उतनी ही प्राचीन है जितनी मिस्र, मेसोपोटामिया तथा यूनान की सभ्यता, परंतु अपने लचीले स्वरूप के कारण इसने आज तक अस्तित्व बनाए रखा है, जबकि मिस्र, मेसोपोटामिया तथा यूनान की सभ्यता परवर्ती काल की सभ्यता के द्वारा विस्थापित कर दी गई।

आगे मिस्र तथा मेसोपोटामिया पर इस्लामी शक्ति का कब्जा हो गया तथा उन क्षेत्रों में इस्लामी संस्कृति का तीव्र प्रसार हुआ तथा उन क्षेत्रों का लगभग इस्लामीकरण हो गया। उसी प्रकार यूनान की पेगन संस्कृति आगे ईसाई संस्कृति के द्वारा विस्थापित कर दी गई। उपर्युक्त कारणों से उन क्षेत्रों में इतना अधिक बदलाव आ गया था कि पुरातत्ववेत्ताओं की खोज से पूर्व मिस्र अथवा ईराक के किसानों को अपने पूर्वजों की संस्कृति का ज्ञान नहीं था। उसी प्रकार पुरातत्ववेत्ताओं की सहायता के बिना यूनानियों को भी पेरिक्लियन एथेंस के वैभव का ज्ञान नहीं था।

ठीक उसके विपरीत निरंतर बाह्य आक्रमण का सामना करने तथा नवीन तत्वों के आगमन के बाद भी भारतीय संस्कृति कभी विस्थापित नहीं हुई। हड़प्पा सभ्यता के पतन के पश्चात् भी प्रजनन शक्ति की पूजा से लेकर पाशुपत शिव की उपासना तक हड़प्पाई धर्म की सभी प्रवृत्तियाँ हिंदू धर्म में घुल मिल गईं। उसी प्रकार, वर्तमान भारत में भी ब्राह्मण उन मंत्रों को दोहराते हैं जो वैदिक काल में रचे गए। वस्तुतः भारत में आने वाले यूरोपीय यात्रियों ने एक ऐसी संस्कृति पायी जिसे अपनी प्राचीनता का पूर्ण ज्ञान था। भारतीय, अपनी संस्कृति का गौरवगान करते थे तथा यह दावा करते थे कि हजारों वर्षों से इसमें कोई सैद्धांतिक परिवर्तन नहीं हुआ है। आज भी पौराणिक गाथाएं सामान्य से सामान्य भारतीयों को ज्ञात हैं। वे इन पौराणिक गाथाओं के माध्यम से उन विस्मृत नायकों का याद दिलाते हैं जो लगभग ईसा के एक सहस्त्राब्दी पूर्व रहे थे।

इस प्रकार अन्य समकालीन संस्कृतियों की तुलना में प्राचीन भारतीय संस्कृति में निरंतरता बनी रही।

प्रश्नः भारत में विविधता के किन्हीं चार सांस्कृतिक तत्वों का वर्णन कीजिए और एक राष्ट्रीय पहचान के निर्माण में उनके आपेक्षिक महत्व का मूल्य निर्धारण कीजिए।(यू.पी.एस.सी.-2015, 200 शब्द)

प्रश्न का अर्थ-अन्वेषणः- *इस प्रश्न का दायरा बहुत विस्तृत है। यह अपने स्वरूप में बहुआयामिक है तथा प्राचीनकाल से लेकर वर्तमान भारत तक एकता के सूत्र को खोजने का प्रयास करता है। इस प्रश्न में भारतीय राष्ट्रवाद के विशिष्ट स्वरूप की ओर भी संकेत है, जिसे 'विविधता में एकता' का नाम दिया जाता है।*

उत्तरः संस्कृति राष्ट्र-निर्माण में न केवल प्रमुख अवयव का कार्य करती है, अपितु राष्ट्र के चरित्र को भी निर्धारित करती है। अतः भारत के बहु-सांस्कृतिक रूप ने भारतीय राष्ट्र को एक पृथक चरित्र प्रदान किया है।

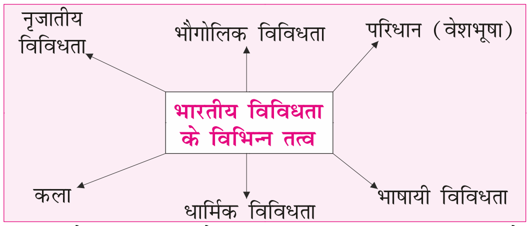

भारत में विविधता के चार प्रमुख सांस्कृतिक तत्व के रूप में हम धर्म तथा दर्शन, भाषा-साहित्य एवं कला को ले सकते हैं। धार्मिक विविधता भारतीय संस्कृति का महत्वपूर्ण अभिलक्षण रही है। जिसे हम 'हिंदू धर्म' के नाम से जानते हैं, वह किसी विशेष काल खंड में विकसित नहीं हुआ और न ही इसमें एक खास तत्व का योगदान है। आर्य तथा गैर-आर्य धार्मिक पंथों के मिश्रण से हिंदू धर्म का विकास हुआ। भक्ति, अवतारवाद तथा मूर्तिपूजा सभी गैर-आर्य पंथ की देन हैं। यहाँ धार्मिक विविधता का एक महत्वपूर्ण प्रमाण यह है कि भारत के अधिकांश भाग में देवी दुर्गा की पूजा होती है, तो कुछ क्षेत्रों में महिषासुर की पूजा भी होती है। कम्बन की तमिल रामायण का झुकाव रावण की ओर है। आगे मध्यकाल में भी एकीकरण एवं समन्वय की प्रक्रिया चलती रही। इसका ज्वलंत प्रमाण है भक्ति तथा सूफी आंदोलन। मध्यकाल में हिंदू एवं मुस्लिम दोनों ने साथ-साथ रहते हुए समन्वित संस्कृति का निर्माण किया। भक्ति एवं सूफी आंदोलन उसी समन्वित संस्कृति की अभिव्यक्ति है।

इसी प्रकार की विविधता दर्शन के क्षेत्र में भी मौजूद रही है। प्राचीन भारत में स्वतंत्र वाद-विवाद की लम्बी परंपरा रही है। अमर्त्य सेन ने अपनी पुस्तक 'Argumentative Indian' में इस मुद्दे को उठाया है। विविधता का एक प्रमाण यह है कि हमारे कुछ प्राचीन चिंतक आत्मा को मानते हैं, तो कुछ अनात्मवादी हैं। उसी प्रकार कुछ चिंतक कर्म एवं पुनर्जन्म की अवधारणा को मानते हैं, तो कुछ उन्हें अस्वीकार करते रहे हैं।

फिर भाषा-साहित्य के क्षेत्र में विविधता, तो विदेशियों को भी अचम्भित करती रही है। भारत में अनेक भाषाएँ प्रचलित रही हैं; यथा- हिंदी, बांग्ला, उड़िया, मैथिली, मराठी, गुजराती, तेलुगु, तमिल, कन्नड़ आदि। इसके अतिरिक्त कला के क्षेत्र में कम विविधता देखने को नहीं मिलती। प्राचीन काल में स्थापत्य कला की दो प्रमुख शैलीयाँ नागर एवं द्रविड़ विकसित हुई थीं, फिर इन दोनों को मिलाकर वेसर शैलीयों का विकास हुआ। समन्वय की प्रक्रिया मध्यकाल में भी चलती रही। मुस्लिम शासन के अंतर्गत मेहराबी तथा शहतीरी शैली के बीच सामंजस्य देखने को मिलता है। उसी प्रकार मूर्तिकला, चित्रकला आदि क्षेत्र में भी अभिजात्य तथा लोकतत्व के बीच सामंजस्य दिखता है।

सबसे दिलचस्प तथ्य यह है कि स्वतंत्रता के पश्चात् हमने इस विविधता को अपनी कमजोरी बनाने के बदले उसे अपनी शक्ति बना लिया। हमारे संविधान निर्माताओं ने भी इस विविधता का सम्मान किया तथा संविधान की आठवीं अनुसूची में 14 भाषाओं को जगह दी। इसने पश्चिमी राष्ट्र के विपरीत, जिसने 'एक भाषा, एक राष्ट्र' का नारा दिया था, भारत 14 राष्ट्रभाषा पर आधारित (वर्तमान में 22 भाषाएं) राष्ट्र बना। इस प्रकार भारत ने वैकल्पिक राष्ट्रवाद का मॉडल प्रस्तुत किया तथा इसे विविधता में एकता का नाम दिया गया।

■■■

■ आधुनिक स्थापत्य

ब्रिटिश शासन के अंतर्गत भारत में आधुनिक स्थापत्य का विकास देखा गया। वस्तुत: ब्रिटिश के समक्ष एक बड़ी चुनौती के रूप में मुगल स्थापत्य मौजूद था और उन्होंने मुगल स्थापत्य की नकल करने की कोशिश की। किंतु मुगल स्थापत्य की तुलना में ब्रिटिश स्थापत्य काफी घटिया सिद्ध हुए। वस्तुत: 19वीं सदी में विक्टोरियन शैली में कुछ स्थापत्यों का निर्माण किया गया। ये स्थापत्य ईंट, इस्पात तथा सीमेंट के माध्यम से निर्मित किए गए थे तथा फिर मुगल स्थापत्य की तर्ज पर इस पर ईंटों का गुम्बद निर्मित किया गया, किंतु ये गुम्बद अप्रभावी दिखते हैं।

जब 1911 में दिल्ली नई राजधानी बनी, तो फिर प्रमुख स्थापत्यविद् लुटियन्स तथा उनके सहयोगी बेकर ने दिल्ली में नये स्थापत्यों के निर्माण का खाका तैयार किया। आरम्भ में उन्होंने नव रोमन शैली में स्थापत्य निर्मित करने का प्रयास किया। फिर उन्होंने अपना यह विचार त्याग दिया तथा बदले में स्थापत्य निर्माण में हिन्दू, बौद्ध तथा इस्लामी शैली को अपनाने का प्रयास किया। इन्हीं स्थापत्यकारों के द्वारा केंद्रीय सचिवालय, वायसरॉय के महल तथा कुछ अन्य भवनों का निर्माण किया गया। किंतु ये स्थापत्य भी मुगल स्थापत्य की तुलना में हीन सिद्ध हुए क्योंकि न तो ये आधुनिकता को अपना सके और न ही मध्ययुगीन शैली को पुन: जीवित कर सके। वस्तुत: आधुनिक स्थापत्य का एक प्रमुख अभिलक्षण होता है- इसका खुलापन एवं इसकी उपयोगिता। किंतु ये स्थापत्य चारों तरफ से बंद-बंद दिखते हैं, फिर इनके ऊपर बौद्ध अथवा इस्लामी गुम्बद का निर्माण किया गया, किंतु वह अपना प्रभाव नहीं छोड़ता।

■ ल्यूरीबेकर को गरीबों का स्थापत्यविद् क्यों माना जाता है?

ल्यूरीबेकर 20वीं सदी का वह स्थापत्यकार था, जिसने अपने स्थापत्य में सौंदर्य की जगह उपयोगिता पर विशेष बल दिया। उसने कुलीन वर्ग के मनोविलास के लिए नहीं, अपितु निर्धन वर्ग के निवास के लिए भवनों का निर्माण किया था। उसने केरल क्षेत्र में भवन निर्माण में एक प्रकार की क्रांति ला दी।

उसने भवन निर्माण में फिल्टर स्लैब विधि का प्रयोग किया। वस्तुत: भवनों का निर्माण क्षेत्रीय सामग्रियों से किया जाना था क्योंकि उन सामग्रियों को कहीं दूर से लाना नहीं पड़ता, अपितु सस्ती दर पर संबंधित क्षेत्र में ही उपलब्ध होतीं। फिर बेकर ने इस बात का भी ध्यान रखा कि मकानों का निर्माण संबंधित क्षेत्र के भू-दृश्य तथा वातावरण के अनुकूल हो। इन्हीं कारणों से आज भी ल्यूरीबेकर को 'गरीबों के स्थापत्यकार' के रूप में याद किया जाता है।

आधुनिक चित्रकला

भारत में ब्रिटिश शासन की स्थापना के पश्चात् कुछ ऐसे भी भारतीय थे जो यूरोपीय चित्रकला से भी परिचित हुए। एक भारतीय चित्रकार थे त्रावणकोर के **रवि वर्मा**। उन्होंने भारतीय चित्रकला को यूरोपीय चित्रकला से जोड़ने का प्रयास किया। उस काल में फ्रांस की राजधानी पेरिस यूरोपीय चित्रकारों का मक्का हुआ करती थी तथा यूरोपीय चित्रकला पर पेरिस का प्रभाव देखा जाता था। रवि वर्मा की चित्रकारी पर भी नव क्लासिकल फ्रांसीसी चित्रकला का प्रभाव था।

राजा रवि वर्मा के चित्र

फिर राष्ट्रीय आंदोलन के मध्य ब्रिटिश के विरुद्ध प्रतिक्रिया के क्रम में भारतीय कला की ओर आकर्षण बढ़ा। अत: स्वदेशी आंदोलन के मध्य **अवनींद्र नाथ टैगोर** ने मुगल चित्रकला को पुनर्जीवित करने का प्रयास किया। वह चित्रकला के बंगाल स्कूल के संस्थापक थे। फिर इस स्कूल से जुड़ने वाले महत्वपूर्ण चित्रकार थे- **नागेंद्र नाथ टैगोर, रवीन्द्र नाथ टैगोर, नंदलाल बोस, यामिनी राय** आदि। यामिनी राय का दृष्टिकोण थोड़ा अलग था। जहाँ अन्य चित्रकारों ने जीवन पर विशेष बल दिया था, वहीं यामिनी राय ने जन-सामान्य के जीवन के चित्रण में विशेष रुचि ली।

अबनीन्द्र नाथ ठैगोर के चित्र

अमृता शेरगिल के चित्र

आधुनिक चित्रकारों में ही एक महत्वपूर्ण नाम आता है **अमृता शेरगिल** का। इनकी माता हंगरी की थी तथा पिता सिख थे। इन्होंने बंगाली स्कूल से अलग हटकर अपना मार्ग बनाया। इनके चित्रों में हंगरी की परी कथा का भी प्रभाव है।

■ आधुनिक भारत की कुछ स्थानीय शैलियाँ

- **नाथद्वारा शैली:** 1671 में ब्रज से श्रीनाथ जी की मूर्ति को नाथद्वारा लाये जाने के पश्चात् ब्रजवासी चित्रकारों द्वारा मेवाड़ में ही चित्रकला की स्वतंत्र नाथद्वारा शैली का विकास किया गया।
- **सिख शैली:** इस शैली का विकास लाहौर स्टेट के राजा महाराजा रंजीत सिंह के शासन काल में हुआ। इस शैली के विषयों का चयन पौराणिक महाकाव्यों से किया गया है। जबकि इसका स्वरूप पूर्णत: भारतीय है। इस शैली में भगवान श्रीकृष्ण की लीलाओं से संबंधित रागमाला के चित्रों की प्रधानता है। कालान्तर में इस शैली पर मुगल शैली के हावी हो जाने से इसका प्रभाव क्षीण होता गया।
- **पटना या कम्पनी शैली:** जनसामान्य के आम पहलुओं के चित्रण के लिए प्रसिद्ध पटना या कम्पनी चित्रकला शैली का विकास मुगल साम्राज्य के पतन के बाद हुआ। इन चित्रकारों ने पटना एवं उसके समीपवर्ती क्षेत्र को अपना कार्य क्षेत्र बनाया। इन चित्रकारों द्वारा बनाए गए चित्र ब्रिटेन भी भेजे गए। पटना कलम के चित्र लघुचित्रों की श्रेणी में आते हैं जिन्हें अधिकतर कागज और कहीं-कहीं हाथी दाँत पर बनाया गया है। सामान्यत: इन चित्रों में दैनिक जीवन के दृश्यों और जन-साधारण के जीवन का चित्रण हुआ है; यथा- लकड़ी काटता हुआ बढ़ई, मछली बेचती हुई औरत, लोहार, सुनार, एक्कावाला, पालकी उठाए हुए कहार, खेत जोतता हुआ किसान, साधु संन्यासी आदि के चित्र। इनके अलावा, इस शैली के चित्रों में पशु-पक्षियों को भी दिखाया गया है।
- **कालीघाट के पट्टचित्र:** कलकत्ता के मशहूर काली मंदिर के पास कागज, टाट या कपड़े पर बने चित्र, जो स्थानीय बाजार की माँग पर आधारित थे, उन्हें कालीघाट के चित्र कहा गया। इनमें धार्मिक कथाओं, देवी-देवताओं या सामाजिक विषयों को ध्यान में रखकर चित्र बनाए गए। इस शैली से प्रेरणा पाकर मिदनापुर, हुगली, चंद्रनगर, बर्दमान और मुर्शिदाबाद में चित्र बनाए गए।

- **कलमकारी चित्रकला:** दक्षिण भारत के आंध्र प्रदेश में प्रचलित हस्त निर्मित यह चित्रकला सूती कपड़े पर रंगीन ब्लॉक से छापकर बनाई जाती है। इसमें सब्जियों के रंगों से धार्मिक चित्र बनाए जाते हैं।
- 15वीं शताब्दी में विजयनगर के शासकों के संरक्षण में इस कला का विकास हुआ।
- इनको बनाने वालों में अधिकतर महिलाएँ हैं। यह कला मुख्यतया भारत और ईरान में प्रचलित है।
- भारत में कलमकारी के मुख्यत: दो रूप विकसित हुए हैं- प्रथम, मसूलीपट्टनम कलमकारी एवं द्वितीय श्रीकलाहस्ति कलमकारी (आंध्र प्रदेश)।
- इसमें सर्वप्रथम वस्त्र को रातभर गाय के गोबर के घोल में डुबोकर रखा जाता है। अगले दिन इसे धूप में सुखाकर दूध और माँड़ के घोल में डुबोया जाता है। बाद में अच्छी तरह से सुखाकर इसे नरम करने के लिये लकड़ी के दस्ते से कूटा जाता है। इस पर चित्रकारी करने के लिये विभिन्न प्रकार के प्राकृतिक पौधों, पत्तियों, पेड़ों की छाल, तनों आदि का प्रयोग किया जाता है।

- **वर्ली चित्रकला:** यह भित्ति चित्रकला महाराष्ट्र-गुजरात सीमांत क्षेत्रों के आदिवासियों में लोकप्रिय है। यह चित्रकला भीमबेटका की शैली जैसी है। इसमें सूर्य-चंद्रमा, पहाड़ों, नुकीले पेड़ों, वृत्त, त्रिकोण और सबसे महत्त्वपूर्ण प्राकृतिक दृश्यों का अंकन किया जाता है। चित्रों में आम जनजीवन की झाँकी; जैसे- शिकार करना, मछली पकड़ना, खेती, त्यौहार एवं नृत्य को भी दर्शाया जाता है। इनमें गेरू रंग की पृष्ठभूमि में चावल से बने सफेद रंग की सहायता से चित्र बनाए जाते हैं। इस चित्रकला से जुड़े प्रसिद्ध चित्रकार जिव्या सोमा माशे और उनके पुत्र बालू माशे हैं।

ये साधारण तथा स्थानीय वस्तुओं का प्रयोग करके बनाए जाते हैं, जैसे- चावल की लेही, स्थानीय सब्जियों के गोंद और इनका उपयोग एक अलग रंग की पृष्ठभूमि पर वर्गाकार, त्रिभुजाकार, वृत्ताकार इत्यादि रेखागणितीय आकृतियों के माध्यम से किया जाता है।

- **कोहबर-सोहराई कला शैली:** यह झारखंड के जनजातीय इलाके की कला शैली है। इसे वंश वृद्धि और फसल वृद्धि के रूप में चित्रित किया जाता है। इसे घर की पूरी दीवारों पर उकेरा जाता है। इसके विषयों में राजा-रानी और प्रकृति का चित्रण होता है। एक ही चित्र में मछली, हाथी, तोता, सूर्य, चंद्रमा आदि को उकेरा जाता है।
- **फाड़ चित्र-** फाड़ चित्र एक प्रकार के लंबे मफलर के समान वस्त्रों पर बनाए जाते हैं। इस प्रकार के चित्र राजस्थान में बहुत अधिक प्रचलित हैं और प्राय: भीलवाड़ा जिले में प्राप्त होते हैं। फाड़ चित्र किसी नायक के वीरतापूर्ण कार्यों की कथा या किसी चित्रकार या किसान के जीवन, पशु-पक्षी व फूल-पौधों के वर्णन प्रस्तुत करते हैं। ये चित्र चटख व सूक्ष्म रंगों से बनाए जाते हैं। चित्रों की रूपरेखा पहले काले रंग से बनाई जाती है, फिर बाद में उसमें रंग भर दिये जाते हैं।

KHAN SIR Most Trusted Learning Platform

ब्रिटिश शासन के अंतर्गत शिक्षा

व्यक्ति एवं समुदाय दोनों की प्रगति के लिए शिक्षा एक अनिवार्य तत्व है। भारत की सभ्यता विश्व की प्राचीनतम् सभ्यताओं में से एक रही है तथा यहाँ शिक्षा का अति प्राचीन एवं समृद्ध इतिहास रहा है।

प्राचीन काल में ब्राह्मण शिक्षा के साथ-साथ बौद्ध एवं जैन शिक्षा की भी परंपरा रही थी। बौद्धों के अधीन कई विश्वविद्यालय सक्रिय रहे थे। पाँचवीं सदी में नालंदा विश्वविद्यालय स्थापित हुआ तथा देखते-देखते वह शिक्षा का महान केंद्र बन गया, जबकि यूरोप में 12वीं सदी में ही जाकर बोलोनिया (Bologna) में प्रथम विश्वविद्यालय स्थापित हो सका था। भारत में मध्यकाल में भी शासकों तथा क्षेत्रीय जमींदारों के द्वारा शिक्षा को संरक्षण दिया जा रहा था। पूर्व-ब्रिटिश शासन काल में हिंदी एवं इस्लामी दोनों प्रकार की शिक्षा प्रचलित थी। उच्च शिक्षा में धर्म, दर्शन, गणित आदि की शिक्षा दी जाती थी, वहीं निम्न स्तर की शिक्षा में व्यावहारिक विषयों की, जिनमें शिल्प एवं तकनीकी शामिल होते, जानकारी दी जाती थी। सबसे बढ़कर, यह शिक्षा व्यवस्था लचीली एवं स्थानीय जरूरतों के अनुकूल होती।

आगे भारत में आधुनिकता का प्रवर्तन ब्रिटिश शासन की स्थापना के साथ हुआ। दूसरे शब्दों में, औपनिवेशीकरण एवं आधुनिकीकरण दोनों जुड़वाँ संतान के रूप में प्रकट हुए। जैसा कि हम जानते हैं कि उपनिवेशवाद का बल देशी अर्थव्यवस्था का दोहन करने तथा उसे मातृदेश के लाभ के अनुकूल बनाने पर होता है। अत: उसकी नीतियाँ भी इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर आकार ग्रहण करती हैं।

इस प्रकार ब्रिटिश शासन के अंतर्गत भारत के संदर्भ में जो शिक्षा नीति अपनाई गई, वह औपनिवेशिक हित से परिचालित रही थी। कंपनी शासन की स्थापना के शीघ्र बाद भारत में सक्रिय ब्रिटिश प्रशासकों ने, जिन्हें प्राच्यवादी के रूप में जाना जाता, कुछ शिक्षण संस्थानों की स्थापना की दिशा में पहल की; यथा- 1781 में वॉरेन हेस्टिंग्स की पहल पर कलकत्ता मदरसा तथा 1791 में जोनाथन डंकन की पहल पर बनारस में एक संस्कृत कॉलेज की स्थापना। इन संस्थानों का बल भारतीय ज्ञान (Indian Knowledge System) के प्रसार पर रहा था। ऐसा सोचा गया कि भारतीय परंपरा एवं अतीत के ज्ञान में पारंगत ब्रिटिश अधिकारी संभवत: ज्यादा बेहतर रूप में ब्रिटिश हित में काम कर सकते थे।

परंतु इस सोच में एक नाटकीय परिवर्तन तब आया, जब ब्रिटेन में औद्योगिक पूँजीवाद के उद्भव के साथ बुद्धिजीवियों के एक नए वर्ग का उद्भव हुआ। इसे उदारवादी तथा उपयोगितावादी समूह के रूप में जाना गया। इस नये समूह के विचारों ने 19वीं सदी में भारत की शिक्षा नीति पर गहरा प्रभाव छोड़ा। बंगाल लोक शिक्षा समिति (Bengal Public Education Committee) में ऐसे सदस्यों का जोर बढ़ने लगा, जिन्हें पाश्चात्यवादी (Anglicist) के रूप में जाना जाता था। इसके कारण भारत की भावी शिक्षा नीति के मुद्दे पर प्राच्य-पाश्चात्य (Orientalist-Anglicist) विवाद आरंभ हुआ। विवाद का मुख्य मुद्दा यह था कि शिक्षा का माध्यम क्या हो- भारतीय भाषा अथवा अंग्रेजी भाषा? बंगाल लोक शिक्षा समिति के अध्यक्ष के रूप में लॉर्ड मैकाले की नियुक्ति ने पाश्चात्यवादियों के पक्ष को काफी मजबूत कर दिया। इसका परिणाम था मैकाले शिक्षा पद्धति की घोषणा, जो फरवरी, 1835 में लायी गयी तथा जिसने भावी शिक्षा नीति पर संपूर्ण बहस को विराम दे दिया।

मैकाले शिक्षा पद्धति का बल निम्नलिखित बातों पर रहा था-

- भारतीयों को अंग्रेजी भाषा में आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा दिया जाना।
- चूँकि इस प्रकार की शिक्षा भारतीयों के एक बड़े समूह को प्रदान करने का अर्थ था बड़ी मात्रा में संसाधन का व्यय, जबकि एक औपनिवेशिक सरकार सामाजिक क्षेत्र में इतना धन व्यय करने के पक्ष में नहीं थी। अत: एक वैकल्पिक तरीका अपनाया गया जिसे विप्रवेशन के सिद्धांत (Downward Infiltration Theory) का नाम दिया जाता है। इसके तहत पहले मुट्ठी भर भारतीयों को अंग्रेजी भाषा में पश्चिमी ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा दी जानी थी, फिर वे भारतीय देशी भाषाओं में यह शिक्षा जन-सामान्य तक पहुँचाते।

वस्तुत: यह संपूर्ण योजना ब्रिटिश औपनिवेशिक हित में लाई गई थी, इसलिए यह भारत के पक्ष में लाभकारी कम, हानिकारक अधिक सिद्ध हुई। यह बात लगभग स्थापित हो चुकी है कि मैकाले शिक्षा पद्धति का वास्तविक उद्देश्य ब्रिटिश बाजार एवं ईसाई धर्म को प्रोत्साहन देने के साथ-साथ सस्ती दर पर निम्न अधिकारियों के पद पर भारतीयों की नियुक्ति को सुनिश्चित करना था, किंतु दूसरी तरफ ब्रिटिश उदारवादी चिंतक भारत के आधुनिकीकरण जैसे उद्देश्य का प्रचार करते रहे।

आगे जब लॉर्ड हार्डिंग ने सरकारी सेवा में अंग्रेजी शिक्षा को अनिवार्य बना दिया, तो भारतीय भाषा एवं शिक्षा पद्धति सदा के लिए पिछड़ गई। अंग्रेजी शिक्षा पद्धति को लागू करने के पश्चात् जिस आधुनिकता का दावा किया गया था, वह तो महज छद्म आधुनिकता (Pseudo-modernisation) सिद्ध हुई। शीघ्र ही इसके निम्नलिखित दोष प्रकट हुए-

- जनसामान्य तक शिक्षा नहीं पहुँच पाई। इस प्रकार का दावा कि मुट्ठी भर बुद्धिजीवी जनसामान्य तक शिक्षा पहुँचा देंगे, सर्वथा गलत सिद्ध हुआ। आगे टॉमेशनियन शिक्षा पद्धति (1853)

तथा वुड्स डिस्पैच (1854) में वर्नाक्यूलर भाषा (देशी भाषा) में शिक्षा की बात भी उठाई गई थी, परन्तु इसका सफल रूप में क्रियान्वयन नहीं हुआ। इसका परिणाम था भारत में लोक शिक्षा पद्धति का ध्वस्त होना। इससे भारत आज तक उबर नहीं सका है। 1830 के दशक में एडम रिपोर्ट से भी इस बात की पुष्टि होती है कि केवल बंगाल एवं बिहार में लगभग एक लाख छोटी-छोटी पाठशालाएं चलाए जा रही थीं, किंतु आगे ब्रिटिश नीति के कारण ये ध्वस्त हो गए।

- उसी प्रकार, जो शिक्षा भारतीयों को प्रदान की जाती रही थी, वह कहाँ तक भारतीयों की जरूरत के अनुकूल थी, वह भी अपने आप में विवाद का विषय है। अंग्रेजी शिक्षा ने न तो हमारे यहाँ विज्ञान को प्रोत्साहन दिया और न ही मौलिक सोच को। सबसे बढ़कर इसके कारण हमारे यहाँ देशी भाषाओं के विकास को गहरा धक्का लगा। वर्तमान में हम 'इंडिया' एवं 'भारत' के बीच का जो विभाजन पाते हैं, वह अंग्रेजी शिक्षा की ही देन है।

राष्ट्रवादी प्रतिक्रिया-

ब्रिटिश शिक्षा के प्रति पृथक-पृथक काल में तथा अलग-अलग भारतीय राष्ट्रवादी-बुद्धिजीवियों के द्वारा अलग-अलग प्रतिक्रिया दिखायी गयी। राजा राममोहन राय अंग्रेजी शिक्षा के समर्थक रहे थे तथा उसी के माध्यम से वे भारत के उत्थान का रास्ता ढूंढ़ रहे थे, किंतु वह बहुत आरंभ की बात थी। उनके काल तक अंग्रेजी शिक्षा का दोष प्रकट नहीं हुआ था। वहीं गाँधी जी की सोच अलग थी, उनका मानना था कि अंग्रेजी शिक्षा ने भारतीयों को दास बना लिया है। इसने लोगों में हीनता बोध पैदा किया है तथा देशी भाषाओं के विकास को अवरुद्ध किया है। अंग्रेजी शिक्षा में अनुभव की जगह सैद्धांतिक ज्ञान पर बल दिया गया है, बदले में उन्होंने ज्ञान एवं शारीरिक श्रम के बीच संतुलन पर आधारित शिक्षा का एक मॉडल प्रस्तुत किया। यह मॉडल आगे वर्धा शिक्षा योजना के रूप में सामने आया। वहीं दूसरी तरफ रवीन्द्रनाथ टैगोर पश्चिमी मॉडल एवं भारतीय मॉडल के बीच एक उचित संतुलन स्थापित कर शिक्षा का एक वैकल्पिक मॉडल लाना चाहते थे। इसका ज्वलंत उदाहरण उनका 'शांति निकेतन' था।

कुछ भारतीय राष्ट्रवादी ऐसे भी थे जो वर्तमान शिक्षा पद्धति में सुधार चाहते थे। उदाहरण के लिए, बड़ौदा जैसी प्रगतिशील देशी रियासत के द्वारा अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा लागू किए जाने के बाद गोपाल कृष्ण गोखले जैसे राष्ट्रवादी नेता विधानमंडल में ब्रिटिश सरकार पर इस बात के लिए दबाव बनाते रहे कि अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा पद्धति ब्रिटिश भारत में भी लागू होनी चाहिए। यद्यपि ब्रिटिश सरकार द्वारा 1913 में शिक्षा नीति पर लाए गए सरकारी प्रस्ताव में निरक्षरता समाप्त करने की नीति को स्वीकार किया गया, परंतु फिर भी अनिवार्य शिक्षा सिद्धांत को स्वीकार नहीं किया गया। अंत में, आगे 1944 की सार्जेन्ट योजना में पहली बार 6 से 11 वर्ष के बच्चों के लिए व्यापक, निःशुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा दिये जाने की योजना लायी गयी।

उपर्युक्त तथ्य यह दर्शाते हैं कि शिक्षा के मोर्चे पर ब्रिटिश सरकार की पहल भारतीय हित में नहीं थी। यही वजह है कि आजादी के समय भारत की साक्षरता दर मात्र 16% थी तथा महिलाओं में यह महज 8% रही थी। दुर्भाग्यवश, स्वतंत्र भारत की सरकार ने बम्बई प्लान (1944) के निर्देशन के बावजूद प्राथमिक शिक्षा को अधिक महत्व न देकर उच्च शिक्षण संस्थानों की स्थापना पर विशेष बल दिया था, इसलिए आज भी हम शत-प्रतिशत साक्षरता के स्तर पर नहीं पहुँच सके हैं।

Most Trusted Learning Platform
KHAN SIR